प्रातः स्मरणीय महापुरुष

भाग-1

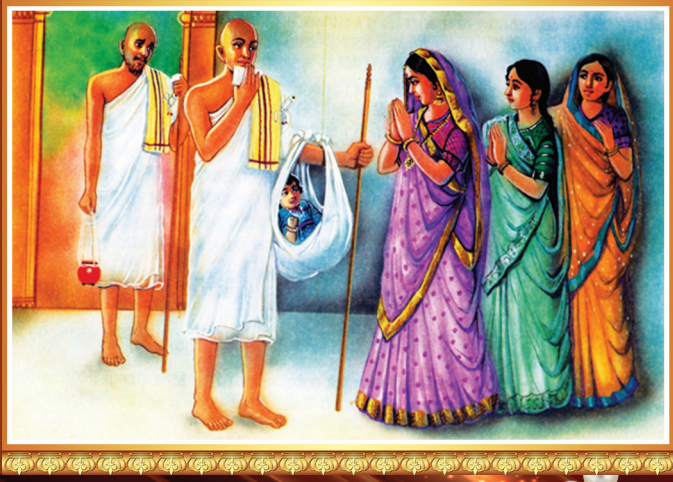

-: लेखक :-

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

प्रातः स्मरणीय-महापुरुष

भाग-1

(भरहेसर-सज्झाय)

◆ लेखक ◆

व्याख्यान वाचस्पति, महाराष्ट्र देशोद्धारक पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न,
बीसवीं सदी के महान् योगी, नवकार-विशेषज्ञ, प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद
पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के चरम शिष्यरत्न
मरुधररत्न, गोड़वाड़ के गौरव, प्रवचन-प्रभावक,
हिन्दी साहित्य दिवाकर परम पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

149

✣ प्रकाशन ✣

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Cell 8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति: दूसरी • **मूल्य:** 300/- रु. • **प्रतियां:** 750 • **तारीख :** दि.28-6-2023
विमोचन स्थल : मुनिसुव्रत स्वामी जैन मंदिर श्वे.मू.जैन संघ, निगडी, (पूना)-411 044. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.*** द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार, मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

लेखक की कलम से...

श्वे.मू.जैन संघ की वर्तमान परंपरा में प्रातःकाल की मंगलवेला में **साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका** जब **'राइ प्रतिक्रमण'** करते हैं, तब सज्झाय के रूप में अनिवार्य रुप से **'भरहेसर'** की ही सज्झाय पढ़ते हैं, जब कि शाम के **'देवसी प्रतिक्रमण'** में प्रतिदिन के लिए कोई सज्झाय Fix नहीं है। शाम के प्रतिक्रमण में कभी **जंबुकुमार** की सज्झाय बोल सकते हैं तो कभी मेतार्य मुनि की भी। अथवा वैराग्य या उपदेश की भी सज्झाय बोल सकते हैं।

प्रातःकाल में **'भरहेसर'** की ही सज्झाय बोलते हैं, उसके पीछे कुछ रहस्य रहा हुआ है। लोक में कहावत है। **'First Impresion is the last impresion'** पहले परिचय में जो प्रभाव पड़ता है, वह जीवन के अंत समय तक बना रहता है।

प्रातःकाल में जीवन के नए दिन का प्रारंभ हो रहा है तो सर्वप्रथम उन महापुरुषों का, महासतियों का नामस्मरण किया जाय तो उनके जीवन की छाया अपने जीवन पर पड़ सकती है। अतः प्रातः प्रतिक्रमण में सज्झाय के माध्यम से उन महापुरुषों-महासतियों का स्मरण करते हैं।

प्रभु महावीर की वाणी चार अनुयोगों में विभक्त है द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग। इन चारों में आत्मकल्याण के लिए चरण-करणानुयोग की मुख्यता है, परंतु उस चरणकरणानुयोग की पुष्टि के लिए **'धर्मकथानुयोग'** की खूब आवश्यकता है। धर्मकथानुयोग तो Sugar coated Medicine जैसा है।

जिसमें रोग का इलाज भी हो जाता है और कड़वेपन का अनुभव भी नहीं होता है ।

श्रोताओं को दिया गया Direct उपदेश जल्दी असर नहीं करता है, परंतु कथानक के माध्यम से दिया गया उपदेश शीघ्र असर कर जाता है ।

भरहेसर की सज्झाय में महासत्त्वशाली महापुरुष और शीलवती महासतियों का नामनिर्देश किया गया है-उन महापुरुषों और महासतियों के जीवनचरित्र पढ़ने से हमें बहुत कुछ प्रेरणाएँ मिल जाती हैं ।

इन चरित्रों से हमें सहनशीलता की प्रेरणा मिलती है, कष्टों को हँसते मुँह सहन करने की प्रेरणा मिलती है, रोग आदि परिषहों को समतापूर्वक सहन करने की प्रेरणा मिलती है-भौतिक सुखों में अनासक्त भाव रखने की प्रेरणा मिलती है ।

प्रत्येक चरित्र में हमें कुछ नई-नई प्रेरणाएँ मिलती है, जिनके स्वाध्याय से हमारे जीवन में रहे दोषों का ह्रास होता है तो नवीन गुणों का विकास भी होता है ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा भी श्रोताओं को उपदेश देने के लिए चरित्र-ग्रंथों का अवलंबन लेते हैं । ये चरित्रग्रंथ हमारी सुषुप्त चेतना को जागृत किए बिना नहीं रहते हैं ।

पूर्वाचार्य द्वारा विरचित 13 गाथाओं की इस सज्झाय में महापुरुष और महासतियों का सिर्फ नाम निर्देश किया है, परंतु उनके नाम-स्मरण में भी अपूर्व शक्ति रही हुई है ।

सज्झाय के अन्तर्गत ठीक ही कहा है -

'जेसिं नामग्गहणे,
पावप्पबंधा विलयं जंति ।'

जिन महापुरुषों के नामग्रहण मात्र से ही आत्मा पर लगे हुए कर्मों के जटिल बंधन शिथिल होने लगते हैं ।

'महात्मनां मुमुक्षूणां, सतीनां च सुयोगिनां ।
नामोत्कीर्तन-मात्रेण, शिवश्रीर्जायते नृणाम् ।।

अर्थ : मोक्ष की इच्छावाले और उत्तम योगवाले महापुरुषों और महासतियों के नाम का कीर्तन करने मात्र से भी मनुष्यों को मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है ।

भगवान महावीर प्रभु की 51 वीं पाटपरंपरा में हुए **महाप्रभावक आचार्य श्री मुनिसुंदरसूरिजी म.** के सुशिष्य श्री शुभशील गणि ने लगभग **10000 श्लोक** प्रमाण भरतेश्वर वृत्ति (टीका) की रचना की है ।

प्रस्तुत चरित्र-ग्रंथ के निर्माण में उस टीका तथा अन्य महापुरुषग्रंथ टीकाओं का भी आलंबन लिया गया है ।

भरतेश्वर वृत्ति आदि अनेक ग्रंथों के गुजराती भाषांतर तो उपलब्ध हैं, परंतु हिन्दी भाषा में इस प्रकार के साहित्य की बहुत बडी कमी है ।

वात्सल्य के महासागर, परोपकार मूर्ति, भवोदधितारक पूज्यपाद **गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की निरंतर बरसती दिव्य कृपा के बल से ही इन महापुरुषों के जीवन चरित्रों का आलेखन हो सका है, उनके पावन चरणों में कोटि कोटि वंदन हो ।

गुरुपाद पद्मरेणु

–आचार्य रत्नसेनसूरि...

प्रकाशक
की कलम से...

गोडवाड के गौरव एवं मरुभूमि के रत्न परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** का

संक्षिप्त परिचय

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. गोड़वाड़ के गौरव, मरुभूमि के रत्न, बाली संघ की शान, चोपड़ा कुल के भूषण तथा पिता श्रीमान् छगनराजजी एवं माताजी श्रीमती चंपाबाई के कुल- दीपक हैं । इनका सांसारिक नाम राजमल चोपड़ा था, परन्तु इन्हें 'राजू' के लाड़ले नाम से पुकारा जाता था । आज भी वे गोड़वाड़ की जनता के लिए तो **'राजू महाराज'** के नाम से ही प्रख्यात है ।

पूज्यश्री का जन्म भादों सुदी 3 दिनांक 16-9-1958 के शुभ दिन हुआ था । माता का नाम चंपाबाई और पिता का नाम छगनराजजी चोपड़ा था ।

इनकी प्रारंभिक शिक्षा हायर सैंकडरी तक बाली में तथा 1st Year, B.Com. का शिक्षण S.P.U. College फालना में हुआ था । राजू को धार्मिक शिक्षण व संस्कार मिले थे श्रीमान् आनंदराजजी गेमावत से । बचपन से ही सूक्ष्म व तीक्ष्ण प्रज्ञा के कारण व्यावहारिक शिक्षण में उनका हमेशा प्रथम स्थान रहा था । ई. सन् 1975 में राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय-बाली में 600 विद्यार्थियों के बीच राजू को **'सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी'** का पारितोषिक मिला था । जिला-स्तरीय निबंध-वक्तृत्व आदि स्पर्धाओं में भी विशेष स्थान प्राप्त किया था । इसके साथ ही

धार्मिक पाठशाला में भी हमेशा प्रथम स्थान रहा था। तत्त्वज्ञान विद्यापीठ-पूना की प्रारंभिक परीक्षा में भारत भर में पहला स्थान प्राप्त किया था।

बचपन में राजू के दिल में महत्त्वाकांक्षा थी **'आगे चलकर C.A. करना, उद्योगपति या राजनेता बनना।'** परंतु अपने ही पड़ौसी पूर्ण स्वस्थ भीकमचंदजी बद्दाजी परमार की अकालमृत्यु तथा नदी के पानी में डूबने से हुई दो बाल मित्रों की करुण मौत के दृश्यों को देखकर राजू को आयुष्य की क्षणभंगुरता के प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उसके मन में वैराग्य भाव का बीजारोपण हो गया। अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत, सत्संग एवं उनके द्वारा प्रदत्त **'शांतसुधारस'** की अनित्य एवं अशरण भावना के हिन्दी विवेचन के स्वाध्याय तथा **'धर्मदेशना'** पुस्तक में वर्णित चार गतियों के भयंकर दु:खों का वर्णन पढ़ने से राजू की वैराग्य भावना और दृढ़ बनती गई।

एक वर्ष के कॉलेज शिक्षण दरम्यान भी राजू की वैराग्य भावना लेश भी खंडित नहीं हुई, बल्कि कॉलेज के साथ पूज्य गुरुदेवश्री के समागम से उसकी वैराग्य भावना तीव्र-तीव्रतर होती गई।

वि.सं. 2030 में बाली में मुमुक्षु कमलाबहन की भागवती दीक्षा का महोत्सव चल रहा था। रात्रि में संघ की ओर से आयोजित मुमुक्षु के बहुमान समारोह में राजू भी उपस्थित था। मुमुक्षु के वैराग्यपूर्ण संवाद आदि को सुनकर राजू के मन में तीव्र वैराग्य भाव पैदा हुआ।

राजू ने अपने दिल की बात **पू.मुनि श्री प्रद्योतनविजयजी म.** को कही। पूज्य मुनिराजश्री ने राजू की भावना को प्रोत्साहित किया और इस संदर्भ में विशेष मार्गदर्शन हेतु राजू को घाणेराव में बिराजमान **अध्यात्मयोगी नि:स्पृहशिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** के पास भेजा।

अध्यात्मयोगी महापुरुष के दर्शन-वंदन कर राजू का हृदय खुशी से नाच उठा। मानवजीवन को सफल बनाने एवं

संयम की निर्मल साधना हेतु पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने राजू को सुंदर मार्गदर्शन दिया ।

धार्मिक पाठशाला में राजू ने पंच प्रतिक्रमण आदि का अभ्यास तो किया ही था, इसके साथ **प.पू. विद्वद्वर्य मुनि श्री जितेन्द्रविजयजी म.सा.** एवं **प.पू. विद्वद्वर्य मुनि श्री गुणरत्नविजयजी म.सा.** की तारक निश्रा में आयोजित `ग्रीष्मकालीन आध्यात्मिक ज्ञान शिविर में दो बार भाग लेकर जैनदर्शन के तत्त्वज्ञान, आवश्यक क्रिया के सूत्र रहस्य, जैन इतिहास, जैन भूगोल, कर्मवाद आदि का ज्ञान प्राप्त किया । इसके फलस्वरूप राजू की वैराग्य भावना और दृढ़ बनी ।

यद्यपि दीक्षा के लिए घर में अनुकूल वातावरण नहीं था, फिर भी दृढ़ मनोबल से वैराग्यमार्ग में आनेवाले अवरोधों का सामना किया, जिसके फलस्वरूप आखिर में राजू के माता-पिता ने पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में रहने के लिए अपनी सम्मति प्रदान की ।

वि.सं. 2031 व 2032 में पूज्य गुरुदेवश्री के बेड़ा एवं लुणावा चातुर्मास में साथ में रहकर ज्ञानाभ्यास किया और संयमजीवन की ट्रेनिंग ली । डेढ़ वर्ष के अपने मुमुक्षु पर्याय में उपधान तप, वर्धमान तप का पाया एवं 12 ओली, 20 दिवसीय एक लाख नवकार जापसाधना, पैदल-विहार के साथ साथ चार प्रकरण, तीन भाष्य, छह कर्मग्रंथ, तत्त्वार्थ सूत्र, वीतराग स्तोत्र, योगशास्त्र, पंच सूत्र, संस्कृत की दो बुक आदि का भी सुंदर अभ्यास किया ।

राजु के दिल में उत्कट वैराग्य था तो दूसरी ओर माता-पिता के अन्तर्मन में रहे मोह के बंध को तुड़वाना सरल काम नहीं था, इस भगीरथ कार्य में सफलता पाने के लिए राजु ने भी दृढ संकल्प किया था, मोह के बंधन को तोड़ने में राजु के सफल मार्गदर्शक बने थे **अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य ।** उनका मार्गदर्शन और आशीर्वाद न होता तो शायद राजु को सफलता नहीं मिल पाती ।

दि. 6 जनवरी 1977 के शुभ दिन मुमुक्षु राजु अपने पिताजी **शा छगनराजजी चोपड़ा** और पंडितजी हिम्मतभाई (जो बाली में साधु-साध्वीजी को संस्कृत-प्राकृत और न्याय सीखाते थे ।) के साथ बाली से बस द्वारा लुणावा आए । उस समय अध्यात्मयोगी **पूज्य पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** लुणावा में विराजमान थे ।

वंदनविधि और औपचारिक बातचीत के बाद मुमुक्षु राजु के पिताजी का एक ही सुर था-कि राजु की दीक्षा 1-2 वर्ष बाद की जाय ।

उस समय भविष्यदृष्टा पूज्यश्री ने अपना मौन तोड़ते हुए कहा, **'राजु अब तैयार हो चुका है, अब ज्यादा विलंब करने जैसा नहीं है ।'**

महापुरुष के थोड़े से शब्दों में भी अपूर्व शक्ति रही होती है । वे बोलते कम हैं और काम ज्यादा होता है ।

बस, अध्यात्मयोगी युगमहर्षि महापुरुष के अल्प शब्दों ने छगनराजजी के मन पर जादुई असर किया और उन्होंने परिवार के अन्य किसी भी सदस्य से बातचीत किये बिना तत्काल ही पूज्यश्री को अपने सुपुत्र की भागवती-दीक्षा के लिए अपनी सहमति प्रदान कर दी ! यह था पुण्यपुरुष के अल्पशब्दों का गजब का प्रभाव ! और उसी समय पूज्य गुरुदेवश्री ने दीक्षा का मुहूर्त भी प्रदान कर दिया । माघ शुक्ला त्रयोदशी 2033 के शुभ दिन मुमुक्षु राजु की भागवती दीक्षा निश्चित की गई ।

पूज्य गुरुदेवश्री की असीम कृपा से जन्मभूमि बाली में **वर्धमान तपोनिधि पू. पंन्यासप्रवर श्री हर्षविजयजी म.** के वरदहस्तों से मुमुक्षु ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । वे अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्री के अंतिम शिष्य बने और वे **मुनिश्री रत्नसेनविजयजी म.** के नाम से पहिचाने जाने लगे ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद परम तपस्वी **पू.पं. श्री हर्षविजयजी म.सा.** के सान्निध्य में लगभग 3 वर्ष तक पाटण में ग्रहण व आसेवन शिक्षा प्राप्त की । संस्कृत-प्राकृत व्याकरण

के साथ न्याय, काव्य, प्रकरण ग्रंथ, कर्मग्रंथ, विविध दर्शन, जैन-आगम आदि का गहन अभ्यास किया ।

प्रभावक प्रवचन शैली : विक्रम संवत् 2033 में उनकी भागवती दीक्षा हुई । ठीक 13 मास के बाद वर्धमान तपोनिधि **पूज्य पंन्यासप्रवर श्री हर्षविजयजी म.सा.** की शुभ निश्रा में वि.सं. 2034 फाल्गुण शुक्ला चतुर्दशी के दिन पाटण में उनका सबसे पहला प्रवचन हुआ । पूज्य गुरुदेवश्री के शुभाशिष उनके साथ थे, अतः वह प्रवचन अत्यंत ही प्रभावक रहा । उसके बाद वि.सं. 2036 से उनकी पर्युषण प्रवचनमाला एवं वि.सं. 2038 में बाली में उनके चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ हो गए । वह प्रवचन-गंगा आज भी निरंतर बह रही है ।

श्रोताओं की अंतरंग योग्यता को परखकर, शास्त्रीय पदार्थ को खूब सरल व रोचक शैली में समझाने की कला उन्हें हासिल हुई है । इसके द्वारा वे अनेक के जीवन-परिवर्तन में निमित्त बने हैं ।

प्रभावक साहित्य–सर्जन : वि.सं. 2038 में पूज्य मुनिश्री ने अपने स्वर्गस्थ गुरुदेवश्री के जीवन-परिचय के रूप में **'वात्सल्य के महासागर'** पुस्तक का आलेखन किया था, तब से उनकी लेखन-यात्रा निरंतर जारी है । उनकी लेखनी में सरलता है, रोचकता है और धाराप्रवाह है । उनके द्वारा आलेखित साहित्य पाठकों के अन्तर्मन को इस प्रकार छू लेता हैं कि एक बार पुस्तक प्रारंभ करने के बाद उसे छोड़ने का मन ही नहीं होता है । साहित्य के विविध विषयों पर उनकी लेखनी चली है, जो आज भी गतिमान है ।

परम पूज्य उपकारी गुरुदेवश्री के कालधर्म के बाद पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य भगवंत, एवं समतानिधि पू. पंन्यासश्री वज्रसेनविजयजी म.सा. की आज्ञानुसार पाली, रतलाम, अहमदाबाद, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, गिरधरनगर, सुरेन्द्रनगर, थाणा, कल्याण, दादर, सायन, धूलिया, कराड, चिंचवड़ स्टे., भायंदर, पूना, येरवड़ा, कालाचौकी (मुंबई) श्रीपालनगर मुंबई, कर्जत, (जिला रायगढ़ M.S.), भिवंडी, रोहा, भायंदर, पालीताणा, बाली,

घाणेराव, नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयमत्तूर, चैन्नई, बीजापूर (कर्णाटक), भायंदर आदि क्षेत्रों में चातुर्मास कर दैनिक व जाहिर प्रवचनों के माध्यम से अनेकविध आराधनाएँ कराई हैं ।

पूज्य मुनिश्री की प्रेरणा से थाणा में 109 सिद्धितप व 160 सामुदायिक वर्षीतप की आराधनाएँ हुई थीं ।

अपनी प्रवचन-कुशलता के साथ-साथ मात्र 24 वर्ष की उम्र में **'वात्सल्य के महासागर'** से प्रारंभ हुई उनकी लेखनी अबाधगति से आगे बढ़ रही है । पूज्य आचार्यजी म.सा. की अभी तक 237 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और अभी भी वह सर्जन-यात्रा चालू ही है ।

तप-साधना में पूज्य मुनिश्री अपने 47 वर्ष के संयमपर्याय में लगभग नियमित एकाशना करते हैं और प्रत्येक सुद पंचमी को ज्ञान की आराधना निमित्त उपवास करते हैं ।

पिंडवाड़ा, गिरधरनगर, थाणा, कल्याण, दादर, सायन, धूलिया, कराड़, भायंदर, बेंगलोर, चिंचवड़ स्टे. पूना, येरवडा, श्रीपालनगर तथा भिवंडी, बेंगलोर, कोयमत्तूर आदि में वाचना-श्रेणी का आयोजन कर सैकड़ों नवयुवकों के जीवन को संस्कारित किया है ।

'अर्हद् दिव्य संदेश' मासिक के माध्यम से पूज्य मुनिश्री के चिंतनात्मक लेख-प्रवचन-उपदेश पिछले 35 वर्षों से नियमित प्रकाशित हो रहे हैं ।

अनेक को धर्मबोध देने वाले **पूज्य मुनिश्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** को शासनप्रभावक प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद **गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय महोदयसूरीश्वरजी म.सा.** की आज्ञानुसार वैशाख वदी 6, वि.सं. 2055 को चिंचवड़ में गणिपद से अलंकृत किया गया और शासनप्रभावक पूज्य **गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा.** की आज्ञानुसार कार्तिक वदी 5 वि.सं. 2061 के शुभ दिन श्रीपालनगर मुंबई में पंन्यास पद से अलंकृत किया गया था ।

अत्यंत ही सरल, रोचक व प्रभावपूर्ण प्रवचनशैली के द्वारा वे श्रोताओं के अन्तर्मन को छू लेते हैं । उनके उपदेश से अनेक भूले भटके युवानों को सही दिशा प्राप्त हुई है ।

वाचनाश्रेणी आदि के माध्यम से उन्होंने तरुण पीढ़ी के जीवन को सुसंस्कारों से सुवासित किया है ।

वे कुशल विवेचनकार भी हैं : सामायिक सूत्र, चैत्यवंदन सूत्र, आलोचना सूत्र, श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र, आनंदघन चौबीसी, आनंदघनजी के पद, पू. यशोविजयजी म. की चौबीसी, अमृतवेल की सज्झाय, समकित के 67 बोल की सज्झाय आदि पर उन्होंने खूब सुंदर व सरलशैली में विवेचन भी किया है ।

वे कुशल अवतरणकार भी हैं : जैन रामायण और महाभारत पर दिए गए उनके, जाहिर प्रवचनों का उन्होंने स्वयं ने आलेखन भी किया है । तथा अपने गुरुदेव एवं प्रगुरुदेव के प्रवचनों का सुंदर शैली में अवतरण भी किया है ।

वे कुशल भावानुवादक हैं : शांत सुधारस, श्राद्धविधि, गुणस्थानक क्रमारोह, एक से छह कर्मग्रंथ, तीन भाष्य, जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, लघु संग्रहणी आदि प्राचीन ग्रंथों का उन्होंने सरस भावानुवाद एवं विवेचन भी किया है ।

वे प्रभावक कथा-आलेखक भी हैं : कर्मन् की गत न्यारी (महाबल-मलयासुंदरी चरित्र) आग और पानी (समरादित्य चरित्र) कर्म को नहीं शर्म (भीमसेन चरित्र) तब आँसू भी मोती बन जाते हैं (सागरदत्त चरित्र) कर्म नचाए नाच (तरंगवती चरित्र) जैसे अनेक चरित्रग्रंथों की धारावाहिक कहानी का उपन्यास शैली में आलेखन भी किया है ।

वे प्रसिद्ध चिंतक भी हैं : प्रवचन मोती, प्रवचन रत्न, चिंतन मोती, प्रवचन के बिखरे फूल, अमृत की बूँदें, युवा चेतना जैसे प्रकाशनों में उनके हृदयस्पर्शी चिंतन भी प्रस्तुत हुए हैं ।

वे कुशल प्रवचनकार भी हैं : सफलता की सीढ़ियाँ, श्रावक कर्तव्य, श्रावकाचार प्रवचन, नवपद प्रवचन, प्रवचन वर्षा, प्रवचन-धारा, आनंद की शोध, पांच प्रवचन, जैन पर्व प्रवचन, प्रेरक प्रवचन, गुणानुवाद आदि में उनके प्रवचनों का सुंदर संकलन है ।

वे प्रसिद्ध कहानीकार भी हैं : प्रिय कहानियाँ, मनोहर कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, मधुर-कहानियाँ, प्रेरक कहानियाँ, सरस कहानियाँ, सरल कहानियाँ, आदर्श कहानियाँ आदि में उन्होंने अत्यंत ही सुंदर हृदयस्पर्शी कहानियों का आलेखन किया है ।

जैनशासन के ज्योतिर्धर, महान् ज्योतिर्धर, तेजस्वी सितारें, गौतमस्वामी-जंबुस्वामी, महावीर प्रभु की पट्टधर परंपरा भाग 1 से 4 आदि में उन्होंने जैनशासन के महान् प्रभावक पुरुषों के जीवनचरित्रों का सुंदर आलेखन भी किया है ।

वे कुशल संपादक भी हैं : युवाचेतना विशेषांक, जीवननिर्माण विशेषांक, आहारविज्ञान विशेषांक, श्रावकाचार विशेषांक, श्रमणाचार विशेषांक, सन्नारी विशेषांक, राजस्थान तीर्थ विशेषांक, दीक्षा विशेषांक, तीर्थयात्रा विशेषांक जैसे अनेक विशेषांकों का सफल संपादन भी किया है ।

उनके उपदेश से अनेक संघों में अनेकविध तपश्चर्याएँ, अनेकविध भाव-यात्राएँ, तप-जप आदि अनुष्ठान, उपधान, अंजन शलाका, दीक्षाएं, प्रतिष्ठा, छ'री पालित संघ, उद्यापन, जीवित महोत्सव आदि संपन्न हुए हैं । उनके द्वारा आलेखित साहित्य भारत भर के हिन्दीभाषी क्षेत्रों में खूब चाव से पढ़ा जाता है ।

सन्मार्ग की राह बतानेवाला उनका साहित्य अनेक के लिए सफल मार्गदर्शक बना है । उनका साहित्य नूतन प्रवचनकारों के लिए भी खूब उपयोगी बना है ।

समुदाय के ज्येष्ठ पूज्यों के निर्णयानुसार एवं निःस्पृह शिरोमणि विद्वद्वर्य **पू.पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेनविजयजी गणिवर्य श्री** की आज्ञा एवं आशीर्वाद से कोंकण शत्रुंजय थाणा तीर्थ में पौष वद-1, वि.सं. 2067, दि. 20-1-2011, गुरुवार के शुभदिन गुरु पुष्यामृतसिद्धियोग में आठ दिन के ऐतिहासिक महामहोत्सव के साथ शासनप्रभावक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय कनकशेखरसूरीश्वरजी म.सा.** के वरद हस्तों से **प.पू. मरुधररत्न गोड़वाड़ के गौरव पूज्य पंन्यासप्रवर श्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** को **'गुरु गौतम नगरी** (शिवाजी मैदान) में हजारों की जनमेदिनी के बीच **आचार्य पद** पर प्रतिष्ठित किया गया, तब से वे **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के नाम से जाने-पहिचाने लगे हैं ।

आचार्य पदारूढ़ होने के बाद पूज्यश्री के वरद हस्तों से जैन-शासन की सुंदर आराधना-प्रभावना हो रही है ।

आभार

प्रस्तुत पुस्तक में स्व. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा आलेखित **'प्रतिक्रमण सूत्र आल्बम' पू.आ. श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी म.सा., पू.आ. श्री हर्षशीलसूरीश्वरजी म.सा., डॉ. कुमारपाल देसाई** आलेखित गुजराती सचित्र साहित्य, दिवाकर प्रकाशन-आगरा के सचित्र प्रकाशन में से कुछ प्रकाशन उपयोगी चित्र लिये हैं । हम उन सभी के खूब-खूब आभारी हैं ।

अनुक्रमणिका

क्रम	महापुरुष का नाम	महासती का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	अनासक्तयोगी भरत		1
2.	अतुलबली बाहुबली		2
3.	श्रेयांसकुमार		4
4-5.		ब्राह्मी-सुंदरी	5
6.	बुद्धिनिधान अभयकुमार		43
7.	ढंढण अणगार		75
8-17.	ब्रह्मचर्य सम्राट् स्थूलभद्र श्रीयककुमार	यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता भूतदिन्ना, सेणा वेणा, रेणा	83
18-19	अर्णिकापुत्र आचार्य	पुष्पचूला साध्वी	114
20.	अतिमुक्तक बालमुनि		122
21.	नागदत्त (1)		125
22.	नागदत्त (2)		128
23.	मेतार्यमुनि		131
24-25-26.	सिंहगिरि-वज्रस्वामी	रुक्मिणी	141
27.	नंदिषेण मुनि		168
28.	वैयावच्ची-नंदिषेण		175
29.	कृतपुण्य शेठ		178

क्रम	महापुरुष का नाम	महासती का नाम	पृष्ठ संख्या
30.	सुकोशल मुनि		188
31.	पुंडरीक मुनि		193
32.	केशी गणधर		198
33-34.	शीलव्रतधारी सुदर्शन शेठ	मनोरमा	211
35.	प्रत्येकबुद्ध करकंडु		219
36-37.	हल्ल-विहल्ल		226
38-39.	साल-महासाल		232
40.	शालिभद्र		234
41.	भद्रबाहुस्वामीजी		245
42.	दशार्णभद्र		254
43.	प्रसन्नचन्द्र राजर्षि		256
44.	यशोभद्रसूरि		260
45-46.	जंबु-स्वामी तथा प्रभवस्वामी		262

1. अनासक्तयोगी: भरत

पर्वत, जंगल या एकांत में जाकर
आत्म-साधना करना, आत्म-ज्ञान प्राप्त करना
कोई कठिन बात नहीं है ।
परंतु काम के घर में रहकर
देवांगनाओं और अप्सराओं जैसी
एक नहीं 64000 देवियों के बीच रहकर,
14 रत्न, 9 निधि और छह खंड के
विपुल साम्राज्य के भोक्ता बनकर भी
जल में कमल की भाँति अलिप्त रहना
यह तो कोई विरलों का ही काम है ।

❑ आग के बीच रहकर भी नहीं जलना,
कोयले के घर में रहकर भी बेदाग रहना बहुत ही कठिन है ।
ऐसी ही कोई अद्‌भुत-साधना के
साधक थे...**भरत महाराजा !**

❑ **मरणांत कष्टों को समतापूर्वक सहन करना**
आसान है परंतु राग के प्रबल निमित्तों के बीच
अनासक्त रहना अत्यंत ही कठिन है ।

❑ ऐसी बेजोड़ साधना के स्वामी थे
भरत महाराजा ! उनकी उस अजोड़
साधना के फलस्वरूप ही **भरहेसर की सज्झाय** में
सर्वप्रथम उन महापुरुष का नाम स्मरण किया गया है ।

❑ **'अनासक्त योगी'** ऐसे भरत का नाम-स्मरण भी हमारे कर्म
के जटिल-बंधनों को शिथिल बना देता है ।

❑ आइए ! उस महापुरुष के भूतकालीन
इतिहास और अनासक्त साधना का स्वाध्याय कर,
हम भी अपनी आत्मा को आसक्ति के बंधन से मुक्त
बनाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील बनें !

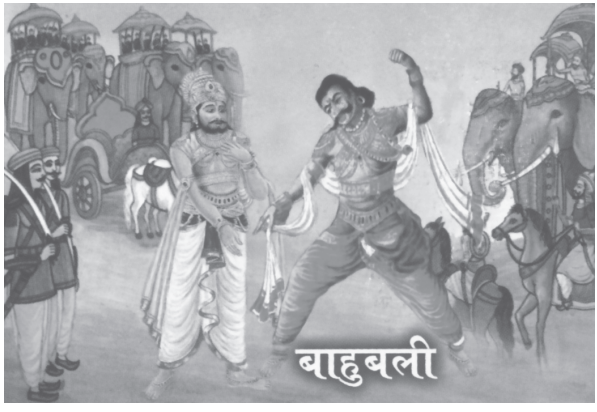

2. अतुलबली-बाहुबलीजी

❑ पर्वत की भाँति निश्चल ऐसे बाहुबली
धन-दौलत, पुत्र-पत्नी-परिवार, मान-सम्मान,
प्रतिष्ठा और विशाल साम्राज्य आदि सब कुछ
छोड़ पाए परंतु एक **'मान'** कषाय को न छोड़ पाए ।
❑ ब्राह्मी और सुंदरी के मात्र एक ही उपदेश से
जो एक वर्ष से संगृहीत
मान-कषाय को भी तत्क्षण तिलांजलि दे पाए,
ऐसे
अतुलबली-बाहुबली की
अंतरंग-साधना भी कोई कम नहीं थी,
आइए,
उनके अंतरंग जीवन की गहराई में
उतर कर
उनकी उत्कृष्ट-साधना के
गहन-रहस्य को
जानने-समझने और पाने के लिए
हम भी प्रयत्नशील बनें ।

वैयावच्च एक अप्रतिपाती गुण है ।
स्वाध्याय, तप व भक्ति योग आसान है,
परंतु वैयावच्च की साधना अत्यंत ही कठिन है ।

❑ एक नहीं 500-500 मुनियों की
रात-दिन सेवा करनेवाले - सुबाहुमुनि की
वह अप्रमत्त-साधना ! उसी साधना के फलस्वरूप
उन्होंने चक्रवर्ती से भी पराजित न हो, ऐसा
अतुलबल प्राप्त कर वे बाहुबली बने थे ।

❑ छह खंड के अधिपति भरत को भी
एक मुट्ठी के प्रहार से भी मौत के घाट
उतारने का सामर्थ्य रखनेवाले
अतुलबली-बाहुबली,
जिन्होंने एक ही झटके में
विशाल-साम्राज्य को भी
तिलांजलि दे दी थी !
विश्वविजेता बनने के बजाय वे
आत्म-विजेता बन गए !

3. सुपात्रदान-श्रेयांसकुमार

इस भरत क्षेत्र में
18 कोड़ाकोड़ी सागरोपम से
धर्म का सर्वथा विरह था ।

❑ युगलिक काल में लोग
धर्म के स्वरूप से सर्वथा अज्ञात थे ।

❑ सुपात्र-दान का सर्वप्रथम प्रारंभ
श्रेयांसकुमार ने ही किया था ।

❑ ऋषभदेव जैसे सुपात्र
इक्षुरस जैसा उत्तम द्रव्य
और श्रेयांसकुमार जैसा उत्तम भाव
दुर्लभता से ही प्राप्त होता है ।

1-5. अनासक्तयोगी भरत,
बाहुबली, श्रेयांसकुमार,
ब्राह्मी-सुंदरी-पृष्ठ नं. 7

श्री भरतचक्रवर्ती की सज्झाय

मनही में वैरागी, भरतजी मनही में बैरागी,
बत्रीस सहस मुकुटबद्ध राजा, सेवाकरे वडभागी,
चोसठ सहस अंतेउरी जाके, तोइ न हुआ अनुरागी भरतजी० ।।१।।
लाख चोराशी तुरंगम जाके, छन्नु क्रोड है पागी,
लाख चोराशी गजस्थ सोहीए, सूरता धर्म शुं लागी भरतजी० ।।२।।
चार क्रोड अन्न नित सीझे, लूण दश लाख मण लागी,
तीन क्रोड गोकुल घर दूझे, एक क्रोड हळ सागी भरतजी० ।।३।।
सहस बत्रीश देश वडभागी, भये सर्व के त्यागी,
छन्नु क्रोड ग्राम के अधिपति, तोही न हुवा सरागी भरतजी० ।।४।।
नवनिधी रतन चोघडीयां बाजे, मन चिंता सब भागी,
कनक कीर्ति मुनिवर वंदत है, देजो मुक्ति में मांगी भरतजी० ।।५।।

श्री बाहुबलिजी की सज्झाय

राज तणा रे अति लोभिया, भरत बाहुबलि जूझे रे,
मूठी उपाडी रे मारवा, बाहुबलि प्रतिबुझे रे,
वीरा मोरा गज थकी उतरो, गज चडे केवल न होय रे वी. ।।१।।
ऋषभदेव तिहां मोकले, बाहुबलिजीनी पासे रे,
बंधव गज थकी उतरो, ब्राह्मी सुंदरी एम भाखे रे. वी. ।।२।।
लोच करीने चारित्र लीयो, वळी आव्यो अभिमान रे,
लघु बांधव वांदुं नहीं, काउस्सग्ग रह्या शुभ ध्यान रे वी. ।।३।।
वरस दिवस काउस्सग्ग रह्या, शीत तापथी सूकाणा रे,
पंखीडे माळा घालीया, वेलडीये वींटाणा रे वी. ।।४।।
साधवीना वचन सुणी करी, चमक्यो चित्त मोझार रे,
हय गय रथ सहु परिहर्या, वळी आव्यो अहंकार रे, वी. ।।५।।
वैरागे मन वाळीयुं, मूक्यो निज अभिमान रे,
पग उपाड्यो रे वांदवा, उपन्युं केवळज्ञान रे. वी. ।।६।।
पहोत्या ते केवली परषदा, बाहुबली मुनिराय रे,
अजरामर पदवी लही, *समयसुंदर* वंदे पाय रे वी. ।।७।।

4-5. प्रथम साध्वी महासती ब्राह्मी और स्वदेह-शोषक महासती सुंदरी

ईर्ष्या !
एक ऐसी आग है, जो व्यक्ति को
भीतर से जलाती है, खोखला बनाती है ।

❑ अपने पूर्व भव में
वैयावच्ची बाहु-सुबाहु मुनि की
प्रशंसा को सहन नहीं करने के कारण
ईर्ष्याग्रस्त बने पीठ और महापीठ मुनि ने
स्त्रीवेद कर्म बाँधा, जिसके फलस्वरूप वे
स्त्रीदेह के रूप में
ब्राह्मी और सुंदरी के रूप में पैदा हुए ।
❑ एक भूल की उन्हें सजा हुई,
परंतु जो स्वाध्याय आदि की
उत्तम साधना की थी, उसके फलस्वरूप
इस अवसर्पिणी काल में
प्रथम साध्वी बनने का सौभाग्य
ब्राह्मी महासती को प्राप्त हुआ !
अपने भीतर रही
कामवासना को जीतने के लिए
कठोरतम तपसाधना करनेवाले तो
बहुत मिलेंगे परंतु
अपने रागी की कामवासना को
तोड़ने के लिए दीर्घकाल तक

आयंबिल करने का सौभाग्य तो
महासती सुंदरी को ही प्राप्त हुआ था ।

❑ सुंदरी के अद्‌भुत रूप-सौंदर्य और
लावण्य के कारण भरत उसे
'स्त्रीरत्न' बनाना चाहता था-इस
बात का पता चलते ही
अपने सौंदर्य को समाप्त करने के लिए
सुंदरी ने दो करोड़ सोलह लाख दिनों तक
निरंतर आयंबिल कर अपने देह के
सौंदर्य का पूर्ण शोषण कर लिया था ।

❑ सबसे अधिक राग का पात्र
जो स्व-देह है, उसी के
राग को तोड़ने के लिए
60000 वर्ष तक नीरस
आहार द्वारा आयंबिल तप की
साधिका महासती सुंदरी को
कोटि-कोटि प्रणाम !

1-5. अनासक्तयोगी-भरत, बाहुबलीजी, श्रेयांसकुमार, महासती-ब्राह्मी-सुंदरी

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन, निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात् सुखी नित्यं, निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत् ।।

जंबुद्वीप ! महाविदेह क्षेत्र ! क्षितिप्रतिष्ठित नगर !! उस नगर में ईशानचंद्र नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा का यश चारों दिशाओं में फैला हुआ था ।

उसी नगर में वैद्यकला में कुशल **सुविधि** नाम का वैद्य रहता था ।

वज्रजंघ (ऋषभदेव प्रभु की आत्मा) की आत्मा पहले सौधर्म देवलोक में अपने आयुष्य को पूर्ण कर **सुविधि** वैद्य के यहाँ पुत्र के रूप में पैदा हुई । उसका नाम **'जीवानंद'** रखा गया ।

उसी समय उस नगरी में अन्य चार उत्तम आत्माओं का भी जन्म हुआ ।

ईशानचंद्र राजा की कनकावती रानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम **'महीधर'** रखा गया ।

सुनासीर मंत्री की पत्नी लक्ष्मी ने एक पुत्र को जन्म दिया, उसका नाम **सुबुद्धि** रखा गया ।

सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी अभयमती ने **पूर्णभद्र** नाम के पुत्र को जन्म दिया ।

धन नाम के श्रेष्ठी की पत्नी शीलमती ने **गुणाकर** नाम के पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

श्रीमती की आत्मा का पहले देवलोक से च्यवन हुआ और वह ईश्वरदत्त श्रेष्ठी के यहाँ **केशव** नाम के पुत्र के रूप में पैदा हुई ।

पूर्व के पुण्योदय से उन छहों के बीच परस्पर गाढ़ मैत्री हो गई ।

जीवानंद वैद्य वंशानुगत वैद्य के धंधे में अत्यंत ही निपुण था । आयुर्वेद तथा सभी औषधियों के रस, वीर्य और पाक आदि का पूरा ज्ञान उसने प्राप्त किया था ।

एक बार वे सभी छह मित्र जीवानंद वैद्य के घर पर प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप कर रहे थे । तभी एक महात्मा गोचरी के लिए पधारे । वे महात्मा पृथ्वीपाल राजा के **गुणाकर** नाम के पुत्र थे । लक्ष्मी की चंचलता और संसार की असारता को जानकर उन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार की थी । दीक्षा अंगीकार करने के बाद उन्होंने उग्र कोटि का तप किया था । उग्र तप और अंत-प्रांत भिक्षा आदि के कारण उनके पूरे शरीर में कृमि का भयंकर रोग फैल गया था...परंतु देह के प्रति निर्मम बने हुए वे महात्मा किसी भी प्रकार की चिकित्सा कराने के लिए उत्सुक नहीं थे, वे अत्यंत ही समतापूर्वक रोग की भयंकर पीड़ा सहन कर रहे थे ।

महात्मा की काया को रोग-ग्रस्त देखकर राजपुत्र ने जीवानंद वैद्य को कहा, ***''परोपकार बुद्धि से चिकित्सा करनेवाले वैद्य को धर्म, धन और यश तीनों की प्राप्ति होती है ।''***

``हे जीवानंद ! तू धर्म का आश्रय कर और व्याधिग्रस्त महात्मा की चिकित्सा कर ! इस चिकित्सा से ये महात्मा रोगमुक्त बनेंगे और इसके फलस्वरूप तुम्हें भी महान् पुण्य होगा ।''

राजपुत्र महीधर की यह बात सुनकर जीवानंद वैद्य खुश हो गया और उसने उसी समय महात्मा की चिकित्सा करने का संकल्प किया ।

वैद्य ने कहा, ``मेरे पास लक्षपाक तैल तैयार है, किंतु अन्य दो वस्तुएँ गोशीर्ष-चंदन और रत्नकंबल नहीं हैं, तुम ये दो वस्तुएँ लेकर आ जाओ, उसके बाद मैं उन महात्मा की आसानी से चिकित्सा कर सकूंगा ।''

जीवानंद वैद्य की इस बात को सुनकर वे पांचों मित्र बाजार में चले गए ।

वे एक वृद्ध की दुकान पर गए । उस वृद्ध वणिक् ने उन दोनों वस्तुओं का मूल्य एक-एक लाख सोना मोहर बतलाया ।

इसके साथ ही उस वृद्ध ने पूछा, ``आपको ये वस्तुएँ किसके लिए चाहिए ?''

राजकुमार ने कहा, ``हमें एक रोगग्रस्त महात्मा की चिकित्सा करनी है, उसके लिए इन वस्तुओं की जरूरत है ।''

वणिक् ने कहा, ``आपको धन्यवाद है । इस तरुण अवस्था में तुम्हें सेवा की भावना पैदा हुई है, आप ये दो वस्तुएँ खुशी से ले जाओ, इनका मूल्य चुकाने की आवश्यकता नहीं है । ग्लान मुनि की सेवा में इतना लाभ तो मुझे भी मिलना चाहिए ।'' इतना कहकर उस वणिक् ने वे दोनों कीमती वस्तुएँ राजपुत्र आदि को अपनी ओर से भेंट कर दीं । उसके बाद उस वणिक् ने अपना शेष धन भी धर्ममार्ग में लगा दिया और भागवती दीक्षा अंगीकार कर उसने अपना आत्मकल्याण किया ।

रत्नकंबल और गोशीर्ष चंदन लेकर जीवानंद आदि छह मित्र वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यान में मग्न **गुणाकर** मुनि के पास आए ।

उन्होंने हाथ जोड़कर मुनि भगवंत से विनती की, ***''हे ध्यान-मग्न मुनिवर ! यद्यपि आप इस देह के प्रति निर्मम हो, फिर भी आपके ध्यान में थोड़ा अंतराय पैदा कर रहे हैं । आप अनुमति प्रदान करने की कृपा करो ।''***

देह के प्रति निर्मम बने महात्मा ने अपनी मूक सहमति प्रदान की ।

मुनिवर के शरीर में से निकले हुए कीड़े व्यर्थ ही मर न जाँय इसलिए वे थोड़ी देर पहले मरी हुई गाय के मृत कलेवर को ले आए ।

उसके बाद जीवानंद आदि छह मित्रों ने मुनिवर के शरीर पर लक्षपाक तैल लगाया । धीरे-धीरे वह तैल मुनिवर के प्रत्येक अंग में फैल गया । उष्ण लक्षपाक तैल के फैलने से थोड़ी देर के लिए वे मुनि मूर्च्छित हो गए ।

लक्षपाक तैल से आकुल-व्याकुल बने वे कृमि मुनिवर के देह में से बाहर निकल आए । उसके बाद जीवानंद वैद्य ने मुनिवर के देह को रत्नकंबल में लपेट लिया । वे सारे कृमि रत्नकंबल पर चोंट गए । उसके बाद धीरे से झाड़कर वे सब कृमि मरी हुई गाय के कलेवर पर छोड़ दिए, ताकि वे भी अपना आयुष्य शांति से पूरा कर सकें । फिर उन्होंने गोशीर्ष चंदन के लेप द्वारा मुनिवर के देह को शांत किया ।

उसके बाद पुनः मुनि के शरीर पर लक्षपाक तैल लगाया गया । इस

बार मुनिवर के मांस में व्याप्त बने कृमि बाहर आ गए । उन सभी कृमियों को पुनः रत्नकंबल पर लेकर उन्हें गाय के मृत कलेवर पर छोड़ दिया ।

पुनः तीसरी बार लक्षपाक तैल लगाया गया । इसके प्रभाव से मुनि की अस्थि आदि में रहे कृमि बाहर आ गए । वापस उन्हें रत्नकंबल पर ले लिया गया और उन्हें मृत गाय के कलेवर पर छोड़ दिया ।

इस प्रकार तीन बार तैल की मालिश के कारण मुनिवर के शरीर में रहे सभी कृमि बाहर आ गए । मुनिवर रोगमुक्त बन गए, पुनः मुनिवर के देह पर गोशीर्ष चंदन का विलेपन किया गया । मुनिवर का देह रोगमुक्त बना । मुनिवर की चिकित्सा द्वारा उन सभी छह मित्रों ने भी विशिष्ट पुण्य उपार्जित किया ।

मुनिवर ने उन सभी को धर्मलाभ की आशिष दी...तत्पश्चात् वे मुनि वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए ।

उसके बाद उन छह मित्रों ने रत्नकंबल व गोशीर्ष चंदन बेच दिया, उससे जो सुवर्ण प्राप्त हुआ, उस सुवर्ण से तथा अपने पास रहे सुवर्ण से उन्होंने देवाधिदेव वीतराग परमात्मा का एक सुंदर जिनालय तैयार कराया । एक शुभ दिन उस मंदिर में परमात्मा की प्रतिष्ठा कराई...उसके बाद वे छह मित्र प्रतिदिन परमात्मा की अष्टप्रकारी पूजा करने लगे । द्रव्यपूजा के बाद वे अत्यंत भावपूर्वक भावपूजा करने लगे ।

एक दिन संसार से विरक्त बने उन छह मित्रों ने गुरु भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

निर्मल संयम धर्म की आराधना के फलस्वरूप वे छह मित्र समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्तकर बारहवें अच्युत देवलोक में देव के रूप में पैदा हुए ।

ऋषभदेव प्रभु ने धन्ना सार्थवाह के भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया, उसके बाद क्रमशः देवादि भवों को प्राप्त कर बारहवें भव में जंबुद्वीप के पश्चिम विदेह में **पुष्कलावती विजय** में **पुंडरीकिणी नगरी** में **वज्रसेन** राजा की रानी **धारिणी** देवी की कुक्षि में पुत्र रूप में उत्पन्न हुए । उस समय धारिणी देवी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर धारिणी देवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम **वज्रनाभ** रखा गया । क्रमशः धारिणी देवी ने **बाहु, सुबाहु, पीठ** और **महापीठ** नाम के चार पुत्ररत्नों को जन्म दिया ।

यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर अनेक राजकन्याओं के साथ वज्रनाभ का पाणिग्रहण हुआ । लोकांतिक देवों ने आकर वज्रसेन राजा को तीर्थप्रवर्तन के लिए विनती की । वज्रसेन राजा ने सांवत्सरिक दान दिया और उसके बाद दीक्षा ग्रहण की । वज्रनाभ ने छह खंड पर विजय प्राप्त की और वे चक्रवर्ती बने ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।

एक शुभ दिन समस्त घाति कर्मों का क्षय कर **वज्रसेन** भगवंत को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । वज्रसेन तीर्थंकर परमात्मा ने पैंतीस गुणों से युक्त धर्मदेशना प्रदान की, जिसे सुनकर अन्य अनेक पुण्यात्माओं ने सर्वविरति, देशविरति धर्म स्वीकार किया । चतुर्विध संघ की स्थापना हुई ।

वज्रसेन तीर्थंकर परमात्मा ग्रामानुग्राम विचरण कर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देने लगे । एक दिन वज्रसेन तीर्थंकर परमात्मा विहार करते हुए पुंडरीकिणी नगरी में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर परमात्मा के आगमन के समाचार जानकर वज्रनाभ चक्रवर्ती अपने छोटे भाई आदि विशाल परिवार के साथ समवसरण में आए । वज्रसेन तीर्थंकर परमात्मा ने भव्य जीवों के कल्याण के लिए वैराग्य-वाहिनी धर्मदेशना प्रदान की । उस देशना को सुनकर वज्रनाभ चक्रवर्ती के हृदय में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ । तृण की भाँति छह खंड के आधिपत्य का त्याग कर उन्होंने भागवती दीक्षा स्वीकार की...इसके साथ ही उनके छोटे भाई बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ ने भी संसार के समस्त भौतिक सुखों का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की । रत्नत्रयी की निर्मल आराधना में लयलीन बने वज्रनाभ मुनि द्वादशांगी के ज्ञाता बने और उनके लघु बंधु ग्यारह अंगों के ज्ञाता बने ।

जगत् के समस्त जीवों के कल्याण की पवित्र कामना के साथ वज्रनाभ मुनि ने वीश स्थानक तप की आराधना प्रारंभ की । अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, विनय, चारित्र, ब्रह्मचर्य, समाधि, तप, दान, वैयावृत्य, संयम, अभिनव ज्ञान, श्रुत और तीर्थ पद की आराधना करके वज्रनाभ मुनि ने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया ।

वैयावच्च का प्रभाव

वज्रनाभ महामुनि के परिवार में 500 साधु महात्मा थे । बाहु और सुबाहु मुनि में वैयावच्च का अपूर्व गुण था । **वैयावच्च अप्रतिपाती गुण है ।** बाहु मुनि निर्दोष भिक्षा लाकर गच्छ में रहे 500 मुनियों की भक्ति करने लगे और सुबाहु मुनि गच्छ में रहे तपस्वी-वृद्ध ग्लान आदि मुनियों की सेवा-शुश्रूषा करने लगे । इसके फलस्वरूप बाहु मुनि ने **'चक्रवर्ती'** के योग्य कर्म उपार्जित किया और सुबाहु मुनि ने **''अपूर्व बल''** योग्य कर्म उपार्जित किया । अपने परिवार के साथ-साथ बाहु और सुबाहु अपने गुरुदेव की भी अपूर्व भक्ति करने लगे ।

ईर्ष्या से स्त्री-वेद का बंध

बाहु व सुबाहु मुनि के वैयावच्च गुण की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी । वज्रनाभ गुरुवर भी दोनों मुनियों के सेवा-गुण की पुनः-पुनः प्रशंसा करने लगे । अन्य मुनि तो बाहु व सुबाहु मुनि की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए परन्तु पीठ और महापीठ महामुनि उस प्रशंसा को सहन नहीं कर सके । उनके मन में बाहु, सुबाहु मुनि के प्रति ईर्ष्या भाव पैदा हो गया ।

गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा सुनकर हर्षित होने के बजाय वे मनोमन सोचने लगे, **''जो लोग दूसरों की सेवा-शुश्रूषा करते हैं, सभी लोग उन्हीं की प्रशंसा करते हैं ।''** हम दोनों आगमों के अध्ययन में इतने समय से मग्न रहे, फिर भी हमारी कोई प्रशंसा नहीं करता है । सचमुच सभी लोगों को स्वार्थ ही प्यारा है । दुनिया में सभी लोग अपना काम करने वाले को ही मान देते हैं ।

ईर्ष्या एक भयंकर आग है । ईर्ष्यालु व्यक्ति भीतर ही भीतर जलता रहता है । ईर्ष्या की आग व्यक्ति को भीतर से ही खोखला कर देती है । ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे के उत्कर्ष को कभी सहन नहीं कर पाता है ।

इस प्रकार माया-मिथ्यात्व से युक्त ईर्ष्या के पाप के कारण पीठ और महापीठ मुनिवर ने स्त्रीवेद का बंध किया ।

चौदह लाख पूर्व वर्ष तक संयम धर्म का पालन कर वज्रनाभ महामुनि बाहु, सुबाहु, पीठ, महापीठ और केशव मुनि अत्यंत समाधि पूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव के रूप में उत्पन्न हुए ।

भरत-बाहुबली तथा ब्राह्मी-सुंदरी का जन्म

इस अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा लगभग बीत चुका था । तीसरे आरे की समाप्ति में चौरासी लाख पूर्व वर्ष तथा 89 पक्ष बाकी थे, तब आषाढ़ वदी चौथ के शुभ दिन सर्वार्थसिद्ध विमान में अपने 33 सागरोपम के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर **वज्रनाभ** की आत्मा का नाभि कुलकर की पत्नी **मरुदेवा** की कुक्षि में अवतरण हुआ । उस समय मरुदेवा माता ने ऋषभ, हाथी, सिंह आदि चौदह महास्वप्न देखे ।

गर्भकाल के 9½ मास व्यतीत होने पर चैत्र वदी अष्टमी के शुभ दिन स्वर्ण समान कांतिमान तेजस्वी पुत्र और एक पुत्री को मरुदेवा ने जन्म दिया । 64 इन्द्रों ने मेरुपर्वत पर जन्म महोत्सव मनाया । तत्पश्चात् माता द्वारा स्वप्न में सर्वप्रथम वृषभ देखने के कारण बालक का नामकरण **'ऋषभ'** किया गया और कन्या का नामकरण **सुमंगला** किया गया ।

वंश-स्थापना

लगभग एक वर्ष बीतने पर इन्द्र महाराजा इक्षुदंड लेकर ऋषभकुमार के पास आए । उस समय बालस्वभाव के कारण इक्षुभक्षण की इच्छा से इक्षुदंड लेने के लिए ऋषभकुमार ने अपना हाथ लंबा किया । प्रभु की इस इच्छा को जानकर इन्द्र ने अत्यंत विनयपूर्वक तत्काल वह इक्षुदंड प्रभु के कर-कमलों में अर्पित कर दिया । इन्द्र ने इक्षु के अनुसार प्रभु के वंश का नाम **'इक्ष्वाकु वंश'** रखा ।

प्रभु का लग्न

उस समय युगलिक काल चल रहा था । देवतागण प्रभु के लिए उत्तर कुरु में से कल्पवृक्ष के ताजे फल व क्षीरसागर का जल लाते थे । ऋषभदेव प्रभु उन फलों का भक्षण कर धीरे-धीरे बड़े होने लगे ।

कुछ वर्ष व्यतीत होने पर एक अनहोनी घटना बनी । एक युगल ताल-वृक्ष के नीचे बैठकर वार्ता-विनोद कर रहा था तभी अचानक ताल फल के गिरने से उस युगल में से पुरुष की मृत्यु हो गई और वह कन्या बच गई । वह कन्या इधर-उधर भटकने लगी । अन्य युगलिकों ने जाकर नाभि कुलकर से बात की ।

यह कन्या **'ऋषभकुमार की पत्नी हो'** इस प्रकार कहकर नाभि कुलकर ने उस कन्या को स्वीकार कर लिया । उस कन्या का नाम सुनंदा रखा गया । ऋषभकुमार यौवन वय को प्राप्त हो चुके थे । उस समय प्रभु के लग्न-काल को जानकर इन्द्र महाराजा अपने विशाल परिवार के साथ वहाँ आए ।

इन्द्र ने आकर प्रभु से कहा, ``हे प्रभो ! मैं आपके अभिप्राय को जाने बिना कुछ कहना चाहता हूँ । कृपया आप नाराज न हो । यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप गर्भकाल से ही विरक्त हो । संसार के भोग-सुखों की आपको तनिक भी इच्छा नहीं है । आपका मन तो एक मात्र मुक्ति रूपी कन्या को वरने के लिए समुत्सुक है । कामभोगों में आपका मन नहीं है, फिर भी हे स्वामिन् ! इस अवसर्पिणीकाल में मोक्षमार्ग की तरह व्यवहार-मार्ग का प्रवर्तन आप ही से होनेवाला है, अतः आप कृपा करके मुझे अनुमति दें, मैं आपके विवाह-महोत्सव के लिए आया हूँ ।

उस समय प्रभु ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । ``लग्न-जीवन एवं राज-गद्दी को स्वीकार किए बिना मेरे भोगावली कर्म क्षीण होनेवाले नहीं हैं'' इस बात को जान कर प्रभु ने इन्द्र को अपनी मूक सहमति प्रदान कर दी ।

प्रभु की सहमति मिलते ही इन्द्र महाराजा ने विशाल लग्न-मंडप तैयार कराया और बड़े धूम-धाम के साथ **सुनंदा** व **सुमंगला** के साथ प्रभु का लग्न-महोत्सव संपन्न किया ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक शुभ दिन सुमंगला ने चौदह महास्वप्न देखे । उसी रात्रि में सर्वार्थसिद्ध विमान में से बाहु और पीठ की आत्मा का च्यवन हुआ और उनका सुमंगला की कुक्षि में अवतरण हुआ ।

गर्भकाल व्यतीत होने पर सुमंगला ने पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म दिया । पुत्र का नाम **'भरत'** रखा गया और पुत्री का नाम **'ब्राह्मी'** रखा गया ।

इधर सुबाहु और महापीठ की आत्मा का भी सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन हुआ और सुनंदा की कुक्षि में उनका अवतरण हुआ । गर्भकाल व्यतीत होने पर सुनंदा ने भी एक युगल को जन्म दिया । बालक का नाम **'बाहुबली'** रखा गया और बालिका का नाम **'सुंदरी'** रखा गया ।

तत्पश्चात् सुमंगला ने क्रमशः 49 पुत्र-युगलों को जन्म दिया । इस प्रकार ऋषभदेव प्रभु के भरत-बाहुबली आदि 100 पुत्र और ब्राह्मी-सुंदरी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं ।

प्रभु का राज्याभिषेकः

अपने अवधिज्ञान के बल से प्रभु के राज्याभिषेक के प्रसंग को जानकर इन्द्र ने युगलिकों के विनय के अनुरूप 12 योजन लंबी व 9 योजन चौड़ी विनीतानगरी की स्थापना की । ऋषभदेव प्रभु की उम्र 20 लाख पूर्व वर्ष हो चुकी थी । इन्द्र ने बहुत ही धूमधाम के साथ प्रभु का राज्याभिषेक किया । इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में ऋषभदेव प्रभु सर्वप्रथम राजा बने ।

कला-शिक्षण

धीरे-धीरे कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे । उन पर फल लगने बंद हो गए । गेहूँ, चावल, चना आदि अनाज घास की तरह उगने लगे । लोग उन्हें कच्चा ही खाने लगे । धीरे-धीरे वह अनाज भी अजीर्ण करने लगा । आहार की समस्याएँ बढ़ने लगीं । लोग उपाय ढूँढने लगे परन्तु कोई उपाय हाथ नहीं लगा । इधर अचानक ही अग्नि की उत्पत्ति हुई । लोग उसे रत्न समझ कर पकड़ने लगे, परन्तु आग ने उन पर दया नहीं की और उनके हाथ जला दिये । भयभीत बने वे युगलिक, ऋषभदेव राजा के पास आए ।

आग की उत्पत्ति जानकर ऋषभदेव राजा ने सर्वप्रथम मिट्टी के बर्तन बनाने की कला सिखाई । कुम्हार के शिक्षण के बाद प्रभु ने चित्रकला आदि मुख्य पाँच शिल्प और उन सभी के भेद-प्रभेद वाले 100 शिल्प सिखाए ।

तत्पश्चात् ऋषभप्रभु ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषों की 72 कलाएँ सिखाई । बाहुबली को हाथी, घोड़े, स्त्री, पुरुष आदि के लक्षण बतलाए । ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह लिपियाँ सिखाई और सुंदरी को बाएँ हाथ से गणित विद्या सिखाई ।

इस प्रकार प्रभु ने अपने गृहस्थ जीवन में सभी प्रकार का व्यावहारिक शिक्षण प्रदान किया ।

दीक्षा स्वीकार

न्याय और नीति पूर्वक राज्य का संचालन करते हुए ऋषभदेव प्रभु के 83 लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो गए । प्रभु ने अपने ज्ञान के बल से देखा कि मेरे भोगावली कर्म लगभग क्षीण हो चुके हैं । उस समय नौ लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु को तीर्थप्रवर्तन करने के लिए विनती की । जन्म से ही विरक्त ऐसे प्रभु ने वार्षिकदान देना प्रारंभ किया । प्रभु प्रतिदिन एक करोड़ 8 लाख सुवर्ण मुद्राओं का दान देने लगे । इस प्रकार करते-करते एक वर्ष पूरा हो गया ।

दीक्षा अंगीकार करने के पूर्व ऋषभदेव प्रभु ने अपने परिवार को इकट्ठा किया और उसके बाद भरत को कहा, ``मैं चारित्र धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ, यह राज्य तुम स्वीकार करो ।''

भरत ने कहा, ``हे पिताजी ! आपके चरणकमलों में आलोटने से जो सुख मिलता है, वह सुख सत्ता के सिंहासन पर बैठने से प्राप्त नहीं हो सकता । आपके चरणकमलों में रहने से जो आनंद आता है, वह छत्र की छाया में प्राप्त नहीं होगा । मुझे आपका वियोग सहना पड़े तो इस साम्राज्य से भी क्या फायदा ? आपकी सेवा के सुख के आगे यह राज्य का सुख एक बूँद समान ही है ।''

स्वामी ने कहा, ``यदि पृथ्वी पर कोई राजा नहीं होगा तो सर्वत्र अराजकता फैल जाएगी । तुम इस पृथ्वी का न्याय-नीति से पालन करो ।''

भरत ने पिता की आज्ञा स्वीकार की । प्रभु के आदेश से मंत्रीजनों ने भरत का राज्याभिषेक किया । भरत को अयोध्या का राज्य दिया गया और बाहुबली को बहली देश का राजा बनाया गया । अन्य छोटे बंधुओं को उनकी अपनी-अपनी योग्यतानुसार छोटे-छोटे राज्य दिये गये ।

इस प्रकार 83 लाख पूर्व तक राज्य को भोगकर चैत्र वदी अष्टमी के दिन ऋषभदेव प्रभु **सुदर्शना** नाम की शिविका में आरूढ़ होकर भव्य वरघोड़े के साथ **सिद्धार्थ** नाम के उद्यान में पधारे । ममत्वरहित ऋषभदेव प्रभु ने अशोक वृक्ष के नीचे वस्त्र-अलंकार आदि उतार दिये । प्रभु ने पंचमुष्टि लोच प्रारंभ किया । चार मुष्टि लोच के बाद इन्द्र के आग्रह से मस्तक पर की शिखा ऐसे ही रहने दी । इस प्रकार ऋषभदेव प्रभु का चार मुष्टि लोच हुआ । इन्द्र

ने प्रभु के दाहिने स्कंध पर देवदूष्य डाला । प्रभु ने सिद्धों की साक्षी में सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर भागवती दीक्षा अंगीकार की । उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

उस समय कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी प्रभु के साथ भागवती दीक्षा स्वीकार की ।

श्रेयांसकुमार द्वारा सुपात्रदान

भागवती दीक्षा अंगीकार करने के बाद ऋषभदेव प्रभु रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन बन गए । वे प्रतिदिन दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए जाते थे परन्तु प्रजाजनों को सुपात्रदान व कल्प्य-अकल्प्य के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं था, अतः भिक्षाविधि से अनभिज्ञ प्रजाजन प्रभु को तेजस्वी घोड़े, हाथी, रत्न व स्वर्ण के आभूषण, कीमती वस्त्र, रूपवती कन्या आदि लेने के लिए आग्रह करते, परन्तु अकल्प्य जानकर प्रभु उन सब वस्तुओं का त्याग कर देते और मौन ही रहकर वापस लौट जाते । प्रजाजनों को सुपात्रदान की विधि का ख्याल नहीं था और प्रभु के लाभांतराय कर्म का तीव्र उदय था ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी की भयंकर पीड़ा को सहन नहीं कर पाने के कारण कच्छ-महाकच्छ आदि अन्य साधु गंगा नदी के दक्षिण किनारे पर चले गए और वनचरों की भाँति वृक्ष से गिरे हुए फल-फूलों का आहार करने लगे । सर्दी-गर्मी से बचने के लिए वे अपने शरीर पर वल्कल (वृक्ष की छाल) धारण करने लगे ।

लाभांतराय कर्म के उदय से योग्य भिक्षा प्राप्त नहीं होने पर भी प्रभु के मुख पर किसी प्रकार की दीनता नहीं थी । वे अदीन-भाव से क्षुधा-परिषह को सहन करने लगे । अपने देह के प्रति उन्हें नाम मात्र भी ममत्व नहीं था । वे निर्ममभाव से रत्नत्रयी की आराधना में मग्न बने हुए थे । इस प्रकार निर्जल उपवास करते हुए तेरह मास का दीर्घकाल पूरा हो गया ।

स्वप्नदर्शन

गजपुर (हस्तिनापुर) नगर में बाहुबली के पुत्र **सोमप्रभ** राजा के पुत्र **श्रेयांसकुमार** ने रात्रि में एक सुंदर स्वप्न देखा । स्वप्न में उसने देखा कि चारों

ओर से मलिन बने हुए सुवर्णगिरि-मेरुपर्वत को उसने दूध से भरे हुए घड़ों के अभिषेक द्वारा उज्ज्वल बना दिया ।

उसी रात्रि में **सुबुद्धि** नाम के श्रेष्ठी ने स्वप्न में देखा कि सूरज से निकली हुई हजारों किरणों को **श्रेयांसकुमार** ने पुनः सूर्य में स्थापित कर दिया, जिससे वह सूरज अत्यधिक चमकने लगा ।

उसी रात्रि में **सोमयश राजा** ने भी स्वप्न में देखा कि अनेक शत्रुओं के द्वारा घिरे हुए राजा ने **श्रेयांसकुमार** की सहायता से शत्रु राजा पर विजय प्राप्त की ।

प्रातःकाल होने पर सभी ने राजसभा में एक दूसरे को अपना स्वप्न सुनाया । स्वप्न के वास्तविक फल को तो कोई जान न सका परन्तु सभी ने अनुमान किया कि इन स्वप्नों के अनुसार आज अवश्य ही श्रेयांसकुमार को विशेष लाभ होना चाहिए ।

स्वप्न भविष्य के निर्माता नहीं, किंतु भविष्य के सूचक होते हैं । योग्य आत्मा को आए हुए स्वप्न अवश्य फलीभूत होते हैं ।

मानों उन तीनों को आए हुए भिन्न-भिन्न स्वप्नों को फलीभूत करने के लिए ऋषभदेव प्रभु ने दूसरे दिन गजपुर नगर में प्रवेश किया ।

प्रभु के आगमन को जान कर सभी लोग प्रभु के सम्मुख दौड़ पड़े और दीर्घकाल बाद प्रभु के दर्शन कर अपने आपको कृतार्थ मानने लगे ।

किसी ने कहा, ``प्रभो ! आप मेरे घर पधारें । स्नान के लिए शीतल जल आदि तैयार है ।''

दूसरे ने कहा, ``प्रभो ! मेरे घर उत्तम केसर-चंदन-कस्तूरी की विलेपन सामग्री तैयार है, आप मुझे कृतार्थ करें ।''

तीसरे ने कहा, ``प्रभो ! आप मेरे रत्न-अलंकारों को ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें ।''

चौथे ने कहा, ``प्रभो ! मेरे घर पधार कर कीमती वस्त्र धारण करें ।''

पाँचवें ने कहा, ``प्रभो ! आप मेरी देवांगना जैसी कन्या को स्वीकार करें ।''

छठे ने कहा, ``प्रभो ! आप पैदल क्यों चलते हो ? मेरे इस हाथी को स्वीकार कर आप उस पर सवारी करें ।''

इस प्रकार सभी लोग प्रभु को रथ, घोड़ा, तांबूल आदि भिन्न-भिन्न सामग्री लेने के लिए आग्रह करने लगे ।

संसार के समस्त भौतिक सुखों का त्याग करने वाले प्रभु ने किसी के पास से कुछ भी ग्रहण नहीं किया और वे मौन ही रहकर क्रमशः आगे बढ़ने लगे ।

इस प्रकार नगरवासियों के कोलाहल को सुनकर श्रेयांसकुमार ने अपने सेवक को बुलाया और उसे इस कोलाहल का कारण पूछा ।

श्रेयांसकुमार की आज्ञा होते ही वह सेवक महल में से बाहर आया और प्रभु के आगमन को जानकर श्रेयांसकुमार के पास आया और बोला, ``कुमार ! ऋषभदेव प्रभु पधारे हैं और लोग उन्हें अपनी-अपनी इच्छानुसार विविध भेंट लेने के लिए आग्रह कर रहे हैं ।''

प्रभु के आगमन को जानकर श्रेयांसकुमार दौड़ता हुआ तुरंत ही महल से नीचे उतर आया और नंगे पाँव ही प्रभु के सम्मुख जाने लगा । प्रभु को देखते ही वह प्रभु के चरणों में गिर पड़ा । तत्पश्चात् उसने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दी । उसकी आँखों में आनंद के आँसू बहने लगे । वह स्थिर नेत्रों से प्रभु के मुख-कमल को देखने लगा ।

वह सोचने लगा, ``ऐसा वेष मैंने कहीं देखा है । इस प्रकार सोचते हुए उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया । उसे पूर्वजन्मों में प्रभु के साथ हुए संबंध याद आने लगे । पूर्वभव में ऋषभदेव प्रभु जब वज्रनाभ नाम के चक्रवर्ती थे तब मैं उनका सारथी था । उनके साथ मैंने भी दीक्षा अंगीकार की थी । स्वयंप्रभा आदि के भवों में भी मैं इनके साथ रहा हूँ ।''

कुमार इस प्रकार सोच ही रहा था कि तभी प्रभु उसके महल में पधारे । योगानुयोग किसी राजा ने कुछ देर पहले ही श्रेयांसकुमार को इक्षुरस से भरे हुए एक सौ आठ घड़े भेंट किए थे ।

निर्दोष भिक्षा को जानने वाले श्रेयांसकुमार ने प्रभु से प्रार्थना की, ``हे प्रभो ! आप यह कल्पनीय रस स्वीकार करें ।''

उसी समय प्रभु ने दो हाथ मिलाकर अंजलि की और हस्तरूपी पात्र उसके सामने किया । कुमार ने गन्ने के रस से भरे घड़े उँडेलने प्रारंभ किये । प्रभु की अंजलि में बहुतसा रस समा गया, परन्तु कुमार के हृदय में आनंद नहीं समाया । परमात्मा के अचिंत्य प्रभाव से रस की एक बूंद भी भूमि पर नहीं गिरी ।

उस समय प्रभु ने एक वर्ष अधिक दीर्घ तप का पारणा किया । प्रभु के पारणे के साथ ही आकाश में देवदुंदुभि बजने लगी । देवताओं ने स्वर्ण तथा पंचवर्णीय फूलों की वृष्टि की । इसके साथ ही सुगंधित जल की वृष्टि की । इस प्रकार प्रभु के पारणे के प्रसंग पर पंच-दिव्य प्रगट हुए । वैशाख सुद तृतीया को दिया हुआ वह दान अक्षय हो गया, आज भी वह दिन **अक्षय तृतीया** के नाम से जाना जाता है । **जगत् में अन्य सभी व्यवहारों का प्रारंभ ऋषभदेव प्रभु ने किया, जबकि दानधर्म का प्रारंभ श्रेयांसकुमार से हुआ ।**

प्रभु के पारणे के प्रसंग को जानकर सभी नर-नारी श्रेयांसकुमार के महल में इकट्ठे होने लगे । कच्छ और महाकच्छ आदि तपस्वी भी प्रभु के पारणे की बात को सुनकर वहाँ आ गए ।

खुश होकर कुछ लोग श्रेयांसकुमार को कहने लगे, ``कुमार ! तुम धन्य हो । प्रभु ने तुम्हारे द्वारा दिया हुआ इक्षु रस भी स्वीकार कर लिया, जबकि उन्होंने हमारी कुछ भी भेंट स्वीकार नहीं की । प्रभु एक वर्ष तक गाँव-नगर व जंगल में घूमे, परन्तु उन्होंने कभी भी हमारा आतिथ्य स्वीकार नहीं किया ।''

``हमारी वस्तु को स्वीकार करना तो दूर रहा, प्रभु ने हम से बातचीत भी नहीं की । जिन्होंने हमारा लाखों पूर्व वर्ष तक पुत्र की तरह पालन किया था, आज वे हमसे सर्वथा अज्ञात बन गए ।''

श्रेयांस ने कहा, ``तुम ऐसा मत सोचो । ये स्वामी पूर्व की तरह परिग्रहधारी राजा नहीं हैं । वे तो संसार का त्याग करने वाले साधु महात्मा हैं । **जो भोग पसंद करते हों, उन्हें स्नान, वस्त्र, आभूषण आदि की अपेक्षा रहती है । भोगों से विरक्त बने प्रभु को इन चीजों की क्या आवश्यकता है ?**

जो काम के अधीन हों, वे कन्याओं को स्वीकार करते हैं, प्रभु तो

कामविजेता हैं, अतः प्रभु के लिए कन्या-कामिनियाँ तो पाषाण की पुतली मात्र हैं ।

जो पृथ्वी को चाहते हों, उन्हें हाथी, घोड़ों की अपेक्षा रहती है, प्रभु ने तो संयम साम्राज्य को स्वीकार किया है, अतः उन्हें अश्व आदि की कोई अपेक्षा नहीं है ।

जो हिंसक होते हैं, वे कच्चे फल आदि ग्रहण करते हैं, प्रभु तो सभी जीवों के अभयदाता हैं, अतः प्रभु तो एषणीय, कल्पनीय और प्रासुक अन्न ही ग्रहण करते हैं । इन बातों को आप जानते नहीं हो ।

``कुमार ! तुम्हें इन बातों का कैसे पता चला ? प्रभु ने हमें शिल्प आदि कलाएँ ही बतलाई हैं, कभी भी इस प्रकार के दान की विधि तो बतलाई नहीं है, फिर तुम्हें कैसे पता चला ?''

युवराज ने कहा, ``प्रभु के दर्शन के साथ ही मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ । प्रभु के साथ मेरा आठ-आठ भवों का संबंध जुड़ा हुआ है ।''

``पूर्व के तीसरे भव में ऋषभदेव प्रभु जब वज्रनाभ चक्रवर्ती के रूप में थे, तब मैं उनका सारथी था । उनके साथ मैंने भी भागवती दीक्षा को स्वीकार किया था । मैंने स्वप्न में मलिन बने मेरुपर्वत को दूध से धोया, इसी स्वप्न के फलस्वरूप मैंने तप से कृश बने प्रभु को इक्षु रस से पारणा कराया ।''

श्रेयांस की इन बातों को सुनकर सभी प्रसन्न हो गए और सभी लोग श्रेयांसकुमार की भावपूर्वक अनुमोदना करने लगे ।

सचमुच, ऋषभदेव के समान उत्तम पात्र, इक्षु रस के समान उत्तम द्रव्य और श्रेयांसकुमार के भावों के समान उत्तम भाव का त्रिवेणी संगम होना अत्यंत ही दुर्लभ है ।

बाहुबली द्वारा स्तूप-निर्माण

छद्मस्थ अवस्था में संपूर्ण मौनपूर्वक रत्नत्रयी की आराधना में तल्लीन बने ऋषभदेव प्रभु सानुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव धारण करते हुए पृथ्वीतल पर विचरण कर रहे थे । इस प्रकार विचरण करते हुए ऋषभदेव प्रभु एक बार संध्या समय बहली देश की राजधानी तक्षशिला नगरी के बाह्य उद्यान में पधारे और कायोत्सर्ग में स्थित हो गए ।

प्रभु के आगमन को जानकर उद्यानपाल ने जाकर बाहुबली को समाचार दिये । संध्याकाल जानकर बाहुबली ने सोचा, ``अभी तो रात्रि होने आई है, अतः प्रातःकाल में ही बड़े आडम्बर के साथ प्रभुदर्शन के लिए जाऊंगा ।''

बाहुबली ने राजकर्मचारियों को नगर को सुशोभित करने के लिए आज्ञा दे दी । बस, राजाज्ञा होते ही सभी मार्गों को साफ कर दिया गया स्थान-स्थान पर तोरण, ध्वजा व पताकाएँ बाँधी गईं ।

परंतु प्रभु तो प्रातःकाल होते ही वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए ।

प्रभुदर्शन की अभिलाषा से बाहुबली को अत्यंत ही आघात लगा । उसकी आँखें अश्रुभीनी हो गईं । वह मन-ही-मन अत्यंत ही पश्चाताप करने लगा । वह सोचने लगा, **``मेरे प्रमाद को धिक्कार हो !''** अहो ! प्रभु मेरी नगरी में पधारे और अभागा ऐसा मैं प्रभु के दर्शन न कर सका, यह मेरा कितना पापोदय है ? अहो ! प्रभु यहाँ प्रतिमा योग में खड़े थे और मैं यहाँ महलों में आराम से रहा । सचमुच, मेरे प्रमाद को धिक्कार हो जिस कारण मैं घर आए प्रभु के दर्शन-वंदन न कर सका ।

बाहुबली को चिंतातुर देखकर उनके मंत्री ने कहा, ``राजन् ! आप चिंता क्यों करते हो ? आपके हृदय-मंदिर में तो प्रभु सदैव प्रतिष्ठित हैं, आप व्यर्थ ही चिंता करते हो । इतना ही नहीं इस भूमि पर प्रभु के चरणों में रहे वज्र, अंकुश, चक्र, कमल, ध्वजा व मत्स्य आदि चिह्न अंकित हैं, अतः उनके दर्शन करके भी आप भाव से प्रभु-दर्शन का आनंद पा सकते हैं ।''

मंत्री की यह बात सुनकर अंतःपुर और परिवार सहित बाहुबली ने भूमि पर रहे प्रभु के चरण-चिह्नों की वंदना की और उन चरण चिह्नों को कोई अपने पैरों से लाँघ न दे, इसलिए वहीं पर रत्नमय आठ योजन लंबा, चार योजन ऊँचा व एक हजार आरे वाला **धर्मचक्र** स्थापित किया ।

उसके बाद बाहुबली ने भक्ति-भाव पूर्वक उस धर्मचक्र की पुष्पों से पूजा की । वह धर्मचक्र सूर्य की भाँति अत्यंत ही तेजस्वी लग रहा था । फूलों से लदा हुआ वह धर्मचक्र पुष्पों के पर्वत की भाँति प्रतीत हो रहा था । उसके बाद बाहुबली ने वहाँ पर संगीत-नाटक आदि से अष्टाह्निक-महोत्सव किया ।

भरत की निःस्पृहता

ऋषभदेव प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही **'यमक'** नाम के उद्यानपाल ने आकर भरत महाराजा को बधाई देते हुए कहा, ``हे स्वामिन् ! आज पुरीमताल नगर के शकटानन उद्यान में युगादिदेव ऋषभदेव प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है । इस बात का निवेदन करते हुए मुझे अत्यंत ही हर्ष हो रहा है, आज आपका भाग्य चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है ।''

इस समाचार को सुनकर भरत की खुशी का पार न रहा ।

उसी समय **'शमक'** नाम के सेवक ने आकर कहा, ``हे स्वामिन् ! अपनी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है, अतः आप उसकी पूजा के लिए पधारें ।''

एक ओर ऋषभदेव प्रभु के केवलज्ञान के समाचार और दूसरी ओर चक्ररत्न की उत्पति के समाचार ! एक बार तो भरत भी सोच में पड़ गया, ``पहले मैं कहाँ जाऊँ ?''

परन्तु दूसरे ही क्षण उसने मनोमन निर्णय कर लिया कि ऋषभदेव प्रभु तो जगत् के प्राणियों के अभयदाता हैं, उनके पास जाऊंगा तो मेरा भी आत्महित होगा; जबकि चक्ररत्न तो अनेक प्राणियों का संहार करने वाला है...उसकी पूजा से मुझे छह खंड का आधिपत्य मिलेगा, परन्तु उसमें आत्महित कहाँ है ? इस प्रकार विचार कर चक्ररत्न की पूजा की उपेक्षा करके भी उसने ऋषभदेव प्रभु के पास जाने का निर्णय कर लिया ।

भरत की विवेक दृष्टि

आत्मकल्याण की सामग्री और भौतिक सुख सामग्री एक साथ सामने उपस्थित होने पर विवेकी आत्मा तो आत्मकल्याण की सामग्री को ही प्रधानता देगा । भूतकाल में अपनी आत्मा ने अनंतबार भौतिक सुख-सामग्री प्राप्त की है, परन्तु उनसे अभी तक आत्मा संतुष्ट नहीं हुई है । भौतिक सुख-सामग्रियों का उपभोग तो आत्मा को हमेशा अतृप्त ही बनाने वाला है, जबकि आत्मकल्याण की सामग्रियों की प्राप्ति महान् पुण्योदय के बिना नहीं हो पाती है...अतः उन सामग्रियों की उपेक्षा करना हितकर नहीं है ।

भरत की विवेकदृष्टि कितनी विकसित बनी हुई थी; उपर्युक्त प्रसंग से हमें यह बात ख्याल में आ जाती है और इसी कारण चक्ररत्न की पूजा की उपेक्षा करके भी उसने आत्मकल्याणकारी ऋषभदेव प्रभु के पास जाने का संकल्प किया ।

मरुदेवा माता को केवलज्ञान

ऋषभदेव प्रभु को हुए केवलज्ञान के समाचार जानकर तत्काल भरत मरुदेवा माता के पास आया । मरुदेवा की स्थिति अत्यंत दयनीय थी । ऋषभदेव प्रभु के द्वारा दीक्षा अंगीकार करने के बाद वह निरंतर रोती रही । निरंतर रुदन के कारण उसकी आँखों का तेज भी समाप्त हो चुका था । मरुदेवा माता निरंतर यही सोचती रहती, ``मेरा बेटा इस पृथ्वी, प्रजा व लक्ष्मी को तृण की भाँति छोड़कर चला गया, अब वह कैसी स्थिति में जी रहा होगा । वाहनों का त्याग कर वह पैदल चलता है । दिव्य भोजन का उसने त्याग कर दिया...पहले सुवर्ण-रत्नों के सिंहासन पर आसीन होता था किन्तु अब वह जंगलों में घूमता है । हाय ! मेरा बेटा ! कितने कष्ट सहन कर रहा है !'' इस प्रकार ऋषभदेव प्रभु के कष्टों को याद कर मरुदेवा माता निरंतर आँसू बहाती !

भरत ने कहा, ``माताजी ! आप निरंतर अपने पुत्र के कष्टों का वर्णन करती रहती हो...अब आप मेरे साथ चलें और अपने पुत्र की समृद्धि देखें...अब तो वे तीन लोक के स्वामी बन चुके हैं ।'' ऐसा कहकर भरत ने मरुदेवा माता को हाथी पर बिठाया और क्रमशः समवसरण की दिशा में आगे बढ़ने लगे ।

कुछ दूरी पार करने पर जैसे ही दूर से समवसरण दिखाई देने लगा, भरत ने मरुदेवा माता को कहा, ``माताजी ! देखो, देवताओं ने प्रभु के लिए समवसरण की रचना की है । वे प्रभु रत्न के सिंहासन पर आसीन हैं । आकाश में देवतागण दुंदुभि का नाद कर रहे हैं । इन्द्र भी प्रभु की स्तुति-गुणगान करते हुए नहीं थक रहे हैं ।''

भरत की इन बातों को सुनकर मरुदेवा के हर्ष का पार ना रहा । आनंद के आँसुओं से नेत्र भर आए । मरुदेवा माता ने अपने नेत्रों से ऋषभदेव प्रभु की अतिशय सहित तीर्थंकरपने की समृद्धि देखी और उसी समय वह

शुभ ध्यान की धारा में लीन बन गई । तत्क्षण मरुदेवा माता क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गई और मात्र अन्तर्मुहूर्त में समस्त घातिकर्मों का क्षय कर केवली बन गई...आयुष्य अत्यंत ही परिमित होने से उसी समय अघाती कर्म भी नष्ट हो गए और मरुदेवा माता अंतकृत केवली हो गई ।

अभी तक ऋषभदेव प्रभु ने चतुर्विध संघ की स्थापना भी नहीं की थी...और उसके पहले ही मरुदेवा माता मोक्ष में चली गई । **इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम साधु व तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभु हुए परन्तु सर्वप्रथम 'सिद्ध' बनने का श्रेय तो मरुदेवा माता को ही मिला ।**

तत्काल देवताओं ने मरुदेवा माता की देह का सत्कार कर उसे क्षीर सागर में डाल दिया । तभी से लोक में मृतक का पूजा-सत्कार प्रारंभ हुआ ।

संघ-स्थापना

एक ओर मरुदेवा माता के निर्वाण से भरत को शोक हुआ तो दूसरी ओर पिता ऋषभदेव प्रभु के दर्शन से भरत के हर्ष का पार न रहा । हाथी पर से नीचे उतर कर भरत ने उत्तर दिशा से समवसरण में प्रवेश किया...प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उसने अत्यंत ही भावपूर्वक प्रभु की स्तुति की ।

तत्पश्चात् ऋषभदेव प्रभु ने वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना प्रारंभ की । इस देशना को सुनकर भरत के पुत्र **ऋषभसेन** आदि अनेक ने दीक्षा अंगीकार की । प्रभु ने **ऋषभसेन (पुंडरीक)** आदि 84 दीक्षितों को गणधर पद पर स्थापित किया । भरत के अन्य 500 पुत्रों व 700 पौत्रों ने भी दीक्षा स्वीकार की । भरत-पुत्र मरीचि ने भी भागवती दीक्षा स्वीकार की । भरत की आज्ञा प्राप्त कर ब्राह्मी ने दीक्षा स्वीकार की और वह प्रथम साध्वी बनी ।

प्रभु की देशना सुनकर सुंदरी भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गई थी...परन्तु भरत के द्वारा इन्कार करने से वह दीक्षा न ले सकी । उसने श्राविका-धर्म स्वीकार किया । भरत ने प्रभु के पास श्रावक धर्म स्वीकार किया । इस प्रकार प्रभु ने चतुर्विध संघ की स्थापना की ।

षट् खंड विजय

प्रभु की देशना-समाप्ति के बाद प्रभु अन्यत्र विहार कर गए । भरत ने विनीतानगरी में प्रवेश किया...वह सीधा आयुधशाला में गया...वहाँ उसने चक्र को प्रणाम किया ।

तत्पश्चात् एक शुभ दिन छह खंड को जीतने के लिए भरत ने प्रयाण किया । प्रयाण के समय हजार यक्षों से अधिष्ठित **चक्ररत्न** सेना के आगे-आगे चलने लगा । **दंडरत्न** को धारण करनेवाला **सुषेण नाम** का **सेनापतिरत्न अश्वरत्न** पर सवार होकर चक्र की तरह आगे चलने लगा । शांति कर्म के लिए **पुरोहितरत्न,** हर पड़ाव में उत्तम भोजन के लिए **गृहपतिरत्न,** सेना के लिए मार्ग में हर प्रकार की व्यवस्था करने वाला **वर्द्धकीरत्न, चर्मरत्न, ध्वजरत्न, मणि, काकिणीरत्न** और **खड्गरत्न** को साथ में लेकर भरत क्रमशः आगे बढ़ने लगा ।

भरत के साथ उसका सैन्य भी चला ।

अपने विशाल सैन्य व शस्त्र के बल से भरत एक के बाद एक देश पर विजय प्राप्त करता ही गया । इस प्रकार 60000 वर्षों में भरत चक्रवर्ती ने छह खंड पर विजय प्राप्त की । उसके बाद उन्होंने अयोध्या की ओर प्रयाण किया । अयोध्याप्रयाण के समय चक्रवर्ती के साथ 14 रत्न, 9 निधि, 64000 देवांगना जैसी स्त्रियाँ, 32000 मुकुटबद्ध राजा, 84 लाख हाथी, 84 लाख घोड़े, 84 लाख रथ, 96 करोड़ पैदल सैन्य था ।

क्रमशः आगे बढ़ता हुआ भरत अयोध्या के निकट पहुँचा । 60,000 वर्षों के बाद भरत का आगमन हो रहा था अतः प्रजाजनों में खुशी का पार नहीं था । भरत चक्रवर्ती के स्वागत के लिए संपूर्ण नगर को विविध द्वारों, तोरण, ध्वजा-पताकाओं आदि से सजा दिया गया ।

शुभ मुहूर्त में बहुत आडंबर के साथ भरत ने नगर में प्रवेश किया । तत्पश्चात् 12 वर्ष तक भरत के राज्याभिषेक का महोत्सव चला ।

सुंदरी की दीक्षा

बारह वर्ष के राज्याभिषेक महोत्सव की समाप्ति के बाद भरत अपने सभी निकट के संबधियों से मिला ।

ब्राह्मी ने जब दीक्षा ली थी, तब सुंदरी भी साथ में ही दीक्षा लेना चाहती थी, परन्तु भरत की अनुमति नहीं मिलने से वह दीक्षा नहीं ले सकी । भरत तो छह खंड को जीतने के लिए चले गए ।

सुंदरी ने सोचा, ``मेरे सुंदर रूप के कारण ही मुझे चारित्र धर्म के लिए अनुमति नहीं मिल पाई है । अहो ! यह सुंदर रूप किस काम का ? इस रूप ने तो मेरे चारित्र में अंतराय उत्पन्न किया है । इस प्रकार विचार कर अपने बाह्य रूप-सौंदर्य को नष्ट करने के लिए और अपने आत्म-सौंदर्य को और अधिक तेजस्वी बनाने के लिए सुंदरी ने आयंबिल तप प्रारंभ किया । पुष्टिकारक आहार के संपूर्ण त्याग और रूखे-सूखे भोजन के कारण उसकी देह लता धीरे-धीरे कृश होने लगी...और देह का सौंदर्य भी नष्ट होने लगा । 60000 वर्षों में तो सुंदरी एकदम सूकी लकड़ीसी हो गई ।

भरत ने सुंदरी को देखा तो वह उसे पहचान नहीं पाया । जब राजसेवकों ने सुंदरी का परिचय दिया, तभी भरत को पता चला कि सुंदरी की यह हालत हो गई है ।

सुंदरी की इस दयनीय स्थिति को देख भरत को अत्यंत ही आघात लगा ।

भरत ने अधिकारी पुरुषों को ठपका देते हुए कहा, ``अरे ! क्या अपने महलों में अनाज का दुष्काल पड़ गया है ? क्या पौष्टिक पदार्थ समाप्त हो गए हैं ? क्या बगीचों में वृक्षों पर फल उगने बंद हो गए हैं ? अथवा सुंदरी के शरीर में कोई रोग पैदा हो गया है ? यदि रोग हो गया हो तो उसका इलाज करने वाले वैद्य विद्यमान नहीं हैं क्या ?''

भरत महाराजा के ठपके भरे इन शब्दों को सुनकर अधिकारी वर्ग ने कहा, ``स्वामिन् ! आपके पुण्य प्रभाव से आपके भवन में किसी भी वस्तु की कमी नही है, परन्तु...।''

``परन्तु क्या ?''

``जब से आपने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया, तब से इस सुंदरी ने सभी प्रकार के सरस आहार का त्याग कर दिया...यह तो एक मात्र प्राणों को धारण करने के लिए रूखा-सूखा अन्न खाती है अर्थात् यह आयंबिल करती है । जब से आपने इसे दीक्षा लेने के लिए इन्कार किया है, तब से यह अनासक्त भाव से जीवन व्यतीत कर रही है ।''

अधिकारी वर्ग के इन शब्दों को सुनकर भरत ने कहा, ``बहिन ! क्या तुम दीक्षा लेना चाहती हो ?''

सुंदरी ने कहा, ``हाँ ।''

सुंदरी की इस भावना को जानकर भरत ने कहा, ``अहो ! मुझे धिक्कार हो, मैंने प्रमादवश इस सुंदरी के चारित्र में अंतराय किया ।''

बस, उसी समय भरत ने सुंदरी को भागवती प्रव्रज्या स्वीकार करने के लिए अपनी अनुमति दे दी । अनुमति प्राप्त कर सुंदरी एकदम खुश हो गई ।

...ओर एक शुभ दिन संसार के मोह के बंधनों को तोड़कर सुंदरी ने आदिनाथ प्रभु के चरणों में भागवती-दीक्षा स्वीकार कर ली । दीक्षा अंगीकार करने के बाद वह रत्नत्रयी की आराधना, साधना में एकदम डूब गई ।

भाइयों द्वारा दीक्षा स्वीकार

एक बार भरत की आज्ञा से दूत ने जाकर 98 पुत्रों को कहा, ``यदि आप राज्य चाहते हो तो भरत महाराजा की सेवा में उपस्थित हों ।''

दूत की यह बात सुनकर 98 पुत्रों ने सोचा, ``पिता ने भरत व हम सभी को बाँटकर राज्य दिया है । अब उसे हमारा राज्य छीनने का क्या अधिकार है ? उसकी सेवा करने से हमें और अधिक तो क्या मिल सकता है ? क्या वह हमें मौत, वृद्धावस्था व आने वाले रोगों से बचा सकता है ? यदि नहीं तो उसकी सेवा से क्या फायदा है ? उसके पास विशाल राज्य है, फिर भी आश्चर्य है कि उसे इससे संतोष नहीं है । यदि वह बलात्कार से राज्य लेना चाहेगा तो हम भी कुछ कम नहीं हैं, हम भी तो उसी पिता के पुत्र हैं ।'' इस प्रकार विचार कर उन्होंने आए हुए दूत को कहा, ``हम इस बात का समाधान ऋषभदेव प्रभु के पास करेंगे ।'' इतना कहकर उन्होंने दूत को विदाई दे दी ।

वे 98 पुत्र ऋषभदेव प्रभु के पास गए । प्रभु को नमस्कार वंदन कर उन्होंने भावपूर्वक प्रभु की स्तुति की ।

उसके बाद उन्होंने कहा, ``हे प्रभो ! आपने हमको व भरत को अपनी-अपनी योग्यतानुसार राज्य बाँटकर दिया है । हम अपने राज्य से संतुष्ट हैं...परन्तु भरत हमारा राज्य छीनना चाहता है ।''

``हे प्रभो ! अपने आप को बड़ा माननेवाले भरत के वचन मात्र से हम कायर की तरह पिता के द्वारा दिए हुए राज्य का त्याग क्यों करें ? हम न तो

राज्य छोड़ना चाहते हैं और न ही भरत की सेवा करना, अतः आप ही कहें, हमें क्या करना चाहिए ?''

अपने 98 पुत्रों के इस निवेदन को सुनकर प्रभु ने अपने ज्ञान बल से देखा, ``ये सभी भद्रिक परिणामी हैं, सरल हैं, इनको यदि आत्मा के शाश्वत साम्राज्य की जानकारी दी जाएगी तो उनका इस राज्य का मोह तुरंत दूर हो जाएगा ।''

अपने 98 पुत्रों को प्रतिबोध देते हुए प्रभु ने कहा, ``हे भव्यो ! अत्यंत द्रोह करनेवाले शत्रुओं के साथ वीर पुरुषों को युद्ध करना ही चाहिए ।'' परन्तु क्या तुम अपने वास्तविक शत्रुओं को पहिचानते हो ?

''राग-द्वेष, मोह, अज्ञान और कषाय ये ही आत्मा के भयंकर शत्रु हैं । यदि इन शत्रुओं को परास्त कर लिया तो इस जगत् में अपना कोई शत्रु नहीं रहेगा । बाह्य शत्रुओं की उत्पत्ति का आधार अंतरंग शत्रु ही हैं । जब तक अंतरंग शत्रु जीवित होंगे, तभी तक बाह्य शत्रु विद्यमान रहेंगे, जिसके अंतरंग शत्रु समाप्त हो गए, उसका इस दुनिया में कोई शत्रु नहीं रहेगा ।

''हे पुण्यात्माओ ! पहले स्वर्ग के सुखों से भी जो आत्मा तृप्त नहीं हुई है वह आत्मा मानव जीवन के क्षणिक-सुखों से कैसे तृप्त हो सकेगी ?''

इस बात को समझाने के लिए ऋषभदेव प्रभु ने एक दृष्टांत देते हुए कहा–

``एक बार कोयला बनानेवाला मनुष्य जंगल में गया । चारों ओर से एक जगह लकड़ियाँ इकट्ठी कर उसने उसमें आग लगाई । दोपहर की भयंकर गर्मी से उसे सख्त प्यास लगी । उसके पास मशक में जो पानी था, वह सारा पानी पी गया, फिर भी उसकी प्यास नहीं बुझी । वह पानी की शोध में चल पड़ा । परन्तु कहीं भी उसे पानी नजर नहीं आया । शारीरिक थकावट के कारण वह एक वृक्ष के नीचे बैठा । वृक्ष की शीतल छाया में ठंडी हवा के कारण उसे नींद आ गई । नींद में उसने एक स्वप्न देखा । स्वप्न में ही वह अपने घर पहुँच गया । अत्यंत प्यास के कारण घर में रहे सभी मटकों के पानी को वह पी गया, फिर भी उसकी प्यास नहीं बुझी । आगे चलने पर एक गहरा कुआँ आया, जिसके पैंदे में थोड़ा सा जल था । कुएं में से पानी निकालने के लिए अन्य साधन तो था नहीं, अतः घास के पूले को डोरी से बाँध कर उसे

कुएँ में उतारा और फिर उसे बाहर खींचने लगा । ऊपर आने तक काफी जल तो उस पूले में से नीचे टपक गया था । उस पूले को बाहर निकालने के बाद वह पुरुष घास के तिनकों पर रही जल की बूँदों को चाटने लगा ।''

``नदी, तालाब व सागर के मीठे जल के पान से जो तृषा शांत नहीं हुई, क्या वह प्यास अल्प जलबूँदों से बुझ सकेगी ?

``बस, इसी प्रकार भूतकाल में स्वर्ग के सुखों से भी जो आत्मा तृप्त नहीं हुई, क्या वह आत्मा मानवीय सुखों से तृप्त हो सकती है ?

``हे पुत्रो ! **यदि तुम तृप्ति चाहते हो तो आत्मा के शाश्वत साम्राज्य को प्राप्त करो । उस साम्राज्य की प्राप्ति के बाद दुनिया की कोई ताकत उस साम्राज्य को लूट नहीं सकेगी । आत्मा के साम्राज्य को पाने के लिए रत्नत्रयी की आराधना-साधना के सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं है ।''**

ऋषभदेव प्रभु की संवेग और वैराग्य वर्धक इस धर्मदेशना को सुनकर 98 पुत्रों के दिल में तत्क्षण इस असार-संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया और उसी समय प्रभु के पास उन्होंने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली । वे सभी अगारी मिटकर अणगार बन गए ।

ऋषभदेव प्रभु की धर्मदेशना का यह कैसा पुण्य-प्रभाव !

राज्य की लिप्सा से आए पुत्रों ने राज्य को तिलांजलि देकर संयम के वस्त्र धारण कर लिये ।

``प्रभु के 98 पुत्रों की कितनी सरलता !!!''

प्रभु के वचनों को सुनकर तत्क्षण त्याग धर्म के साधक बन गए ।

भरत-बाहुबली का युद्ध

भरत महाराजा अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे । चारों ओर वातावरण में प्रसन्नता छाई हुई थी । तभी सुषेण सेनापति ने आकर समाचार दिए, ``हे महाराजा ! रूठे हुए बालक की भाँति चक्ररत्न, नगर में प्रवेश नहीं कर रहा है ।''

भरत चक्रवर्ती ने पूछा, ``क्या कारण है ? क्या छह खंड में अभी भी मेरा कोई शत्रु बच गया है, जो मेरी आज्ञा को शिरोधार्य करने से इन्कार कर रहा हो ?''

सुषेण ने कहा, ``भरत क्षेत्र के छह खंडों को जीतकर आपने समस्त दुश्मनों को पराजित कर सर्वत्र विजयश्री हासिल की है...परन्तु अभी-अभी मुझे पता चला है कि आपके छोटे भाई बाहुबली जी ने अभी तक आपकी आज्ञा शिरोधार्य नहीं की है। आपके अन्य 98 छोटे भाइयों ने तो राज्य का त्याग कर चारित्र धर्म स्वीकार कर लिया है, अतः अब उनके साथ युद्ध का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता...परन्तु बाहुबली बहली देश के राजा हैं, अतः जब तक आप उन पर विजय प्राप्त नहीं करोगे, तब तक आप छह खंड के पूर्ण विजेता नहीं कहला सकते।''

भरत ने कहा, ``अहो ! एक ओर छोटा भाई आज्ञा नहीं मानता यह शर्म की बात है तो दूसरी ओर छोटे भाई से युद्ध करना भी दुःखदायी है।''

सुषेण ने कहा, ``मुझे विश्वास है कि बाहुबलीजी आपके इस धर्म-संकट को दूर कर देंगे। व्यवहार में भी देखा जाता है कि बड़ा भाई जो आज्ञा करे, उसका पालन छोटा भाई करता है। इस हेतु एक दूत को तैयार कर बाहुबलीजी के पास भेजना चाहिए।''

महाराजा भरत ने मंत्री की बात स्वीकार कर ली और सुवेग नाम के दूत को तैयार कर उसे तक्षशिला की ओर रवाना कर दिया।

विनीतानगरी को छोड़ वह दूत ज्यों-ज्यों तक्षशिला नगरी की ओर आगे बढ़ा, त्यों-त्यों उसे अशुभ शकुन होने लगे ! उसका बायाँ नेत्र स्फुरित होने लगा, उसका रथ मार्ग में बार-बार स्खलित होने लगा...बीच मार्ग में से काला सर्प निकला और वायु भी प्रतिकूल बहने लगा। दाहिनी ओर गधा रेंकने लगा। इस प्रकार के अपशकुन होने पर भी स्वामी की आज्ञा होने से वह दूत क्रमशः आगे बढ़ता ही चला।

जैसे ही वह दूत तक्षशिला नगरी के निकट पहुँचा...उसने दूर से नगर की समृद्धि देखी। वहाँ के लोगों का परस्पर वार्तालाप सुना। नगर के बाहर उद्यानों में बँधे हुए हाथियों को देख उसे लगा कि सभी द्वीपों के चक्रवर्तियों के हस्ती रत्न यहाँ लाकर रख दिये हैं। अश्वशालाओं में बँधे घोड़ों को देख उसे लगा मानों सभी अश्वरत्न यहाँ इकट्ठे कर दिए हैं। नगर में प्रवेश करने के बाद सुवेग दूत ने कहीं पर भी भरत का नाम नहीं सुना। यहाँ के लोक-हृदय में बाहुबलीजी की पूर्ण प्रतिष्ठा थी।

सुवेग दूत राजमहल के द्वार पर आया । राजा की ओर से अनुमति मिलने पर दूत ने राजमहल में प्रवेश किया । राजमहल में प्रवेश करने के बाद दूत ने अत्यंत ही तेजस्वी और पराक्रमी बाहुबलीजी को राजसिंहासन पर बैठे हुए देखा ।

सुवेग ने महाराजा के चरणों में प्रणाम किया । तत्पश्चात् महाराजा के इशारे से प्रतिहारी द्वारा दिया आसन ग्रहण किया ।

बाहुबलीजी बोले, ``हे सुवेग ! आर्य भरत सकुशल हैं न ! 60,000 वर्षों तक युद्ध कर छह खंड को जीतकर भरत व उसका सैन्य कुशलपूर्वक लौटा है न ?''

बाहुबलीजी के इन शब्दों को सुनकर दूत ने कहा, ``सारी पृथ्वी को सकुशल बनानेवाले भरत राजा भी सकुशल हैं । छह खंड के विजेता ऐसे भरत की आज्ञा का उल्लंघन करने में कौन समर्थ है ? सभी राजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं, फिर भी उनके मन में चैन नहीं है । सर्वत्र शासन चलता हो परन्तु घर के कुटुम्बीजन ही आज्ञाधीन न हों तो उसका शासन भी उपहास का पात्र माना जाता है । भरत के राज्याभिषेक के प्रसंग पर सभी राजा आदि आए...परन्तु वहाँ एक भी भाई नहीं आया । छोटे भाइयों को नहीं देखकर महाराजा को बड़ा खेद हुआ । 12 वर्ष के राज्याभिषेक महोत्सव की समाप्ति के बाद भी जब कोई भाई नहीं आया, तब उन्होंने सभी के पास दूत भेजे । आपको ज्ञात ही होगा कि 98 भाई, भरत के पास आने के बजाय ऋषभदेव प्रभु के पास चले गए...और प्रभु की देशना सुनकर उन्होंने दीक्षा अंगीकार कर ली । अतः अब आप एक ही बचे हैं । आपके दिल में बंधु के प्रति प्रेम हो तो आप वहाँ चलें और महाराज के हृदय को प्रसन्न करें । अभी तक आप वहाँ नहीं आए, इससे मैं कल्पना करता हूँ कि आप बड़े भाई की अवज्ञा कर रहे हैं ।

``आपका यह अविनय दूसरों को भी अवज्ञा के लिए प्रेरित करता है, अतः उचित तो यही है कि आप वहाँ पधार कर उनकी आज्ञा स्वीकार करें । वे तेज और वय दोनों में आपसे बड़े हैं, अतः राज्य और जीवन की इच्छा हो तो आप उनकी अवश्य सेवा करें ।''

दूत के कड़वे-मीठे वचनों को सुनकर धीर गंभीर वाणी में बाहुबलीजी

बोले, ``हे दूत ! तुम खूब वाचाल लगते हो । बड़े भाई भरत मुझ से मिलना चाहते हैं, यह बात ठीक है, परन्तु मैं वहाँ इसलिए नहीं आया कि सुर-असुर व इन्द्रों की समृद्धि से ऋद्धिमान बने वे हम अल्प वैभववालों से लज्जित होंगे ।

यदि उनमें भ्रातृ-स्नेह होता तो वे अपने छोटे भाइयों को राज्य छोड़ देने की सलाह क्यों देते ? सचमुच, उनमें राज्य का लोभ है । मेरे छोटे भाई तो पिता के पदचिह्नों पर राज्य छोड़कर चले गए हैं...और उनका राज्य भरत ने ले लिया है । क्या वह मेरा भी राज्य लेना चाहता है ? ध्यान रखना, मै वज्र से भी कठोर हूँ । मैं थोड़े वैभववाला हूँ, फिर भी संतुष्ट हूँ । परन्तु विशाल राज्य मिलने पर भी उसे संतोष नहीं है ।

हमने भरत से न कोई देश लिया है, न कोई चीज ली है, फिर वे हमारे स्वामी कैसे हो गए ? उनके व हमारे स्वामी तो ऋषभदेव हैं फिर हम दोनों में स्वामी सेवक का संबंध कहाँ से पैदा हो गया ? मैं तेज का कारण हूँ, मेरे आने से उनका तेज कैसे रह पाएगा ? सूर्य के तेज में सभी तेज विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार मेरे तेज में भरत का तेज भी विलीन हो जाएगा ।

बचपन में मिट्टी के ढेले की तरह मैंने भरत को अपने हाथों से आकाश में उछाल दिया था...और वापस नीचे गिरकर मर न जाय, इसलिए मैंने वापस उन्हें झेल लिया था । मगर अब वे इन बातों को भूल गए लगते हैं ।

``हे दूत ! तुम यहाँ से चले जाओ । मैं तो पिता के राज्य से संतुष्ट हूँ...राज्य व जीवन की इच्छा से वे भले यहाँ आएँ...मुझे वहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं है ।''

महाराजा बाहुबली के इन वचनों को सुनकर आसपास बैठे सभी राजकुमार आदि भी कोपातुर नेत्रों से दूत को देखने लगे ।

उसी समय छड़ीदार ने हाथ पकड़कर दूत को आसन पर से उठा दिया । क्षुब्ध बना हुआ वह दूत सभा में से बाहर निकल गया । सुवेग दूत ने जाकर ये सब बातें महाराजा भरत को सुना दीं ।

सुषेण महामंत्री ने जब ये बातें सुनीं तो उसने अपना अभिप्राय देते हुए कहा, ``अब युद्ध के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं है, अतः शीघ्र ही युद्धप्रयाण की तैयारी प्रारंभ की जानी चाहिए ।''

भरत ने महामंत्री की सलाह स्वीकार कर ली और तत्काल युद्ध-प्रयाण की भेरी बजा दी गई । सारे सैन्य को तैयार होने के लिए आदेश दे दिया गया और एक शुभ दिन भरत ने अपने विशाल सैन्य के साथ तक्षशिला की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया ।

जासूसों के द्वारा जैसे ही बाहुबली को सैन्य सहित भरत के आगमन के समाचार मिले, बाहुबली ने भी अपने सैन्य को सुसज्ज होने के लिए आदेश कर दिया । बाहुबली ने अपने जयेष्ठ पुत्र सिंहरथ को सेनापति बनाया । इधर भरत ने सुषेण को सेनापति बनाया ।

दोनों सेनाएँ आमने-सामने आ डटीं । दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ । वह युद्ध 12 वर्ष तक चला, परन्तु दोनों पक्ष बलवान ही रहे, न कोई हारा, न कोई जीता ।

इस जन-हानि व धन हानि को देखकर, ``किसी भी उपाय से इस युद्ध का अंत लाना चाहिए ।'' इस प्रकार सोचकर देवताओं ने आकर भरत को समझाते हुए कहा, ``आपको ऐसा युद्ध नहीं करना चाहिए, जिससे निरर्थक ही नरसंहार हो ।''

भरत ने कहा, ``लड़ाई की मेरी चाह नहीं है...परन्तु बारह वर्ष तक राज्याभिषेक का महोत्सव चला फिर भी बाहुबली आया नहीं । मैंने उसको बुलाने के लिए दूत भेजा, फिर भी वह आया नहीं । जब तक एक भी राजा चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार न करे, तब तक चक्र नगर में नहीं घुस पाता, मैं तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा हूँ । लड़ने का अन्य कोई कारण नहीं है ।''

देवों ने कहा, ``हम बाहुबली के पास जाकर उसे समझाने की कोशिश करेंगे, शायद वे भी आप ही की तरह युद्ध का कोई कारण बताएंगे तो भी आपको ऐसा अधम-युद्ध तो नहीं करना चाहिए । बड़े पुरुषों को तो दृष्टि, वाक्, बाहु और दंड युद्ध करके हार-जीत का निर्णय कर लेना चाहिए ।''

भरत ने देवों की यह बात स्वीकार कर ली ।

फिर वे देवता बाहुबली के पास आये और बोले, ``हे ऋषभ नंदन ! आप तो जगत् के नेत्र रूपी चकोर को आनंद देने वाले चन्द्र समान हो । समुद्र

की तरह आप कभी भी अपनी मर्यादा नहीं तोड़ते हो । आप ऋषभ स्वामी के पुत्र हो, अतः लोगों का नाश हो, ऐसा युद्ध आपको उचित नही है ।''

देवों की बात सुनकर बाहुबली ने कहा, ``आप मेरे पिता के भक्त हो और हम उनके पुत्र हैं, अतः आपका और हमारा संबंध है इसलिए आप ऐसी बात करते हो । दीक्षा के पूर्व पिताजी ने मुझे जो राज्य दिया, उसी से मैं संतुष्ट हूँ...परन्तु यह भरत छह खंड के साम्राज्य से भी संतुष्ट नहीं है । पिता के द्वारा दिये हुए राज्य को छीनकर उसने अपनी गुरुता ही खो दी है । जिस भरत को छह खंड जीतने में 60,000 वर्ष लगे, परन्तु मैं लेना चाहूँ तो तत्काल ही ले सकता हूँ । अतः यदि उसके हितैषी हो तो आप उसे युद्ध से रोकिये ।''

बाहुबली की यह बात सुनकर देवता भी आश्चर्य में पड़ गए । आखिर उन्होंने कहा, ``आपको अधम-युद्ध नहीं करना चाहिए, युद्ध करना ही हो तो उत्तम युद्ध करो ।'' बाहुबली ने देवताओं की यह बात स्वीकार कर ली ।

बस, दोनों सेनाओं को युद्ध-विराम का आदेश दे दिया गया ।

भरत की हार

शस्त्र-युद्ध के विराम के बाद सर्वप्रथम भरत और बाहुबली के बीच दृष्टियुद्ध प्रारंभ हुआ । सौधर्म और ईशानेन्द्र की भाँति वे एक-दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देखने लगे...परन्तु थोड़ी ही देर में भरत की आँखें बंद हो गईं और उसे हार खानी पड़ी ।

तत्पश्चात् दोनों भाइयों के बीच वाक् युद्ध प्रारंभ हुआ । उस वाक्युद्ध में भी भरत हार गया ।

उसके बाद उन दोनों के बीच बाहुयुद्ध हुआ...उस युद्ध में भी भरत बुरी तरह से हार गया ।

उसके बाद उन दोनों के बीच दंड युद्ध हुआ और उस युद्ध में भी भरत हार खा गया ।

इन सब युद्धों में हुई अपनी हार को जानकर भरत एकदम घबरा गया । वह सोचने लगा, **``गाय घास खाकर दूध बनाती है और वह दूध ग्वाला ही ले जाता है ।** बस, इसी प्रकार छह खंड को जीतने की मेहनत मैंने की और

यह मुझे मार कर मेरे पास से सारा राज्य छीन लेगा । क्या भरत क्षेत्र का मालिक अब बाहुबली हो जाएगा ? एक म्यान में दो तलवार की भाँति क्या एक क्षेत्र में दो चक्रवर्ती हो सकते हैं ?

क्या अब मुझे परास्त कर बाहुबली चक्रवर्ती बन जाएगा ?

भरत इस प्रकार सोच ही रहा था कि यक्षराज ने चक्र लाकर भरत के हाथों में थमा दिया । भरत को विश्वास हो गया कि चक्रवर्ती तो मैं ही हूँ । उस समय उसने चक्र को घुमाया और उसे बाहुबली की ओर फेंक दिया । **चक्रवर्ती का चक्र समान गोत्र वालों को घायल नहीं करता है ।** इस नियम के अनुसार वह चक्र वापस भरत के हाथों में आ गया ।

बाहुबली ने सोचा, ``अहो ! इस भरत ने राज्य के लोभ से युद्ध-नीति का भी उल्लंघन कर दिया है । इस प्रकार अन्याय करनेवाले भरत तथा इसके चक्र को मुष्टिप्रहार कर कुचल दूँ ।''

इस प्रकार विचार कर बाहुबली ने भरत को खत्म करने के लिए अपनी मुट्ठी उठाई और वे दौड़ते हुए भरत के पास पहुँचे...परन्तु यह क्या ? मुट्ठी उठाने के साथ ही बाहुबली के दिमाग में एक अलग ही विचार बिजली की भाँति कौंध उठा और वे सोचने लगे, ``अहो ! इस चक्रवर्ती की तरह मैं भी राज्य का लोभी होकर बड़े भाई का वध करने के लिए तैयार हुआ हूँ, अतः मुझे धिक्कार हो ।'' मेरे पिता ने राज्यलक्ष्मी का सर्वथा त्याग किया है और मैं उसी राज्य के लिए भाई की हत्या करने के लिए तैयार हो गया ।

इस प्रकार विचार कर भरत को मारने के लिए ऊपर उठाई मुट्ठी से बाहुबली ने तत्काल अपने सिर का लोच कर लिया और भरत को कहा, ``बंधुवर्य ! आप मुझे क्षमा करें...मैं अपने पिता के मार्ग पर चलना चाहता हूँ ।''

उस समय देवताओं ने बाहुबली के इस पराक्रम को देख पुष्पवृष्टि की ।

बाहुबली ने मन से ही महाव्रतों को स्वीकार कर लिया । उन्होंने सोचा, ``यदि अभी मैं पिता के पास जाऊंगा तो वय में छोटे और व्रत में बड़े, ऐसे छोटे भाइयों से लघु माना जाऊंगा, अतः यहीं पर खड़ा रहकर ध्यानरूपी अग्नि द्वारा कर्मों को जलाने के बाद जब मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा, तभी मैं

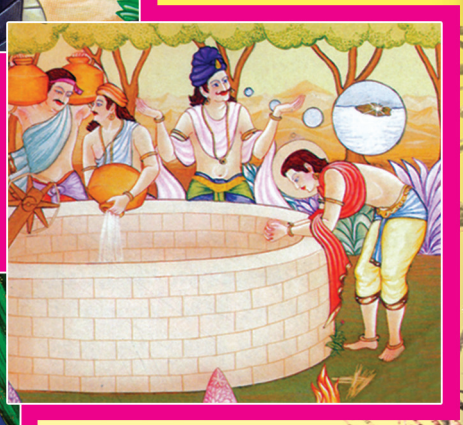

(6) बुद्धिनिधान
अभयकुमार-पृष्ठ नं.45

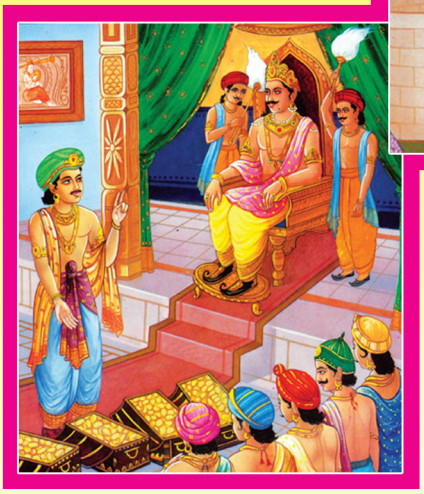

(7) ढंढण अणगार-
पृष्ठ नं.76

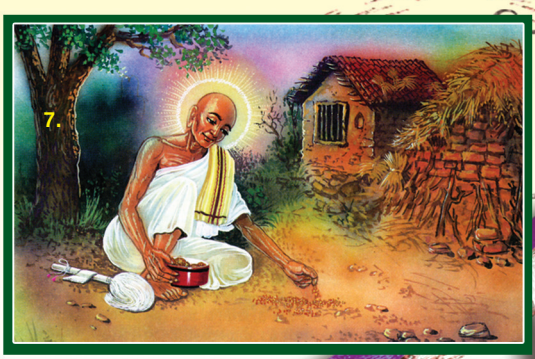

स्वामी की पर्षदा में जाऊंगा ।'' इस प्रकार विचार कर बाहुबली ने कायोत्सर्ग की साधना प्रारंभ कर दी । वे निश्चल होकर ध्यानमग्न बन गए ।

भरत का पश्चाताप

बाहुबली के द्वारा दीक्षा अंगीकार करने के साथ ही भरत को अपने कृत्यों का तीव्र पश्चात्ताप होने लगा । उसने अत्यंत ही भावपूर्वक बाहुबली के चरणों में प्रणाम किया ।

त्याग-धर्म की यह कैसी महानता है ! जो भरत बाहुबली को झुकाना चाहता था, बाहुबली को झुकाने के लिए हर प्रकार का उपाय शोध रहा था, वो ही भरत अब बाहुबली के चरण छूने लगा । उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू आ गए । वह अपने आपको धिक्कारने लगा और बाहुबली के इस महा-पराक्रम की भूरि-भूरि अनुमोदना व प्रशंसा करते हुए बोला, ``हे बंधुवर्य ! आपको धन्य है, आपने इस विशाल राज्य का भी तृण की भाँति त्याग कर दिया और मैं कितना असंतोषी हूँ ? मैंने राज्यप्राप्ति के लोभ से आपको कितना सताया ? वास्तव में आप पिता के सच्चे पुत्र हो...आपने पिता के मार्ग का अनुसरण किया ।'' इस प्रकार अत्यंत ही भावपूर्वक भरत ने बाहुबली मुनि की स्तुति की । उसके बाद बाहुबली के पुत्र **चन्द्रयश** को राजगद्दी पर बिठाकर भरत अपने नगर में आ गया ।

बाहुबली को केवलज्ञान

दीक्षा अंगीकार करने के बाद बाहुबली जी निरंतर एक वर्ष तक कायोत्सर्ग की साधना में स्थिर रहे, अग्नि के समान दोपहर का सूरज उनके सिर पर तपता था, फिर भी वे अपने ध्यान से लेश भी नहीं डिगे । भयंकर गर्मी हो...चाहे भयंकर ठंडी हो...चाहे मूसलधार बारिश हो...परन्तु वे पर्वत की तरह निश्चल रहे । अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी परीषह उनके मन को हिला न सका । कई लताएँ उनके शरीर पर लिपट गईं...कई पंखियों ने उनके शरीर पर घोंसले बना दिये...फिर भी वे निश्चल रहे ।

इस प्रकार एक वर्ष पूरा हो जाने के बाद ऋषभदेव प्रभु ने अपनी पुत्री ब्राह्मी व सुंदरी को कहा, ``अब समय आ चुका है, अतः तुम जाकर बाहुबली को प्रतिबोध दो...तुम्हारे वचनों से वह मान छोड़ देगा । उपदेश के लिए यह योग्य समय है ।''

प्रभु की आज्ञा होते ही ब्राह्मी व सुंदरी साध्वी बाहुबली के पास आईं। वृक्ष की भाँति स्थिर खड़े बाहुबली को देखकर उन दोनों ने कहा, ``हे ज्येष्ठ आर्य ! ऋषभदेव स्वामी ने आपको कहलाया है कि **``हाथी पर सवार पुरुष को कभी केवलज्ञान नहीं होता।''**

बाहुबली महामुनि ने जब ये शब्द सुने तो वे अचरज में पड़ गए। वे सोचने लगे, ``अहो ! मैंने तो सावद्ययोग का सर्वथा त्याग कर दिया है, मैं तो वृक्ष की तरह कायोत्सर्ग में खड़ा हूँ...तो फिर मेरी हाथी की सवारी कैसी ? और इन आर्याओं ने भी महाव्रत स्वीकार किए हैं, ये भी कभी झूठ नहीं बोलती हैं...इस प्रकार विचार करते-करते उन्हें ख्याल आया कि **अहो ! मैं अभिमान रूपी हाथी पर बैठा हुआ हूँ। मुझसे पहले मेरे भाइयों ने दीक्षा स्वीकार की है...उनको नमन नहीं करने की भावना से ही मैं यहाँ खड़ा रहा। अहो ! मेरे अभिमान को धिक्कार हो। अहो ! मुझसे पहले व्रत ग्रहण करने वाले मेरे छोटे भाइयों को वंदना करने की इच्छा नहीं हुई...**अब मैं इसी समय वहाँ जाकर उन्हें वंदन करूंगा ! इस प्रकार विचार कर जैसे ही बाहुबली जी ने छोटे भाइयों को वंदन की भावना से अपना कदम उठाया...तत्क्षण उन्हें केवलज्ञान हो गया। तत्पश्चात् सौम्यदर्शन वाले वे महात्मा ऋषभदेव स्वामी के पास गए...और वहाँ प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर केवली पर्षदा में बैठे।

इस प्रकार अभिमान के कारण बाहुबली का केवलज्ञान अटक गया और जैसे ही उन्होंने अभिमान छोड़ा तत्क्षण उन्हें केवलज्ञान हो गया।

अनासक्त योगी भरत

एक बार ऋषभदेव प्रभु पृथ्वी तल को पावन कर भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए अष्टापद महातीर्थ पर पधारे। शैलरक्षक पुरुष ने प्रभु के आगमन के समाचार भरत महाराजा को दिये। प्रभु के आगमन के समाचार सुनकर भरत महाराजा इतने प्रसन्न हो गए कि तत्काल उन्होंने प्रभु के आगमन की बधाई देने वाले पुरुष को 12.1/2 करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान कीं।

तत्पश्चात् प्रभु के दर्शन की उत्कंठा से भरत अपने विशाल परिवार के साथ अष्टापद की ओर चल पड़े। क्रमशः आगे बढ़ता हुआ भरत अष्टापद पर्वत पर पहुँचा। प्रभु के दर्शन कर वह भाव-विभोर हो गया। उसने समवसरण में प्रवेश किया।

सर्वप्रथम इन्द्र महाराजा ने प्रभु की स्तुति की । उसके बाद भरत महाराजा ने प्रभु की स्तवना की । तत्पश्चात् ऋषभदेव प्रभु ने वैराग्य रस से भरपूर धर्मदेशना दी ।

देशना-समाप्ति के बाद अपने 98 भाइयों को साधु वेष में देखकर भरत महाराजा सोचने लगे, ``अहो ! मैंने यह क्या किया ? मैं कितना लोभी हूँ...मैंने अपने भाइयों का राज्य भी ले लिया । अरे ! **कौए भी दूसरे कौओं को बुलाकर अन्न आदि का भक्षण करते हैं, जबकि मैं तो अकेला ही राज्य भोग रहा हूँ ।''** इस प्रकार विचार कर भरत प्रभु के चरणों में बैठकर अपने छोटे-भाइयों को राज्यग्रहण करने के लिए आग्रह करने लगा ।

भरत की यह बात सुनकर प्रभु ने कहा, ``भरत ! ये तेरे बंधु महा सत्त्वशाली हैं, इन्होंने महाव्रतों की प्रतिज्ञा स्वीकार की है...इन्होंने राज्य व संसार के भोग-सुखों का सर्वथा त्याग कर दिया है । संसार की असारता को समझने वाले ये वमन किए भोगों को स्वीकार नहीं करेंगे ।''

प्रभु का कथन सुनकर चक्रवर्ती भरत ने सोचा, ``ये मेरे त्यागी बंधु राज्य नही लेंगे तो कम-से-कम शरीर को टिकाने के लिए आहार तो लेंगे न !'' इस प्रकार विचार कर भरत ने 500 बैलगाड़ियाँ भरकर आहार की सामग्री मँगवाई और उसने अपने बंधुओं को आहार लेने के लिए आमंत्रण दिया ।

प्रभु ने कहा, **``भरत ! मुनियों के लिए बनाया हुआ आहार आधाकर्मी होने से उनके लिए अकल्प्य है ।''**

इस प्रकार प्रभु द्वारा निषेध करने पर वह निर्दोष भोजन-सामग्री के लिए बंधुओं को आमंत्रण देने लगा ।

तब प्रभु ने कहा, **``भरत ! यह राज पिंड होने से मुनियों के लिए अग्राह्य है ।''**

इस बात से भरत को अत्यंत ही आघात लगा । भरत को दुःखी देखकर उसके चित्त की प्रसन्नता के लिए इन्द्र ने प्रभु को पूछा, ``हे स्वामी ! अवग्रह कितने प्रकार के हैं ?''

प्रभु ने कहा, **``अवग्रह पाँच प्रकार के होते हैं । इन्द्र संबंधी, चक्री संबंधी, राजा संबंधी, गृहस्थ संबंधी और साधु संबंधी । ये अवग्रह उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व के बाधक होते हैं ।**

इन्द्र ने कहा, ``प्रभो ! मेरे अवग्रह में जो मुनि विहार करते हैं, उनको मेरे अवग्रह की आज्ञा है ।'' उसकी यह बात सुनकर भरत ने कहा, ``प्रभो ! सभी मुनियों को मेरे अवग्रह क्षेत्र में विचरण करने की अनुमति है ।''

उसके बाद भरत ने इन्द्र को पूछा, ``लाये हुए अन्न आदि का श्रेष्ठ उपयोग क्या हो सकता है ?'' इन्द्र ने कहा, ``यह सब विशेष गुणवाले पुरुषों को दे दो ।'' भरत ने सोचा, ``साधुओं को छोड़ अन्य गुणवान पुरुष और कौन हैं ?'' फिर ख्याल आया, वैराग्यवान श्रावक भी ऐसे ही गुणवान होते हैं, अतः उन्हीं को देना योग्य है ।''

तत्पश्चात् चक्रवर्ती अपनी नगरी में आया । उसने श्रावकों को बुलाकर कहा, ``आप कृषि आदि काम छोड़कर आराधना में तत्पर रहें...आप सदैव मेरे घर पर ही भोजन करें और हमेशा मुझे सावधान करते हुए कहें,

``जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मान् मा हन मा हन ।''

``आप हारे हुए हैं, भय बढ़ता है, अतः मत मारो, मत मारो ।''

भरत की यह बात सुनकर अनेक श्रावक, चक्री के घर आने लगे और उपर्युक्त वचन बोलने लगे । भरत उन वचनों को सुनकर विचार करता । ``अरे ! मैं किससे हारा हूँ ? किसका भय बढ़ रहा है ? **अहो ! अब ख्याल आ गया, मैं कषायों से हारा हुआ हूँ...और कषायों का ही भय बढ़ रहा है ।''**

इस प्रकार भरत साधर्मिकों की भक्ति के साथ-साथ अपनी आत्म-जागृति बनाए रखते ।

छह खंड के अधिपति भरत महाराजा की यह कैसी आत्मजागृति !!

अष्टापद तीर्थनिर्माण

एक हजार वर्ष न्यून एक लाख पूर्व वर्ष तक पृथ्वीतल पर विचरण कर श्री ऋषभदेव प्रभु ने हजारों-लाखों आत्माओं को प्रतिबोध देकर उन्हें सन्मार्गगामी-मोक्षमार्गगामी बनाया । प्रभु के परिवार में 84,000 साधु, तीन लाख साध्वियाँ 3,00,000 श्रावक व 5,54,000 श्राविकाएँ थीं । 4750 चौदह पूर्वी 9000 अवधिज्ञानी, 20,000 केवली, 600 वैक्रियलब्धि वाले, 12650 मनःपर्यवज्ञानी थे ।

अपना निर्वाणकाल निकट जानकर ऋषभदेव प्रभु अष्टापद पर्वत पर पधारे । वहाँ प्रभु के साथ 10,000 मुनियों ने छह उपवास पूर्वक पादोपगमन नाम का अनशन किया ।

प्रभु द्वारा अनशन स्वीकार के समाचार मिलते ही भरत भी अपने परिवार के साथ अष्टापद पर्वत पर आ गया । उसने पर्यंकासन में बैठे प्रभु को देखा ! उसने प्रभु को प्रदक्षिणा दी...तत्पश्चात् प्रभु के चरणों में बैठ गया ।

तीसरे आरे की पूर्णाहुति के 89 पक्ष बाकी थे, माघ कृष्णा 13 का दिन था । उस दिन अघाति कर्मों का क्षय कर प्रभु ने शाश्वत सिद्ध पद प्राप्त किया । प्रभु के निर्वाण से भरत को अत्यंत ही आघात लगा ।

तत्पश्चात् देवताओं ने प्रभु का विधिपूर्वक अग्नि-संस्कार किया । उसके बाद वे देवता नंदीश्वर द्वीप पर गए और वहाँ पर उन्होंने प्रभु के निर्वाण-कल्याणक का महोत्सव किया । भरत ने प्रभु के अग्निसंस्कार की भूमि पर तीन कोस ऊँचा सिंहनिषद्या नाम का रत्नमय प्रासाद बनवाया । उस मंदिर में 24 तीर्थंकरों के देह प्रमाण वाली रत्नमय प्रतिमाएँ स्थापित कीं ।

उस चैत्य में भरत ने अपने 99 भाइयों की भी रत्नमय प्रतिमाएँ भराईं और प्रभु की सेवा करती हुई एक अपनी प्रतिमा भी स्थापित की ।

उसके बाद उस पर्वत के चारों ओर मेखला के समान ऐसे एक-एक योजन के आठ सोपान बनाए । तभी से वह पर्वत अष्टापद तीर्थ के नाम से प्रख्यात हुआ ।

भरत महाराजा को केवलज्ञान

छह खंड के अधिपति होते हुए भी भरत महाराजा अंतर से सर्वथा अलिप्त थे । ठीक ही कहा है, **''भरत जी मन ही में वैरागी, भरत जी मन ही में वैरागी ।''** 96 करोड़ ग्राम के अधिपति, 64 हजार देवांगना जैसी स्त्रियों के पति, 32,000 मुकुटबद्ध राजाओं के स्वामी, 14 रत्न, 9 निधि, 9 महासिद्धि आदि आदि भौतिक समृद्धि के भोक्ता होते हुए भी वे अंतर से सर्वथा न्यारे थे ।

एक बार भरत महाराजा स्नान कर कीमती वस्त्र व आभूषणों से अलंकृत होकर आदर्शगृह में पधारे । वहाँ अचानक उनकी एक अंगुली में से एक मुद्रिका नीचे गिर पड़ी । अचानक उनकी नजर उस अंगुली पर गई । उन्होंने अंगूठी रहित अंगुली को कांतिहीन देखा । अरे ! यह अंगुली शोभा रहित कैसे हो गई ? उसी समय उन्होंने जमीन पर पड़ी मुद्रिका देखी । वे सोचने लगे, क्या दूसरे अंग भी आभूषण रहित इसी तरह शोभाहीन होंगे ?

इस प्रकार विचार कर वे अपने शरीर पर से एक-एक आभूषण उतारने लगे । मस्तक पर से मुकुट उतारा और वह मस्तक शोभाहीन लगा । तत्पश्चात् कानों में से कुंडल, गले में से हार, हाथों में से भुजाबंध, पैर में से कटक निकाल दिया ।

वे सोचने लगे, **''अहो ! इस शरीर को धिक्कार हो ! आभूषणों से शरीर की कृत्रिम शोभा की जाती है...अंदर तो मल, मूत्र, विष्टा आदि अशुद्ध पदार्थ रहे हुए हैं । जो मनुष्य विषयों का त्याग कर इस शरीर द्वारा तप आदि की साधना करते हैं, वे ही इस शरीर का वास्तविक फल पाते हैं ।''**

इस प्रकार अनित्यादि भावनाओं से भावित हुए भरत महाराजा क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ हुए और वहीं पर घाती कर्मों का सर्वथा क्षय कर वीतराग केवली बन गए ।

उसी समय इन्द्र का आसन कंपित हुआ । इन्द्र ने प्रार्थना की, **''हे भगवंत ! आप द्रव्यलिंग को स्वीकार करें ताकि मैं आपको वंदना करूँ और आपके निष्क्रमण का महोत्सव कर सकूँ ।''**

उसी समय भरत ने पंचमुष्टि लोच किया और इन्द्र द्वारा प्रदत्त श्रमण वेष स्वीकार किया । उसके बाद इन्द्र ने उनको वंदना की...क्योंकि केवलज्ञान होने पर भी अदीक्षित पुरुष को वंदना नहीं की जाती ।

न जातु वंद्यते प्राप्तकेवलोऽपि ह्यदीक्षितः

उसी समय भरत के आश्रित 10,000 राजाओं ने भी दीक्षा ली । इन्द्र ने भरत के पुत्र आदित्ययश का राज्याभिषेक किया । भरत केवली ने 1 लाख पूर्व वर्ष तक पृथ्वीतल पर विचरण कर अनेक जीवों को प्रतिबोध दिया । उसके बाद अष्टापद तीर्थ पर 1 मास का अनशन कर शाश्वत मोक्ष पद प्राप्त किया । देवताओं के साथ इन्द्र ने उनके निर्वाण का महोत्सव किया ।

ब्राह्मी और सुंदरी साध्वीजी का भी अष्टापद पर्वत पर मोक्ष हुआ ।

6. बुद्धि-निधान अभयकुमार

◆ बुद्धि और निर्मल बुद्धि में
बहुत बडा अंतर है ।

बुद्धि तो चोर, तस्कर, मायावी, कपटी
और जासूसी का काम करनेवाले के पास भी होती है ।
परंतु वह बुद्धि क्या काम की जो
संसार घटाने के बजाय
संसार बढ़ाने का ही काम करती है ।

◆ श्रेणिकपुत्र अभयकुमार
ऐसी निर्मल और पवित्र बुद्धि के स्वामी थे,
जिसके बल पर उन्होंने
अपना तो उद्धार किया ही,

परंतु,
अनार्य देश में पैदा हुए आर्द्रकुमार,
क्रूर और निर्दयी कालसौरिक कसाई के पुत्र सुलस,
भयंकर चोर रोहिणेय जैसे
अनेक जीवों का भी उद्धार किया था ।

◆ निर्मल बुद्धि के कारण ही वे
पिता की ओर से प्राप्त होनेवाले
राज्य को भी ठुकराने के लिए
तैयार हो गए थे ।

◆ आइए !
उनके जीवनपट्ट पर अंकित
अनेक प्रेरणादायी प्रसंगों का
विहंगावलोकन कर
अपने जीवन को भी सद्‌बुद्धि से
सुवासित करें ।

6. बुद्धिनिधान अभयकुमार

1. श्रेणिक-सुनंदा !!

औत्पत्यादिधियां योगादभयो मन्त्रिनायकः ।
मुक्तिं ययौ पुरा प्राप्य, विशुद्धां संयमश्रियम् ।।

मगध देश !

राजगृही नगरी !

मगध देश में प्रसेनजित नाम के महाराजा का एकछत्र शासन था । प्रसेनजित राजा अत्यंत ही बलवान और बुद्धिशाली थे । वे दुर्जनों के लिए यम समान व सज्जनों के लिए चन्द्र समान थे ।

उनके राज्य में प्रजा सुख-चैन से रहती थी । किसी को किसी प्रकार की शिकायत नहीं थी ।

प्रसेनजित राजा के कलावती आदि अनेक रानियाँ थीं । उन रानियों ने कुल 100 पुत्रों को जन्म दिया था । उन 100 पुत्रों में श्रेणिककुमार सबसे बड़ा था ।

प्रसेनजित राजा ने अपने सभी पुत्रों को शस्त्र व शास्त्र दोनों विद्याओं का शिक्षण दिया था । उन सब पुत्रों में श्रेणिक खूब होशियार और हर तरह से योग्य था ।

न्याय व नीति से राज्य का पालन करते हुए प्रसेनजित भी वृद्ध हो गए ।

उन्होंने सोचा, ``मेरे जो 100 पुत्र हैं, उनमें राज्य के कार्यभार को वहन करने के लिए कौन सक्षम है ? उसकी मुझे परीक्षा करनी चाहिए ।'' अवसर आने पर योग्य बेटे को राजगद्दी सौंपकर मैं अपनी जवाबदारी से मुक्त हो सकूंगा और उसके फलस्वरूप मैं अपना शेष जीवन धर्म आराधना में व्यतीत कर अपने परलोक को सुधार सकूंगा ।

नीतिशास्त्र में कहा है-**जो पुरुष अपनी पहली अवस्था में ज्ञानोपार्जन, दूसरी अवस्था में धनोपार्जन और तीसरी अवस्था में धर्माचरण नहीं करता है, उसे मृत्यु की वेला में पछताना ही पड़ता है ।**

राजा ने सोचा, ``मुझे अपने परलोक को सुधारने के लिए धर्म आराधना करनी चाहिए और शांति से धर्म आराधना करनी हो तो व्यक्ति को सांसारिक व पारिवारिक जवाबदारियों से मुक्त होना ही चाहिए । इस हेतु योग्य उत्तराधिकारी की शोध जरूरी है ।''

प्रसेनजित राजा बहुत बुद्धिशाली थे । अपने योग्य उत्तराधिकारी की शोध करने के लिए उन्होंने अपने सभी 100 पुत्रों को बुलाया ।

उसके बाद राजा ने होशियार रसोइये को बुलाकर खीर बनवाई । फिर एक विशाल मंडप में अपने 100 पुत्रों को भोजन के लिए बिठा दिया । सभी पुत्रों को थाली में खीर परोस दी । सभी पुत्र खीर खाने लगे, तभी राजा ने 20-25 भूखे शिकारी कुत्ते उस मंडप में छुड़वा दिये ।

उन शिकारी कुत्तों को देखते ही कई राजकुमार तो डर के मारे अपने आसन से खड़े हो गए और मंडप छोड़कर भाग गए । शिकारी कुत्तों ने थालियों में से खीर खानी चालू कर दी ।

कुछ ही क्षणों में एक मात्र श्रेणिक को छोड़कर 99 पुत्र अपने आसन पर से खड़े हो गए और मंडप के बाहर आ गए । उस मंडप में एक मात्र श्रेणिक कुमार बैठकर खीर खा रहा था । वह अपने भाइयों की खीर से भरी थालियाँ उन कुत्तों की ओर फेंकने लगा और इधर खुद भी खीर खाने लगा । इधर उन कुत्तों ने भी पेट भरकर खीर खा ली और श्रेणिक ने भी पेट भरकर खीर खाई ।

थोड़ी ही देर बाद सभी राजकुमार प्रसेनजित राजा के सामने उपस्थित हो गये । **``एक मात्र श्रेणिक ने ही पेट भरकर खीर खाई और बाकी सब ऐसे ही खड़े हो गए ।''** यह बात जानकर प्रसेनजित श्रेणिक की बुद्धिमत्ता को देख मनोमन खुश हो गया, परंतु श्रेणिक को अपनी बुद्धि-चतुराई का अभिमान न आ जाय...और दूसरे भाई ईर्ष्याग्रस्त होकर श्रेणिक का कोई अनर्थ न कर दें, इस हेतु राजा ने श्रेणिक पर कृत्रिम रोष बताते हुए कहा, ``अरे ! इसने तो कुत्तों के साथ भोजन किया है ।''

प्रसेनजित ने श्रेणिक की बुद्धिमत्ता को देख निर्णय किया कि यह दुश्मनों के बीच भी अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकेगा ।

प्रसेनजित राजा को इतने से संतोष नहीं हुआ । उसने अपने पुत्रों की दूसरी बार परीक्षा करने का निर्णय लिया ।

राजा ने अपने सभी पुत्रों को खाजे से भरे हुए करंडिये दिये और कहा, ``इन करंडियों को खोले बिना इनमें रहे खाजों को तुम्हें खाना है ।''

नए मटकों को पानी से भर दिया और उनके ऊपर ढक्कन लगा दिया गया ।

राजा ने कहा, ``इन मटकों के ढक्कन हटाए बिना तुम्हें इनमें से पानी पीना है ।''

पिता की इस विचित्र शर्त को सुनकर 99 पुत्र तो असमंजस में पड़ गए ।

वे सोचने लगे, ``ढक्कन को खोले बिना करंडियों में रहे खाजे कैसे खायेंगे और मटकों में रहे पानी को कैसे पी सकेंगे ?''

परंतु श्रेणिक अत्यंत ही बुद्धिशाली था । पिता के आदेश को वह अच्छी तरह समझ गया ।

श्रेणिक ने उस करंडिये को ऊँचा-नीचा पटका, इस प्रकार करने से उसमें रहे खाजे टूटने लगे और करंडिये में रहे छिद्रों में से उसका भुक्का बाहर आने लगा ।

करंडिये के ढक्कन को खोले बिना श्रेणिक ने उसमें रही खाद्य सामग्री पेटभर कर खा ली ।

नये घड़े में से पानी पीने के लिए उसे एक उपाय सूझ गया । उसने देखा ``मटका नया होने से उसमें से पानी झरता है ।'' उसने मटके के चारों ओर बारीक कपड़ा लपेट दिया । थोड़ी देर में वह कपड़ा गीला हो गया । उस कपड़े को निचोड़कर श्रेणिक ने अपनी प्यास बुझा ली ।

श्रेणिक की इस बुद्धिमत्ता को देखकर प्रसेनजित महाराजा खुश हो गए ।

एक बार प्रसेनजित राजा ने श्रेणिक को जलते हुए घर में से उत्तम वस्तु लाने के लिए आदेश दिया ।

श्रेणिक उस घर के पास गया । एक गद्दी को पानी से भिगोकर...उसे ओढ़कर जलते घर में चला गया और वहाँ से **'भंभा'** नाम के वाद्य-यंत्र को उठाकर ले आया ।

प्रसेनजित राजा खुश हो गए । किसी भी देश पर विजय प्राप्त की जाती है, तो विजय की भंभा (भेरी) बजाई जाती है ।

राजा ने सोचा, ``श्रेणिक ने विजय के प्रतीक रूप यह भंभा (भेरी) उठाई । मेरा पुत्र मेरा उत्तराधिकारी बनने के लिए हर तरह से सुयोग्य है, परंतु अभी इसकी उम्र छोटी है ।''

राज्यप्राप्ति के लोभ में दूसरे भाई इसको कहीं नुकसान न पहुँचावें, इसलिए दूसरे भाइयों के देखते प्रसेनजित राजा ने न तो श्रेणिक की प्रशंसा की और न ही उसे किसी प्रकार का मान-सम्मान दिया ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

श्रेणिक ने सोचा, ``अभी पिताजी राज्य का अच्छी तरह से पालन कर रहे हैं तो क्यों न मैं देशाटन कर जीवन में नए-नए अनुभव प्राप्त करूँ । अन्य-अन्य क्षेत्रों में परिभ्रमण करने से मेरे बुद्धि, बल व भाग्य की भी परीक्षा होगी । इस प्रकार विचार कर रात्रि के समय में हाथ में एक नंगी तलवार लेकर राजमहल के गुप्त मार्ग से श्रेणिक बाहर निकल गया ।

श्रेणिक को आत्म-विश्वास था, अतः वह पूर्णतया निर्भय था । वन के भयंकर दृश्य भी उसे डराने में समर्थ नहीं थे । जंगली प्राणियों की गर्जनाओं को सुनकर भी वह लेश भी भयभीत नहीं हुआ । वह क्रमशः आगे बढ़ता ही गया ।

इस प्रकार आगे बढ़ता हुआ श्रेणिक बेनातट नगर में पहुँच गया । उसने नगर में प्रवेश किया । सामने ही उसने एक बड़ी दुकान देखी । श्रेणिक उस दुकान के बाहर बैठ गया ।

उस दुकान का मालिक **'धन'** नाम का सेठ था । पहले उसके पास अपार संपत्ति थी, परंतु कुछ समय से उसका भाग्य रूठा हुआ था, उसका

व्यापार लगभग ठप्प हो गया था, परंतु यह क्या ? आज `धन' के वहाँ चारों ओर से ग्राहकों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी । सेठ के आश्चर्य का पार न रहा । आज उसे व्यापार में भी काफी मुनाफा हुआ ।

धन सेठ की पुत्री **`सुनंदा'** यौवन वय को प्राप्त हो चुकी थी । सेठ को उसके सुयोग्य वर की चिंता सता रही थी । अनेक प्रयत्न करने पर भी सुनंदा के योग्य वर की प्राप्ति नहीं हो पाई थी । परंतु गत रात्रि के अंतिम प्रहर में अर्थात् आज दिन उगने के पूर्व ही `धन' श्रेष्ठी ने एक स्वप्न देखा था । उस स्वप्न में एक देव ने `धन' को कहा, ``आज प्रातः पूर्व दिशा से एक सुंदर आकृतिवाला युवक तुम्हारी दुकान पर आएगा, वो ही युवक सुनंदा के योग्य `वर' होगा ।'' इस स्वप्न को देखकर `धन' की खुशी का पार न रहा ।

`धन'** श्रेष्ठी ने अपनी दुकान के बाहर बैठे हुए **`श्रेणिक' कुमार को देखा । श्रेणिक की प्रसन्न, सौम्य व तेजस्वी मुखाकृति को देख `धन' खुश हो गया ।

उसने सोचा, ``अहो ! इसी पुण्यशाली के आगमन से मेरा व्यापार आज बढ़ा चढ़ा है और देव ने भी सुनंदा के योग्य वर के लिए जो स्वप्न दिया था, वह योग्य वर यही `कुमार' लगता है ।''

इस प्रकार विचार कर धन ने श्रेणिककुमार को कहा, ``भोजन का समय हो चुका है, आप मेरे अतिथि हो । आप मेरे घर पधारो और मेरे आंगन को पावन करो ।''

श्रेणिक ने उस आमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया । **`धन'** सेठ ने खूब आदर व बहुमान के साथ श्रेणिक को भोजन कराया ।

इसी बीच सेठ की पुत्री सुनंदा ने श्रेणिक को देख लिया । श्रेणिक के रूप और लावण्य ने उसके मन को हर लिया । उसने मनोमन निश्चय कर लिया कि, ***''इस जीवन में मेरा पति होगा तो यही कुमार होगा, अन्य किसी के साथ मैं पाणिग्रहण नहीं करूंगी ।''***

भोजन के बाद धन सेठ और श्रेणिक बैठक खंड में बैठकर बातें कर रहे थे । इसी बातचीत के बीच सेठ ने श्रेणिक को अपनी पुत्री के साथ पाणिग्रहण करने के लिए निवेदन किया । सेठ की तीव्र भावना को देख श्रेणिक ने अपनी मूक सहमति प्रदान कर दी ।

और एक शुभ दिन शुभ मुहूर्त में श्रेणिक और सुनंदा का पाणिग्रहण हो गया ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक दिन सुनंदा की कुक्षि में एक महान् आत्मा का अवतरण हुआ । सुनंदा गर्भवती बनी । सुनंदा की प्रसन्नता बढ़ गई । गर्भ के प्रभाव से उसे दोहद होने लगे ।

``हाथी पर बैठकर राजमार्ग पर दान देती हुई मैं जिनेश्वर भगवंत के दर्शन के लिए जाऊँ और उस समय राजपरिवार भी मेरे साथ चले...आगे चलकर श्रेष्ठ पुष्पों से जिनेश्वर परमात्मा की पूजा करूँ और जीवों को अभयदान दूँ ।''

सुनंदा ने अपने दिल की बात अपनी माता को कही । माता ने सोचा, ``अन्य सब मनोरथ तो पूर्ण हो सकते हैं, परंतु प्रभु के दर्शनार्थ जाते समय इसके साथ राज-परिवार कहाँ से आएगा ?''

सुनंदा सोच में पड़ गई । दोहद की पूर्ति के अभाव में उसकी देहलता सूखने लगी ।

एक दिन धन सेठ ने अपनी पुत्री के मनोरथ की बात श्रेणिक को कही ।

श्रेणिक ने उस मनोरथ को पूर्ण करने का आश्वासन दिया ।

श्रेणिक को पता लगा कि इस नगर के महाराजा की पुत्री सुलोचना राजकुमारी अत्यंत ही रूपवती और गुणवती होते हुए भी जन्म से अंधी है । पुत्री के अंधत्व के कारण राजा भी खूब दुःखी है ।

अनेक बाह्य-उपचार करने पर भी सुलोचना का अंधापन दूर नहीं हो रहा था ।

एक दिन श्रेणिक राजदरबार में उपस्थित हो गया । अन्य औपचारिक बातचीत के बाद उसने राजा से निवेदन किया, ``मैं आपकी राजकुमारी के अंधत्व को दूर कर सकता हूँ ।''

यह बात सुनकर राजा की खुशी का पार न रहा । उसने कहा, ``यदि

तुम मेरी पुत्री को आँखें दिला दो तो मैं तुम्हें अपना आधा राज्य देने के लिए तैयार हूँ ।''

उसी समय श्रेणिक ने कहा, ``राजन् ! आप अपनी पुत्री को पलंग पर सुला दो और सोने के प्याले में ठंडा जल ले आओ ।''

चंद क्षणों में ही श्रेणिक की आज्ञा का पालन हो गया ।

श्रेणिक ने अपनी जेब में से एक रत्न निकाला और उसे पानी के प्याले में डाल दिया । उसके बाद उसने राजकुमारी सुलोचना की आँखों पर वह पानी छाँटा ।

पानी का छँटकाव होते ही राजकुमारी के जीवन में एक बहुत बड़ा चमत्कार हो गया । आज तक उसकी आँखों के सामने जो घोर अंधेरा था, वहाँ चारों ओर प्रकाश-प्रकाश हो गया । उसे दो तेजस्वी नेत्र प्राप्त हो गए । अब वह सब कुछ देखने लगी । उसके आश्चर्य का पार न रहा ।

राजा और सुलोचना, श्रेणिक का खूब-खूब आभार मानने लगे ।

राजा अपना आधा राज्य श्रेणिक को देने के लिए तैयार हो गया । परंतु श्रेणिक ने राज्य लेने से इन्कार कर दिया ।

श्रेणिक ने गर्भ के प्रभाव से सुनंदा को हुए दोहद की बात राजा को कही ।

श्रेणिक के उपकार तले दबा हुआ राजा तत्क्षण सुनंदा के दोहद को पूर्ण करने के लिए तैयार हो गया ।

सुनंदा व सुलोचना दोनों हाथी पर बैठकर प्रभु दर्शन को जा रही थीं, राजा भी अपने पूरे परिवार के साथ उस चैत्य परिपाटी में जुड़ गया । सुनंदा गरीबों को दान देती हुई जिनमंदिर की ओर आगे बढ़ रही थी । आगे चलकर उसने खूब उत्साह-उल्लास व आडंबर के साथ प्रभु के दर्शन किये, श्रेष्ठ पुष्पों से उसने प्रभु की पुष्प-पूजा की ।

सुनंदा का दोहद पूर्ण हो चुका था । उसके आनंद का पार न रहा ।

सुनंदा अपने गर्भ का अच्छी तरह से ध्यान रखने लगी ।

2. मंत्री-पद प्राप्ति

अचानक ही श्रेणिक के कहीं चले जाने से प्रसेनजित राजा खूब दुःखी हो गए । उन्होंने अपने नगर व राज्य में चारों ओर श्रेणिक की तलाश करवाई, परंतु श्रेणिक का कहीं भी पता नही चला ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक बार एक व्यापारी के द्वारा प्रसेनजित राजा को पता चला कि श्रेणिक बेनातट नगर में धन श्रेष्ठी के घर रहा हुआ है ।

प्रसेनजित राजा एकदम वृद्ध हो चुके थे । राज्य के कार्यभार को वहन करने में वे असमर्थ थे । वे अब शीघ्र निवृत्ति चाहते थे । उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था । अतः दूत के साथ पत्र भेजकर श्रेणिक को शीघ्र ही राजगृही में आने के लिए सूचना दी ।

पिता की अस्वस्थता के समाचार जानकर श्रेणिक को अत्यंत ही खेद हुआ । ``पिताजी ने मुझे याद किया है, तो मुझे अवश्य जाना चाहिए ।'' इस प्रकार का निर्णय कर उसने अपने मन की बात धन श्रेष्ठी को कही ।

यद्यपि धन श्रेष्ठी के दिल में श्रेणिक के प्रति खूब अनुराग था, परंतु पिता के आए आमंत्रण को भी वे ठुकराना नहीं चाहते थे । उन्होंने अनिच्छा से श्रेणिक को राजगृही जाने के लिए अनुमति प्रदान कर दी ।

सुनंदा भी श्रेणिक के साथ चलने के लिए तैयार हो गई ।

श्रेणिक ने सुनंदा को समझाया, ``निकट दिनों में तू पुत्र को जन्म देनेवाली है, अतः इस स्थिति में मेरे साथ चलना ठीक नहीं है । तू यहीं पर रह । समय आने पर मैं तुझे बुला लूंगा ।'' जब यह बालक पैदा हो तब उसका नाम **`अभयकुमार'** रखना ।

सुनंदा ने कहा, ``स्वामिन् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हूँ । परंतु जब वह बालक बड़ा होगा और आपका नाम पूछेगा तो मैं क्या जवाब दूंगी ?''

श्रेणिक ने कहा, ``मैं अपना परिचय इस दीवार पर लिख देता हूँ ।'' श्रेणिक ने सांकेतिक भाषा में अपना परिचय दीवार पर लिख दिया और उसके बाद शुभ शकुन देखकर राजगृही की ओर प्रयाण कर दिया ।

क्रमशः आगे बढ़ता हुआ श्रेणिक राजगृही नगरी में पहुँच गया ।

राजगृही में जाकर श्रेणिक ने अपने पिता के चरणों में नमस्कार किया । श्रेणिक को देख प्रसेनजित राजा बहुत खुश हुए ।

...और एक शुभ दिन प्रसेनजित राजा ने श्रेणिक कुमार को राजगृही का राज्य दे दिया । श्रेणिक मगध के सम्राट् बन गए ।

राजगद्दी स्वीकार करने के बाद श्रेणिक ने राज्य की सारी बागडोर अपने हाथों में ले ली । प्रजाजनों के हित के लिए वे अत्यंत ही जागृत थे ।

इधर गर्भकाल व्यतीत होने पर एक दिन सुनंदा ने शुभ मुहूर्त में एक अत्यंत तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

समय बीतने पर उस बालक का **'अभयकुमार'** नामकरण किया गया ।

धीरे-धीरे अभयकुमार बड़ा होने लगा । 8 वर्ष की उम्र में उसका विद्याभ्यास प्रारंभ हो गया । तीक्ष्ण व कुशाग्र-बुद्धि के कारण वह अल्प समय में ही अनेक कलाओं में निपुण बन गया ।

एक बार अभयकुमार अपने मित्रों के साथ खेल रहा था । उस खेल मे अभयकुमार जीत तो गया, परंतु किसी ने मजाक करते हुए कह दिया, ``इसके बाप तो है नहीं और इतनी बड़ाई हाँकता है ?''

मित्र की इस मजाक से अभयकुमार को खूब आघात लगा ।

वह अपने घर आया और माँ से बोला, ``माँ ! माँ ! मेरे पिताजी कहाँ हैं ?''

रोती सूरत में सुनंदा ने कहा, ``तेरे पिताजी यहाँ आए थे । दो वर्ष तक वे यहीं रहे थे । राजकुमार जैसे लगते थे, तेरे जन्म के पूर्व ही वे मुझे छोड़कर चले गए हैं ।''

``वे कहाँ गए हैं ?''

``बेटा ! उन्होंने अपना परिचय सांकेतिक भाषा में इस दीवार पर लिखा है । तू उसे पढ़ेगा, तो तुझे कुछ ख्याल आ सकेगा ।''

बुद्धिनिधान अभयकुमार ने दीवार पर रहे अक्षर पढ़े ।

अभयकुमार तुरंत ही समझ गया कि मेरे पिता राजगृही नगरी के महाराजा श्रेणिक हैं और वे वहाँ राजमहल में रहते हैं ।

``माँ ! मैं अपने पिता के पास जाना चाहता हूँ ।''

``बेटा ! तू जाएगा तो मैं भी साथ चलूंगी । मैं यहाँ अकेली रहकर क्या करूंगी ?''

सुनंदा ने अपने माता-पिता को सारी बात कही । छोड़ने की इच्छा नहीं होते हुए भी आखिर माता-पिता ने सुनंदा व अभयकुमार को राजगृही की ओर जाने की सहमति प्रदान कर दी...और एक दिन सुनंदा व अभय रथ में आरूढ़ होकर राजगृही नगरी की ओर चल पड़े ।

वह रथ तेजी से आगे बढ़ रहा था । कुछ ही दिनों में सुनंदा व अभय, राजगृही नगरी के बाह्य-उद्यान में पहुँच गए ।

अभय ने कहा, ``माताजी ! आप यहीं उद्यान में रहो, मैं नगर में घूमकर आ जाता हूँ ।''

माँ की अनुमति लेकर अभयकुमार नगर में चला गया । आगे बढ़ता हुआ अभयकुमार नगर के मध्य भाग में पहुँच गया ।

उसने एक कुएँ के आसपास सैकड़ों लोगों को इकट्ठे हुए देखा । अभय को खूब आश्चर्य हुआ । ``क्या आज कोई पर्व है-मेला है ?''

अभय ने किसी को पूछा, ``यहाँ इतने लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं ?''

उसने कहा, ``यहाँ के महाराजा श्रेणिक हैं । उनके दरबार में 499 मंत्री हैं, वे उन सब मंत्रियों के ऊपर एक महामंत्री को नियुक्त करना चाहते हैं ।

उनकी इच्छा है कि महामंत्री खूब बुद्धिशाली और प्रतिभावान हो । ऐसे महामंत्री की शोध के लिए उन्होंने प्रजाजनों के सामने एक समस्या रखी है ।

``जो पुरुष इस कुएँ में उतरे बिना कुएँ के बीच पड़ी हीरे की अंगूठी को कुएँ के तट पर खड़े रहकर बाहर निकालेगा, उसे राजा महामंत्री का पद प्रदान करेगा ।

``अभी तक अनेक व्यक्तियों ने अनेक रीति से प्रयत्न किए, परंतु किसी को सफलता नहीं मिल पाई है ।

``सभी सोच में पड़े हुए हैं, कुएँ के भीतर रही अंगूठी को कैसे बाहर निकाला जाये ?''

उस व्यक्ति की यह बात सुनकर अभयकुमार ने कहा, ``क्या इस अंगूठी को बाहर निकालने के लिए मुझे अवसर मिलेगा ?''

``क्यों नहीं ! क्या तुम अँगूठी को बाहर निकाल सकोगे ?''

``अहो ! इसमें क्या बड़ी बात है, यह तो मेरे लिए बिल्कुल आसान बात है ।''

अभय की बात सुनकर वह व्यक्ति अभय को कुएँ के तट पर ले गया ।

अभय ने सभी लोगों को कहा, ``आप सब अपनी बुद्धि आजमा लो । सबके अंत में मैं अपना प्रयत्न करूंगा ।''

कुएँ के आस-पास खड़े लोगों ने कहा, ``हमें तो कुछ भी सूझ नहीं रहा है, अतः तुम ही अपना प्रयत्न कर सकोगे ।''

अभय ने कुएँ के आसपास के क्षेत्र में नजर दौड़ाई । अचानक ही उसने थोड़ी ही दूरी पर पड़े गाय के गोबर को देखा । वह अपने हाथों में गोबर लेकर उस सूखे कुएँ के पास आया और उसने निशाना ताककर वह गोबर कुएँ में पड़ी अँगूठी पर डाल गिया । वह अँगूठी उस गोबर में चिपक गई ।

फिर उसने उस गोबर के आसपास जलते हुए अंगारे डाले । उन अंगारों की गर्मी से वह गोबर सूख गया और कंडा बन गया ।

उसके बाद पास में रहे अरहट के पानी को कुएँ तक लाने के लिए एक नाली बना दी । अरहट का पानी उस सूखे कुएँ में गिरने लगा । थोड़ी देर में वह कुआँ पानी से भर गया । अंगूठी से युक्त वह कंडा पानी की सतह पर तैरने लगा । अभय ने एक लकड़ी के द्वारा वह कंडा अपने पास खींचका लिया और अपने हाथों से उठा लिया । उसने उस कंडे में फँसी अंगूठी बाहर निकाल दी ।

अभयकुमार के इस बुद्धिचातुर्य को देखकर लोग दंग रह गए । सभी लोग मुक्तकंठ से इस छोटे बालक की प्रशंसा करने लगे ।

थोड़ी देर में श्रेणिक महाराजा तक ये समाचार पहुँचा दिये गये ।

श्रेणिक महाराजा स्वयं वहाँ उपस्थित हो गये । राजपुरुषों ने वह छोटा बालक श्रेणिक महाराजा को बतलाया ।

इस छोटे से बालक की बुद्धिमत्ता को देखकर श्रेणिक महाराजा खुश हो गए ।

श्रेणिक के दिल में अभय के प्रति अपूर्व स्नेह उमड़ पड़ा । उन्होंने उस बालक को अपने हाथों में उठा लिया और पूछा, ``तू कहाँ से आया है ?''

``मैं बेन्नातट से आया हूँ ।''

``क्या तू उस नगर में रहनेवाले धन सेठ और उनकी पुत्री सुनंदा को पहिचानता है ?''

``हाँ ! मैं उन्हें अच्छी तरह से पहिचानता हूँ । सुनंदा के एक अभयकुमार नाम का बेटा भी है ।''

श्रेणिक ने पूछा, ``उस बालक की कितनी उम्र होगी ?''

अभय ने कहा, ``उसे मेरी उम्र का समझें ।''

``क्या तू उसको पहिचानता है ?''

``मैं उसे अच्छी तरह से पहिचानता हूँ ?''

``वह अभी कहाँ है ?''

``वह अपनी माँ के साथ उद्यान में आया हुआ है ।''

श्रेणिक को जैसे ही उस बालक द्वारा अपनी पत्नी व पुत्र के आगमन के समाचार मिले, वह अत्यंत ही खुश हो गया । वह उस अभय के साथ नगर के बाहर उद्यान में आ गया ।

श्रेणिक ने अपनी पत्नी सुनंदा को देखा और सुनंदा ने अपने पति श्रेणिक को । दोनों की आँखें परस्पर मिलीं । दोनों के हर्ष का पार न रहा । श्रेणिक ने सुनंदा को पूछा, ``अपना बेटा कहाँ है ?'' तभी सुनंदा ने **'अभय'** की ओर इशारा करते हुए कहा, ``यही तो अपना बेटा अभय है, क्या आप उसे पहिचान नहीं पाए ?''

श्रेणिक ने कहा, ``यह तो बोल रहा था, सुनंदा का बेटा सुनंदा के साथ में है ।''

श्रेणिक ने अभय को पूछा, ``तू ने ऐसा गलत जवाब क्यों दिया ?''

अभय ने कहा, ``मै हमेशा माँ के दिल में रहता हूँ, अतः मैंने सच ही कहा था ।''

अभय की इस चतुराई को देख श्रेणिक खुश हो गए ।

बड़े भव्य महोत्सव के साथ श्रेणिक महाराजा ने सुनंदा व अभय का भव्य नगरप्रवेश कराया और खूब उत्साह के साथ अभयकुमार को 499 मंत्रियों के ऊपर महामंत्री का पद प्रदान कर दिया ।

मंत्रीपद पाने के बाद भी अभय ने अपना शिक्षण चालू रखा । थोड़े ही समय में वह शस्त्र व शास्त्रकला में निपुण बन गया ।

3. बुद्धि-चातुर्य

मगध देश में श्रेणिक महाराजा न्याय व नीति पूर्वक राज्य का पालन कर रहे थे । उसी समय मालवा देश की उज्जयिनी नगरी में चंडप्रद्योत राजा शासन कर रहा था । वह अत्यंत ही पराक्रमी था । उसके अधीन छोटे-मोटे देशों के 16 राजा थे ।

एक बार चंडप्रद्योत राजा ने मगध देश पर आक्रमण करने की योजना बनाई । अपने अधीन रहे 16 राजा तथा अन्य विराट् सैन्य को साथ लेकर वह राजगृही नगरी की ओर आगे बढ़ा ।

इधर गुप्तचरों ने आकर श्रेणिक महाराजा को समाचार दिये कि चंडप्रद्योत राजा अपने विराट् सैन्य के साथ राजगृही नगरी पर हमला करने के लिए आ रहा है ।

उसी समय श्रेणिक महाराजा ने अभयकुमार मंत्री को बुलाकर योग्य मंत्रणा की ।

अभयकुमार ने कहा, **``साम, दाम और भेद नीति से कोई कार्य शक्य न हो, तभी दंडनीति अर्थात् युद्ध का आलंबन लेना चाहिए । जो कार्य अन्य रीति से शक्य हो, उसके लिए युद्ध करना, सिर्फ मूर्खता ही है । युद्ध करने से निष्कारण हजारों जीवों का संहार होता है ।''**

श्रेणिक ने कहा, ``तेरी यह बात बिल्कुल ठीक है । किसी राज्य पर आक्रमण करना उचित नहीं है, परंतु सामने से ही कोई लड़ने के लिए आ जाय, तो उसका प्रतिकार तो अवश्य करना चाहिए । अपने देश पर हुए हमले का हम प्रतिकार न करें, तो वह हमारी कायरता कहलाएगी, शत्रु की

जीत कहलाएगी, लोक में अपना अपयश होगा, अतः आश्रित प्रजाजनों के रक्षण के लिए भी अब युद्ध करना अनिवार्य हो गया है ।''

अभय ने कहा, ``प्रजा का रक्षण करना यह अपना कर्तव्य है, परंतु रक्त की एक बूंद बहाए बिना भी यदि प्रजा का रक्षण और दुश्मन का पलायन हो जाता हो, तो इससे श्रेष्ठ उपाय और क्या हो सकता है ?''

``अभय ! तेरी बुद्धि पर मुझे गर्व है । यदि किसी का भी खून बहाए बिना प्रजा का रक्षण हो सकता हो, तो वह उपाय मुझे मंजूर है । तुम्हें वह सब-कुछ करने की छूट देता हूँ ।''

``पिताजी ! मैं किसी भी उपाय से इस युद्ध को टाल दूंगा और साथ में कहीं भी आपकी मानहानि होने नहीं दूंगा ।''

अभय की यह बात सुनकर श्रेणिक महाराजा खुश हो गए और साथ में चिंतामुक्त भी ।

सोच-विचार कर अभयकुमार ने सारी योजना बना ली । चंडप्रद्योत राजा अन्य 16 राजाओं के साथ 1-2 दिन में ही राजगृही नगरी के बाहर पहुँचने वाला था ।

गुप्तचरों के द्वारा अभयकुमार ने पता लगा लिया कि इन 16 राजाओं के पड़ाव कहाँ-कहाँ होंगे ? उनके पड़ावों का पता चलते ही अभयकुमार ने गुप्त रीति से उस भूमि के नीचे काफी धन गड़वा दिया और ऊपर से भूमि समतल कर दी ।

अभय ने जिस भूमि में धन गड़वाया था, उसी भूमि पर चंडप्रद्योत के साथी राजाओं ने अपने पड़ाव डाले ।

उसके बाद अभयकुमार ने चंडप्रद्योत राजा के नाम एक पत्र लिखा और वह पत्र एक गुप्तचर के द्वारा चंडप्रद्योत राजा तक हाथों-हाथ पहुँचा दिया ।

उस पत्र में अभय ने चंडप्रद्योत को सावधान करते हुए लिखा—

``स्वस्ति श्री राजगृही नगर से आपके शुभचिंतक अभयकुमार का सादर प्रणाम स्वीकार करें । मेरी माता चेल्लणा और आपकी महारानी शिवा देवी के बीच मेरे मन कुछ भी भेद नहीं है । चेल्लणा की तरह शिवादेवी भी मेरे लिए उतनी ही पूज्य हैं । इस संबंध के कारण

आपके हित के लिए निःस्वार्थ भाव से विज्ञप्ति करता हूँ कि मेरे पिता ने कल ही धन का लालच देकर आपके साथी 16 राजाओं को अपने वश में कर लिया है । वे सभी राजा आपको बाँधकर श्रेणिक महाराजा को सौंप देनेवाले हैं । आपको विश्वास न हो, तो उनके पड़ाव की जमीन खुदवा लेना ।'' आपका विश्वासी अभय...

चंडप्रद्योत ने जैसे ही अभय का यह पत्र पढ़ा, वह सोच में पड़ गया । क्या मेरे ही साथी धन के लोभ से फूट गए हैं और मेरे साथ ही द्रोह करेंगे ?

सत्य बात का पता लगाने के लिए चंडप्रद्योत ने पड़ाव की जगह खुदवाकर छानबीन की । जहाँ से खोदा गया, वहाँ से धन निकला । यह जानकर अपने प्राण बचाने के लिए चंडप्रद्योत राजा वहाँ से पलायन कर गया ।

अचानक ही चंडप्रद्योत राजा को पलायन करते देख उसके साथी राजा भी सोच में पड़ गए और अवसर देखकर वे भी वहाँ से पलायन कर गये ।

अभयकुमार ने जाकर श्रेणिक से बात की । श्रेणिक के सैनिकों ने पलायन कर गए चंडप्रद्योत राजा के हाथी, घोड़े, रथ आदि सामग्री को लूट लिया ।

चंडप्रद्योत राजा अपने महल में पहुँच गया । दूसरे दिन वे सब साथी राजा चंडप्रद्योत के दरबार में आए और बोले, ``समस्त राजगृही नगरी को घेर लिया गया था, फिर आपने अचानक ही पलायन क्यों कर दिया ?''

चंडप्रद्योत ने कहा, ``जो रक्षक थे, वे ही भक्षक बन जायें तो फिर क्या किया जाय ? तुम ही धन के लोभ में मेरे साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार हो गए थे । अच्छा हुआ, अभयकुमार ने मुझे सावधान कर दिया, **मूर्ख मित्र के बजाय तो होशियार शत्रु अच्छा है ।''**

चंडप्रद्योत के मुख से यह विचित्र बात सुनकर उन सभी राजाओं ने कहा, ``राजन् ! आप हम पर संपूर्ण विश्वास रखें । हम किसी भी संयोग में स्वामीद्रोह या विश्वासघात करने में राजी नहीं हैं । लगता है, आप उस अभय के प्रपंच को पहिचान नहीं पाए हैं । इस प्रकार भागकर तो आपने अपनी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी है । खोई हुई प्रतिष्ठा को वापस प्राप्त करना कितना कठिन कार्य है ।''

साथी राजाओं की इन बातों को सुनकर चंडप्रद्योत को विश्वास हो गया कि अभयकुमार ने उसके साथ मायाचार किया है ।

चंडप्रद्योत को अपनी भूल का खूब पश्चात्ताप हुआ ।

4-5. धर्म के नाम पर ठगी

उज्जयिनी के सम्राट् चंडप्रद्योत को जब पता चला कि अभयकुमार ने उसे ठग लिया है, तो उसने भी निश्चय किया कि किसी भी उपाय से अभयकुमार को बंदी बनाकर यहाँ लाना होगा ।

चंडप्रद्योत राजा की राजसभा खचाखच भरी हुई थी । उस समय राजा ने घोषणा की, **``जो व्यक्ति अभयकुमार को बंदी बनाकर यहाँ लाएगा, उसे बहुत बड़ा इनाम दिया जाएगा ।''**

राजा की यह घोषणा सुनकर सभा में एकदम सन्नाटा छा गया । एक भी व्यक्ति राजा की इस आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए तैयार नहीं हो पाया ।

किसी ने राजा को सलाह देते हुए कहा, ``राजन् ! बुद्धिनिधान ऐसे अभयकुमार को बंदी बनाना कोई आसान काम नहीं है । यह तो ऐरावत हाथी के दाँत उखाड़ने के समान, असंभव काम है ।

आकाश में रहे तारों को तोड़ना आसान है, परंतु अभय को बंदी बनाना अशक्य कार्य है ।

लोहे के चने चबाना आसान है, परंतु अभय को अपने जाल में फँसाना दुष्कर कार्य है ।

चारों प्रकार की बुद्धि के भंडार अभयकुमार को बंदी बनाने की बात बिल्कुल असंभव सी लगती है ।

काफी समय बीतने के बाद राज-सभा में से **रत्नमंजरी** नाम की वेश्या खड़ी हुई और बोली, ``राजन् ! इस भगीरथ कार्य के लिए आप मुझे आज्ञा करें । मैं शीघ्र ही अभयकुमार को बंदी बनाकर आपकी सेवा में उपस्थित कर दूंगी ।''

वेश्या के इस निवेदन को सुनकर राजा का मन प्रसन्नता से भर आया ।

सभा में बैठे लोग मनोमन तर्क-वितर्क करने लगे । क्या यह वेश्या सचमुच ही अभयकुमार को बंदी बना लेगी ।

चंडप्रद्योत राजा ने उस वेश्या को कहा, ``तुम अपने बुद्धिचातुर्य से अभयकुमार को बंदी बनाओगी, तो तुम्हें बहुत बड़ा इनाम दिया जाएगा । इस कार्य की सफलता के लिए तुम्हें किसी भी वस्तु या धन की जरूरत पड़े, तो उसकी पूर्ति राजकोष में से हो जाएगी ।''

रत्नमंजरी वेश्या ने राजा की आज्ञा शिरोधार्य की ।

अपने भवन में आने के बाद वह वेश्या सोचने लगी, ``अभयकुमार पुरुषों की 72 कलाओं में निपुण है, तथा वह सतत सर्वत्र सावधान रहता है । एक चुटकी मात्र में वह कैसी भी जटिल समस्याओं का समाधान कर देता है । वह हाजिरजवाब है । ऐसे बुद्धिशाली को किस उपाय से ठगा जाय ?'' इस प्रकार सोचते-सोचते बिजली की भाँति उसके दिमाग में एक विचार आ गया । ***''हाँ ! अभयकुमार जैनधर्म का परम उपासक है, देव और गुरु के वचन में उसे अपूर्व श्रद्धा है, अपने समान धर्मी-साधर्मिक को देखते ही वह उसके प्रति फिदा हो जाता है । देव-गुरु और साधर्मिक की सेवा-भक्ति में वह किसी प्रकार की कसर नहीं छोड़ता है । उनकी भक्ति के लिए वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए भी सदैव तैयार रहता है ।''***

अन्य किसी भी उपाय से अभयकुमार को ठगना संभव नहीं है, परंतु उसे धर्मबुद्धि से अवश्य ठगा जा सकता है । इस प्रकार विचार कर जैनधर्म के प्राथमिक आचार-विचार व व्यवहार को जानने के लिए वह सुव्रता साध्वीजी के पास पहुँच गई ।

साध्वीजी को वंदन आदि कर वह नियमित रूप से उनका उपदेश आदि सुनने लगी । इस प्रकार निरंतर संपर्क से वह श्रावकोचित आचार-विचारों में एकदम निपुण बन गई । सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रभु दर्शन, पूजा, गुरु-वंदन, सुपात्र-दान, भक्ष्य-अभक्ष्य, तीर्थयात्रा की विधि आदि-आदि विषयों का उसने सूक्ष्मता से ज्ञान प्राप्त कर लिया और तदनुसार वह उन सब आचारों का पालन भी करने लगी । वह एक कपटी श्राविका बन गई ।

एक दिन राजा की आज्ञा प्राप्तकर दो-तीन सखियों को साथ लेकर रथ में आरूढ़ होकर वह राजगृही नगरी के बाहर पहुँच गई । उसने नगर के बाहर योग्य भूमि में अपने डेरे तंबू डाल दिये ।

उस कपटी श्राविका ने राजगृही नगरी के मंदिरों की चैत्य परिपाटी प्रारंभ की । वह प्रतिदिन प्रभु-पूजा के योग्य वस्त्रों को धारण कर धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य आदि पूजा की सामग्री हाथ में लेकर एक-एक मंदिर में जाने लगी और अत्यंत ही विधि और बहुमान पूर्वक परमात्मा की अष्ट प्रकारी पूजा रूप द्रव्य पूजा और स्तुति-गान-स्तवन-पाठ-चैत्यवंदन आदि भावपूजा करने लगी ।

बगुला भगत की भाँति अपने मन-वचन और काया को एकाग्र कर वह प्रभु के सामने इस प्रकार मधुरकंठ से स्तुति-स्तवन गाती कि सुननेवाले भी उस समय स्तब्ध हो जाते और उसकी भक्ति में तल्लीन बन जाते ।

उसकी इस भक्ति को देख लोग सोचते, ``अहो ! यह कैसी उच्च कोटि की श्राविका है ! प्रभु-भक्ति में यह कितनी तल्लीन हो जाती है । इसने अपने जीवन को सफल बना लिया है ।''

इस प्रकार अनेक चैत्यों की यात्रा कर वह एक दिन श्रेणिक महाराजा के राजभवन में रहे जिनमंदिर में चली गई । उसने पूजा की उत्तम सामग्री भी अपने साथ रखी थी ।

``निसीहि'' आदि कहकर उसने जिनमंदिर में प्रवेश किया । उसके बाद विधिपूर्वक प्रदक्षिणा देने लगी । प्रदक्षिणा के बाद वह प्रभु के बायीं ओर खड़ी रहकर अत्यंत ही मधुरकंठ से स्तुतिगान करने लगी । इसी समय अभयकुमार ने भी प्रभुपूजन के लिए मंदिर में प्रवेश किया ।

कपटी श्राविका के हाव-भाव, भक्ति में तन्मयता, मधुर-कंठ से स्तुति-गान आदि देख अभयकुमार अत्यंत ही प्रभावित हुआ ।

उसने सोचा, ``इसकी भक्ति से लगता है, मानों यह निकटभवी आत्मा है । अहो ! प्रभु-भक्ति में इसकी तन्मयता कैसी है ?''

द्रव्य और भाव पूजा की समाप्ति के बाद वह कपटी श्राविका और अभयकुमार मंदिर से बाहर आए । अभयकुमार ने सोचा, ``यह कोई बाहर गाँव से आई उच्चकोटि की श्राविका है, सुवर्ण पात्र तुल्य इसका आदर-सत्कार और बहुमान करने से मुझे भी विशेष लाभ होगा ।'' इस प्रकार विचार कर अभयकुमार ने कहा, ``बहिन ! आपका आगमन कहाँ से हुआ है ?''

अभयकुमार का प्रश्न सुनकर उसे अपने वाक्चातुर्य में फँसाने के लिए वह बोली, ``हे धर्मबंधु ! संसारी जीव की ज्ञातिवाली मैं चौदह राजलोक रूप नगर में जहाँ-तहाँ भ्रमण करती हुई इस मनुष्यगति रूपी मोहल्ले में क्षेत्र स्पर्शना के योग से आई हूँ ।''

कपटी श्राविका के मुख से तत्त्वज्ञान गर्भित यह जवाब सुनकर अभयकुमार अत्यंत प्रभावित हो गया । वह सोचने लगा, ``अहो ! यह जैन धर्म के तत्त्वज्ञान की विशिष्ट ज्ञाता भी है ।'' इस प्रकार सोचकर अभयकुमार ने कहा, ``बहिन ! जिनमत से वासित अंतःकरण वाले का तो यही जवाब होता है, परंतु मैंने व्यवहारनय की अपेक्षा आपको यह प्रश्न पूछा है । कृपया, आपके आगमन की जानकारी दें ।''

अभय की बात सुनकर दंभ-कला में अत्यंत ही दक्ष, वह कपटी श्राविका बोली, ``हे धर्मबंधु ! पृथ्वीभूषण नगर में रहनेवाले सुभद्र सेठ की मैं पुत्री हूँ । बचपन से ही साध्वीजी भगवंत के समागम के कारण मुझे जैन धर्म में तीव्र रुचि पैदा हुई है । क्रमशः मैंने यौवन वय में प्रवेश किया । **``मानव जीवन की सच्ची सफलता और सार्थकता संयमजीवन के स्वीकार और उसके पालन में ही है ।''** यह सब कुछ जानते हुए भी मोह की पराधीनता के कारण वसुदत्त नामके श्रेष्ठी-पुत्र के साथ मेरा पाणिग्रहण हुआ । विष मिश्रित मोदक तुल्य संसार के भोग-सुखों का अनुभव करते हुए कुछ काल व्यतीत हुआ और कुछ ही वर्षों बाद मेरे पति की मृत्यु हो गई ।

``पति के वियोग से मैं अत्यंत ही दुःखी हो गई । मुझे कहीं भी शांति नहीं मिल पायी । आखिर माता तुल्य साध्वीजी भगवंत ने मुझे बोध देते हुए कहा, ``वत्से ! तू व्यर्थ ही खेद क्यों करती है ? **देवों को भी दुर्लभ ऐसा मानव जीवन तुझे प्राप्त हुआ है, विषय की कदर्थना द्वारा इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ क्यों गँवाती है ? जिनेश्वर भगवंत के मार्ग को तू ने जाना है, समझा है, अतः खेद करना योग्य नहीं है । पति की मृत्यु के बाद अब तू अपना शेष जीवन विशेष प्रकार से धर्म आराधना में व्यतीत कर सकती है ।''** इस प्रकार साध्वीजी भगवंत के उपदेश को सुनने से खूब शांति मिली और तुच्छ सांसारिक सुखों को भूलकर मैं धर्म आराधना में तत्पर बन गई ।''

``एक दिन मैंने साध्वीजी भगवंत के मुख से तीर्थयात्रा की महिमा सुनी । उससे मेरे अन्तर मन में तीर्थयात्रा की भावना पैदा हुई ।

``मैंने अपने दिल की बात अपने पिता से कही । उनकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर एक शुभ दिन मैं तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ी ।''

``शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा कर मैं पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की कल्याणक भूमि काशी में गयी । उस भूमि की स्पर्शना कर चंद्रावती गयी, वहाँ चंद्रप्रभ प्रभु के दर्शन किये ।

``चंद्रावती नगरी में मैने सुना, ``राजगृही नगरी में जैन धर्म उन्नति के शिखर पर है । वहाँ महावीर प्रभु के परम भक्त श्रेणिक न्याय व नीति से राज्य का पालन कर रहे हैं ।

उनके ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमार बुद्धिनिधान हैं और जिनमत का अनुसरण करने वाले हैं । वे अत्यंत ही दयालु हैं और सर्व जीवों को अभय देने में प्रयत्नशील हैं । इस प्रकार राजगृही नगरी और पिता-पुत्र की प्रशंसा सुनकर मेरे दिल में भी इस नगर में आने की इच्छा हो गई । आज मेरा परम सौभाग्य है कि मेरा वह मनोरथ फलीभूत हुआ है । मैंने आपकी जो कीर्ति सुनी थी, उससे भी सवाया यहाँ देखा है । आपके दर्शन कर मेरा जीवन सफल हो गया है ।

हे धर्मबंधु ! आप दीर्घजीवी बनें और दीर्घकाल तक जिनशासन की सेवा करते रहें ।''

कपटी श्राविका के इन वचनों को सुनकर अभयकुमार ने कहा, ``बहिन ! आज मुझे साधर्मिक भक्ति का लाभ देवें ।''

अभयकुमार के इस आमंत्रण को सुनकर उस कपटी श्राविका ने कहा, ``यद्यपि सांसारिक संबंध से तो मैं किसी के घर भोजन के लिए जाती नहीं हूँ, परंतु आपने तो साधर्मिक के नाते आमंत्रण दिया है । आपके इस आमंत्रण को मैं कैसे ठुकरा सकती हूँ ? परंतु आज तो मुनिसुव्रत स्वामीजी की कल्याणक भूमि की स्पर्शना करने से मैंने उपवास किया है ।''

`आज उपवास है तो कल मेरे घर पारणा करना होगा !'

``मंत्रीश्वर ! **तपस्वी को पारणे की चिंता नहीं करनी चाहिए । पारणे का विचार करने से तो तपस्वी तप के फल को भी हार जाता है ।**''

``लेकिन आपकी भक्ति का लाभ फिर मुझे कब मिलेगा ? आप जैसी तपस्विनी की भक्ति करने से तो मेरे भी तप के अंतराय दूर होंगे ।''

``मंत्रीश्वर ! मुझ में वह योग्यता नहीं है, फिर भी आपका अतिआग्रह है, तो साधर्मिक के नाते आपके आग्रह को मैं टाल नहीं सकती । मैं कल आपके घर आने की भावना रखती हूँ ।''

इस प्रकार कहकर वह कपटी श्राविका राजगृही नगरी के बाहर अपने तंबू में चली गई और अभयकुमार भी अपने महल में चले गए ।

दूसरे दिन तपस्विनी श्राविका के पारणे के लिए अभयकुमार ने तैयारी की । अभयकुमार ने पारणे के लिए अनेकविध भोजन सामग्री बनवाई । प्रातःकाल होने के बाद आमंत्रण पूर्वक उस श्राविका को अपने महल में ले आया ।

वह कपटी श्राविका पारणा करने के लिए बैठी तो वह भोजन सामग्री के बारे में खूब पूछताछ करने लगी । कल्प्य-अकल्प्य, कालातिक्रम, भेल-संभेल आदि की सूक्ष्म जानकारी को देख अभयकुमार भी खूब प्रभावित हो गया । अभयकुमार भोजन में जब मिठाई परोसने लगा तो वह बोली, ``जब तक समेतशिखर की यात्रा न हो, तब तक मुझे सभी मिठाई का त्याग है ।''

दूध परोसने लगा तो बोली, ``जब तक मैं दीक्षा अंगीकार न करूं, तब तक मैंने दूध विगई का त्याग किया है ।''

``मुझे 8 द्रव्यों से ज्यादा द्रव्य नहीं लेने की प्रतिज्ञा है ।''

कपटी श्राविका के इस बाह्य त्याग से अभयकुमार खूब प्रभावित हुआ ।

भोजन के बाद मुखवास लेने से भी उसने इन्कार कर दिया ।

जब मंत्रीश्वर वस्त्र-आभूषण आदि देने लगे, तो भी उसने इन्कार कर दिया और बहुत सादी वस्तुएँ ही स्वीकार कीं ।

कपटी श्राविका जब विदाई लेने लगी, तब अभयकुमार ने कहा, ``मेरे योग्य सेवा कार्य फरमाएँ''

उसने कहा, ``आप भी मेरे आवास में पधारकर मुझे साधर्मिक भक्ति का लाभ देवें ।''

अभयकुमार ने उसके आमंत्रण को स्वीकार लिया । दूसरे दिन अभयकुमार उस कपटी श्राविका के तंबू में गया ।

वेश्या ने अभयकुमार को ले जाने के लिए सारा षड्यंत्र रच डाला था ।

अभयकुमार जैसे ही भोजन के लिए बैठा, उस श्राविका ने उत्तम द्रव्यों से उसकी खूब भक्ति की । उसके बाद उस भोजन के साथ, चंद्रहास नाम की मदिरा भी पिला दी ।

थोड़ी ही देर में अभयकुमार को मदिरा का नशा चढ़ने लगा, वे बेहोश होकर भूमि पर ढल पड़े ।

उस वेश्या ने अपने तंबू के पिछले भाग में रथ तैयार ही रखा था । अभयकुमार के मूर्च्छित होते ही दो व्यक्तियों ने अभयकुमार को उठाकर रथ में डाल दिया । वह वेश्या भी उस रथ में चढ़ गई और थोड़े ही क्षणों में वह रथ उज्जयिनी की ओर दौड़ने लगा । पवनवेगी घोड़ों के कारण वह रथ मानों हवा में उड़ने लगा । राजगृही से उज्जयिनी के बीच काफी लंबा रास्ता था । वेश्या ने अपनी योजनानुसार बीच मार्ग में घोड़े बदलने की व्यवस्था कर दी थी ।

अभयकुमार नशे में चकचूर होने के कारण रथ में मूर्च्छित की तरह पड़ा रहा । कुछ ही दिनों में वह रथ उज्जयिनी पहुँच गया । उस वेश्या ने चंडप्रद्योत राजा को समाचार भिजवा दिये ।

तत्काल अभयकुमार को बंदी बना लिया गया । कैद में डालने के बाद अभयकुमार होश में आए ।

वे सोचने लगे, ``मैं यहाँ कैसे आ गया ?'' जब अभयकुमार को पता चला कि एक वेश्या द्वारा धर्म के नाम से ठगी कर उसे लाया गया है तो उसे बड़ा खेद हुआ ।

उसने राजा चंडप्रद्योत को कहा, ``धर्म के नाम पर छल-कपट करना उचित नहीं है । क्षत्रिय पुरुष धर्म के नाम पर ऐसी ठगबाजी कभी नहीं करता है ।''

6. पदानुसारी लब्धि

महामंत्री अभयकुमार के पास पदानुसारी लब्धि थी ।

एक बार राजगृही नगरी में चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा का आगमन हुआ । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । हजारों नर-नारी प्रभु के दर्शन-वंदन हेतु समवसरण की ओर आगे बढ़ने लगे ।

प्रभु की देशना-समाप्ति के बाद श्रेणिक राजा व अभयकुमार आदि नगर की ओर लौट रहे थे, तभी बीच मार्ग में श्रेणिक राजा ने देखा, ``एक विद्याधर आकाश में उड़ने की कोशिश कर रहा था, परंतु कटे हुए पंखवाले पक्षी की भाँति वह विद्याधर पुनःपुनः नीचे गिर पड़ता था ।''

यह दृश्य देख श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ । वह प्रभु के पास आया और उसने विद्याधर के नीचे गिरने का कारण पूछा ।

प्रभु ने कहा, ``यह विद्याधर आकाशगामिनी विद्या के बल से आकाश में उड़ने की कोशिश कर रहा है, किंतु उस मंत्र का एक पद भूल गया है, उसी के परिणामस्वरूप वह नीचे गिर रहा है ।''

उसी समय अभयकुमार ने कहा, ``पिताजी ! मैं उसे मंत्र का अपूर्ण पद याद दिला दूंगा ।''

उसके बाद श्रेणिक व अभयकुमार उस विद्याधर के पास आए ।

अभयकुमार ने उस विद्याधर को कहा, ``मंत्र का एक पद भूल जाने के कारण तुम्हारी विद्या सिद्ध नहीं हो पा रही है, तुम वह विद्या मुझे दो तो मैं तुम्हें भूला हुआ मंत्राक्षर याद करा दूंगा ।''

विद्याधर ने अभयकुमार की शर्त स्वीकार की । विद्याधर ने अभयकुमार को आकाशगामिनी विद्या का मंत्र प्रदान किया ।

अभयकुमार के पास पदानुसारी लब्धि थी । उस लब्धि के प्रभाव से किसी भी मंत्र आदि का एक पद सुन ले तो शेष पदों को वह आसानी से बता सकता था ।

तत्क्षण अभयकुमार ने उस मंत्र में रही भूल बता दी । विद्याधर ने भूल सुधार कर मंत्र का स्मरण किया । उसी समय वह आकाश में उड़ने लग गया ।

परोपकार के साथ ही अभयकुमार महामंत्री को अनायास ही आकाश-गामिनी विद्या भी प्राप्त हो गई ।

7. विद्या-प्राप्ति

श्रेणिक महाराजा के महल के पास ही एक बगीचा था । उस बगीचे में सदैव सभी ऋतु के फल-फूल लगते थे ।

उसी नगरी में एक चांडाल रहता था । उसकी पत्नी गर्भवती थी । गर्भ के प्रभाव से पौष महीने में उसे आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ । सर्दी के दिनों में आम कहाँ से मिलें ? एक दिन उस चांडाल को पता चला कि श्रेणिक महाराजा के महल के पास जो बगीचा है, उस बगीचे में सदाबहार आम्रवृक्ष है, उस वृक्ष पर बारह महीने फल लगते हैं ।

यद्यपि उस बगीचे में कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार प्रवेश नहीं कर सकता था परंतु चांडाल के लिए वह समस्या नहीं थी क्योंकि उसके पास **``आकर्षिणी''** नाम की विद्या थी । उस विद्या के बल से वह वृक्ष पर रहे फलों को आसानी से तोड़ सकता था ।

बस, अपनी पत्नी के दोहद की पूर्ति के लिए वह अपनी विद्या के बल से उस आम के वृक्ष से फल तोड़ने लगा और पत्नी की इच्छा पूरी करने लगा ।

इधर चांडाल द्वारा फल तोड़ने से वह देवता अधिष्ठित आम्रवृक्ष सूखने लगा ।

श्रेणिक को जब इस बात का पता चला तो उसे बड़ा दुःख हुआ । उसने अभयकुमार को कहा, ``किसी भी उपाय से उस चोर को पकड़ना चाहिए ।''

पिता की आज्ञा सुनकर अभयकुमार ने कहा, ``पिताजी ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ...मैं शीघ्र ही उस चोर का पता लगाऊंगा ।'' अभयकुमार ने कुछ युक्ति की और उस युक्ति द्वारा वह चांडाल चोर पकड़ा गया । अभयकुमार ने उस चोर को श्रेणिक राजा के सामने उपस्थित किया ।

आवेश में आकर श्रेणिक ने उस चोर को फाँसी की सजा सुना दी ।

सजा सुनकर अभयकुमार को चांडाल पर दया आ गई । विद्या-सिद्ध इस चांडाल को बचाने के लिए अभयकुमार ने अपने पिता से कहा, ``पिताजी !

इस चांडाल के पास एक **``आकर्षिणी''** विद्या है, तो क्यों न इसे मार देने के पूर्व इसके पास रही आकर्षिणी विद्या आप सीख लें ।''

श्रेणिक को यह बात पसंद पड़ गई । उसने अभयकुमार की बात में ``हाँ !'' भर दी । उसी समय श्रेणिक ने उस चांडाल को बुलाया और उसे विद्या देने की बात कही । श्रेणिक राजा सिंहासन पर बैठे हुए थे और चांडाल भूमि पर बैठा हुआ था ।

चांडाल ने तीन-चार बार वह मंत्र प्रदान किया, किंतु श्रेणिक को वह मंत्र सिद्ध नहीं हो पाया ।

उसी समय अभयकुमार वहाँ उपस्थित हो गया । उसने कहा, **``पिताजी ! आप इस चांडाल से विद्या प्राप्त करना चाहते हैं, परंतु विद्या तो विनय से प्राप्त होती है और आप सिंहासन पर बैठे हो और इसे भूमि पर बिठाया है...तो यह विद्या कैसे सिद्ध होगी ? विद्या पाना है तो इसे ऊपर बिठाना चाहिए और आपको नीचे बैठना चाहिए ।''**

अभयकुमार की यह बात सुनकर श्रेणिक अपने सिंहासन पर से नीचे उतर गए । उन्होंने चांडाल को ऊपर बिठाया । उसके बाद चांडाल ने श्रेणिक को **``आकर्षिणी विद्या''** का मंत्र प्रदान किया ।

श्रेणिक को वह विद्या तत्क्षण सिद्ध हो गई ।

उसके बाद अभयकुमार ने श्रेणिक से कहा, ``पिताजी ! यह चांडाल तो आपका विद्या-गुरु बन गया है । इसे फाँसी की सजा करने से तो गुरु-हत्या का पाप लगेगा...अतः आप इसके अपराध को क्षमा कर दें ।''

अभयकुमार की यह प्रार्थना सुनकर श्रेणिक ने उस चोर को फाँसी की सजा से मुक्त कर दिया ।

बुद्धिमान अभयकुमार ने चोर को भी बचा दिया और उसके पास रही विद्या श्रेणिक राजा को भी प्राप्त करा दी ।

8. बुद्धि कौशल

एक बार श्रेणिक महाराजा की सभा में एक प्रश्न पूछा गया, ``अभी अपने नगर में कौन सी वस्तु सबसे अधिक सस्ती है ?''

इस प्रश्न को सुनकर कुछ क्रूर-निर्दय व्यक्तियों ने कहा, ``अभी मांस सबसे अधिक सस्ता है ?''

यह जवाब सुनकर अभयकुमार को बड़ा खेद हुआ ।

अभयकुमार ने सोचा, ``कुछ ऐसा उपाय किया जाय जिससे इनका बोलना बंद हो जाय ।'' इस प्रकार विचार कर रात्रि के समय में अभयकुमार किसी क्षत्रिय के घर गया और बोला, ``आज महाराजा को भयंकर बीमारी हो गई है, अनेक उपचार करने पर भी महाराजा की बीमारी मिट नहीं रही है, किसी वैद्य ने कहा है कि आदमी के कलेजे के दो टाँक मांस के साथ यह औषध लेंगे तो राजा की बीमारी मिट जाएगी, अतः मैं आपके पास दो टाँक कलेजे का मांस लेने आया हूँ ।''

अभयकुमार की बात सुनकर उस क्षत्रिय ने कहा, ``आप ये हजार सुवर्ण मुद्राएँ ले लो और मुझे मुक्त कर दो, आप राजा के सामने मेरा नाम मत लेना ।''

अभयकुमार ने एक हजार सुवर्ण मुद्राएँ ले लीं, फिर अभयकुमार दूसरे क्षत्रिय के घर गया, वहाँ पर भी वही बात कही, उसने भी हजार सुवर्ण मुद्राएँ दे दीं ।

एक ही रात में अनेक क्षत्रियों के घर से अभयकुमार ने 1 लाख सुवर्ण मुद्राएँ इकट्ठी कर लीं, परंतु कोई भी उसे अपने कलेजे का दो टाँक मांस देने के लिए तैयार नहीं हुआ ।

दूसरे दिन राजदरबार में जब सभी लोग इकट्ठे हुए तब अभयकुमार ने कहा, ``कल तुम लोग कह रहे थे कि अभी मांस सबसे सस्ता है, परंतु मुझे तो इतनी सुवर्ण मुद्राओं से दो टाँक मांस भी नहीं मिला तो फिर बताओ मांस सस्ता कैसे हुआ ?''

अभयकुमार की इस युक्ति को सुनकर सभी क्षत्रिय मौन हो गये ।

अभयकुमार ने समझाया, ***''जगत् में रहे जीव मात्र को अपने प्राण प्यारे हैं, तो अपने निजी स्वार्थ या स्वाद के लिए निर्दोष ऐसे प्राणियों का संहार क्यों करें ।''***

9. बुद्धि-चातुर्य

पंचम गणधर सुधर्मास्वामीजी विहार करते हुए राजगृही नगरी में पधारे । वैराग्य-सभर धर्मदेशना का श्रवण कर लकड़ियाँ बेचनेवाले एक मजदूर ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । संसार से विरक्त वे मुनि संयम-साधना में लीन बन गए ।

गृहस्थ अवस्था में जो जंगल में लकड़ियाँ काटकर...उन लकड़ियों को शहर में बेचकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे, उनको राजगृही नगरी में भिक्षा के लिए मुनि के रूप में भ्रमण करते हुए देखकर कुछ अज्ञानी लोग इस प्रकार की चर्चा करने लगे, ``अहो ! देखो, ये मुनि ! जो पहले लकड़ियाँ बेचकर बड़ी कठिनाई से अपना जीवन निर्वाह करते थे, अब साधु बन गए । अब तो उन्हें सरलता से भरपेट भोजन मिल जाता है । अब इन्हें कोई मजदूरी करने की नहीं है ।''

लोगों की ये बातें जब काष्ठ-भारवाहक नूतन दीक्षित मुनि ने सुनी तो उन्हें बहुत आघात लगा ।

वे इन कर्णकटु वचनों को सहन नहीं कर पाए । लोगों के निंदापूर्ण वचनों को सुनकर नूतन मुनि की समाधि भंग हो गई । वे अपने प्राणप्यारे गुरुदेव सुधर्मास्वामी भगवंत के पास आए और बोले, ``भगवंत ! लोगों की कटु वाणी मुझसे सहन नहीं होती है अतः यहाँ ठहरना उचित नहीं है, आप मुझ पर कृपा करें, हम अन्यत्र चले जाएँ ।''

सुधर्मास्वामीजी ने अत्यंत प्रेम और वात्सल्य से नूतन मुनि को आश्वासन देते हुए कहा, ``वत्स ! थोड़ा, धैर्य रखो । तुम्हारी समस्या का जरूर समाधान होगा ।''

इसी बीच श्रेणिक महाराजा के महामंत्री अभयकुमार सुधर्मास्वामीजी को वंदन करने के लिए आये । वंदन-विधि की समाप्ति के बाद सुधर्मास्वामीजी ने कहा, ``मंत्रीश्वर अभय ! कल यहाँ से विहार करने की भावना रखते हैं ।''

``भगवंत ! ऐसा क्या कारण आ पड़ा ! क्या यह मासकल्प के योग्य क्षेत्र नहीं है ?''

सुधर्मास्वामी ने कहा, ***''जिस क्षेत्र में साधुओं की निंदा होती हो, उस क्षेत्र में साधुओं को रहना उचित नहीं है ।''***

मैंने लकड़हारे को धर्म का उपदेश दिया । उस उपदेश को सुन उसके अन्तर्मन में इस संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव पैदा हुआ । उसने मुझे चारित्ररत्न प्रदान करने के लिए विनती की, उसकी योग्यता और पात्रता को देखकर मैंने उसे सर्वविरति चारित्र धर्म प्रदान किया । संयम स्वीकार कर वे नूतन मुनि अप्रमत्त भाव से रत्नत्रयी की आराधना साधना में जुट गए हैं, परंतु यहाँ के अज्ञानी लोग उन्हें गोचरी के लिए परिभ्रमण करते हुए देखकर कहते हैं, **``अहो ! यह लकड़हारा जा रहा है, मेहनत मजदूरी से बचने के लिए इसने दीक्षा ले ली है ।''**

``लोगों के इन निंदात्मक वचनों को सुनकर नूतन दीक्षित मुनि की समाधि भंग हो गई है, अतः उनकी समाधि के लिए अन्यत्र विहार करना उचित है ।''

सुधर्मास्वामी भगवंत के मुख से इन वचनों को सुनकर अभयकुमार ने कहा, ``भगवंत ! मेरी विनती स्वीकार कर आप एक दिन ठहर जाइए...मैं इस समस्या का समाधान करना चाहता हूँ । मुझे आत्मविश्वास है कि लोगों को अपनी भूल ख्याल में आ जाएगी, फिर भी योग्य समाधान न हो तो आपश्री को जो उचित लगे, कर सकोगे ।''

दूसरे दिन अभयकुमार ने नगर के सुप्रसिद्ध स्थान में रत्नों के तीन ढेर स्थापित कर नगर में उद्घोषणा कर दी, ``जो व्यक्ति अभयकुमार की तीन शर्तों का पालन करेगा उसे रत्नों के तीन ढेर दिए जाएंगे ।''

अभयकुमार ने अपनी तीन शर्तें गुप्त रखी थीं अतः रत्नों के ढेर को पाने की लालसा से वहाँ हजारों लोग इकट्ठे हो गए ।

तत्पश्चात् अभयकुमार ने कहा, ***``जो व्यक्ति जिंदगी भर के लिए स्त्री, अग्नि और कच्चे पानी का स्पर्श नहीं करने की प्रतिज्ञा करेगा, उसे ये रत्नों के ढेर दिए जाएंगे ।''***

अभयकुमार की इन तीन शर्तों को सुनकर लोग सोचने लगे, ``साधु जीवन के स्वीकार बिना इन तीन शर्तों का पालन शक्य नहीं है । जिसे दुनिया के भौतिक सुख पसंद हों, वह इन शर्तों का पालन कर ही नहीं सकता है ।''

रत्नों के ढेर के लोभ से भी कोई व्यक्ति संसार के भौतिक सुखों को

लात मारने के लिए तैयार नहीं हुआ, क्योंकि संसारी जीवों के लिए स्त्री आदि का भौतिक सुख छोड़ना शक्य नहीं है ।

उसी समय वे नूतन दीक्षित मुनि स्थंडिल भूमि से नगर की ओर आ रहे थे । अभयकुमार ने नूतन दीक्षित मुनि को अपने निकट बुलाकर कहा, ``क्या आप स्त्री, अग्नि और कच्चे पानी का स्पर्श करते हैं ?''

नूतन मुनि ने कहा, ``नहीं ! मैंने तो जिंदगी भर के लिए स्त्री, अग्नि व कच्चे पानी के स्पर्श के त्याग की प्रतिज्ञा स्वीकार की है ।''

अभयकुमार ने कहा, ``मैंने यह घोषणा की है कि जो व्यक्ति जीवन भर के लिए स्त्री, कच्चे पानी व अग्नि के स्पर्श का त्याग करेगा, उसे रत्नों के ये तीन ढेर दिए जाएंगे, आपने मेरी तीन शर्तों का पालन किया है, अतः आप रत्नों के ये ढेर ले जाएँ ।''

नूतन मुनि ने कहा, **``स्त्री आदि के त्याग की तरह मैंने धन के परिग्रह का भी त्याग किया है, इन रत्नों के ढेर की भी मुझे जरूरत नहीं है । मेरे लिए तो रत्नों का यह ढेर भी धूल के समान ही है ।''**

अभयकुमार ने लोगों को समझाते हुए कहा, ``मेरी इन शर्तों के अनुसार ये मुनि इन रत्नों के ढेर के अधिकारी हैं, परंतु ये मुनि इन रत्नों के ढेर को लेने से इन्कार कर रहे हैं, तो क्या इन मुनि का त्याग कम है ? इतनी धन-संपत्ति को वे छोड़ रहे हैं तो फिर तुम लोग उनकी निंदा क्यों करते हो ?''

अभयकुमार के इन वचनों को सुनकर अज्ञानी लोगों की शंकाएँ दूर हो गईं...वे अपनी भूल स्वीकार करते हुए बोले, ``मंत्रीश्वर ! नूतन मुनि के इस अपूर्व त्याग को हम समझ नहीं पाए...हमारी भूल हो गई । आप हमें क्षमा करें । भविष्य में हम कभी ऐसी भूल नहीं करेंगे ।''

अभयकुमार ने अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा मुनिनिंदा के पाप को दूर कर दिया ।

10. भागवती दीक्षा

अभयकुमार श्रेणिक राजा के ज्येष्ठ पुत्र थे । एक बार श्रेणिक स्वयं अभयकुमार को राज्य प्रदान करने के लिए तैयार हुए ।

उस समय अभयकुमार ने कहा, ``मैं प्रभु से एक प्रश्न पूछकर वापस आता हूँ...उसके बाद आपकी बात पर विचार करूंगा ।'' इतना कहकर अभयकुमार वीर प्रभु के पास जा पहुँचा ।

प्रभु को वंदन आदि कर अभयकुमार ने प्रभु से प्रश्न किया, ``प्रभो ! आपके शासन में अब कोई राजा दीक्षा ग्रहण करेगा ?''

प्रभु ने कहा, ``अभय ! नहीं ! मेरे शासन में अंतिम राजर्षि उदायन हो चुके हैं । अब कोई राजा मेरे शासन में दीक्षा स्वीकार नहीं करेगा ।''

प्रभु के इस वचन को सुनकर दीक्षाभिलाषी अभय पिता के पास आकर बोला, ``पिताजी ! यदि मैं राजा बनूंगा तो फिर दीक्षा अंगीकार नहीं कर सकूंगा, क्योंकि प्रभु ने कहा है कि मेरे शासन में अंतिम राजर्षि उदायन हो चुके हैं ।''

श्री वीर प्रभु जैसे स्वामी और आपके पुत्रपने को प्राप्त करके भी यदि मैं अपने भव का उच्छेद नहीं करूँ तो मेरे जैसा अधम और कौन होगा ?

अभी तो मैं नाम से ही अभय हूँ, परन्तु इस संसार से मैं अत्यंत ही भयभीत हूँ, अतः समस्त भुवन को अभय देने वाले प्रभु की शरण में जाना चाहता हूँ ।

अतः मात्र अभिमान का क्षणिक सुख देने वाले ऐसे राज्य से मुझे कोई मतलब नहीं है, मुझे तो आत्मा का अखंड साम्राज्य चाहिए ।

श्रेणिक के आग्रह करने पर भी अभय ने जब राज्य स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तो श्रेणिक ने उसे दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर दी...और एक शुभ मुहूर्त में अभयकुमार संसार के समस्त मोह बंधनों का त्याग कर अगारी मिटकर अणगार बन गया ।

प्रभु के चरणों में निरतिचार संयम धर्म का पालन कर अभय मुनि अत्यंत समाधिपूर्वक देह का परित्याग कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव बने । वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में मानव-जन्म धारण कर दीक्षा लेंगे और क्रमशः शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करेंगे ।

7. ढंढण अणगार

नेमिनाथ प्रभु के 16000 शिष्य थे,
परंतु उन शिष्यों में
वृद्धिंगत परिणामवाले थे, श्रीकृष्ण पुत्र
ढंढण अणगार !

छह-छह मास तक अन्न-जल के
अभाव में भी जिनके मन के परिणाम
लेश भी विचलित नहीं हुए !

छह मास के उपवास के बाद भी
मोदक को परठने की क्रिया
करते-करते उनके मन के
परिणाम की धारा कितनी वृद्धिंगत
हुई होगी कि जिसके फलस्वरूप
वे केवलज्ञान के स्वामी बन गए ।

7. ढंढण अणगार

कर्मान्तरायं नो कुर्यात्, पर्यालोच्यायतौ हितम् ।
ग्रासमात्रमपि प्रायो, यथा न प्राप ढण्ढणः ।।

द्वारिका के अधिपति कृष्ण महाराजा के एक पुत्र का नाम था-**ढंढण कुमार !**

रूप और लावण्य की साक्षात् मूर्ति समान ढंढणकुमार ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । शस्त्र और शास्त्रकला में अत्यंत निपुण ढंढणकुमार, कामदेव की भाँति प्रतीत होता था । कृष्ण महाराजा ने अनेक रूपवती कन्याओं के साथ अपने पुत्र ढंढणकुमार का पाणिग्रहण कराया । भोग-सुखों में मस्त ढंढणकुमार के दिन आनंदपूर्वक व्यतीत होने लगे ।

एक बार पृथ्वीतल को पावन करते हुए नेमिनाथ प्रभु द्वारिका नगरी में पधारे । देवताओं ने आकर तीन गढ़ों से युक्त अत्यंत ही अद्भुत समवसरण की रचना की ।

कृष्ण महाराजा को ज्योंही प्रभु के आगमन का पता चला, त्योंही वे भी अपने विशाल परिवार के साथ समवसरण में आए । प्रभु के चरणों में नमस्कार कर कृष्ण महाराजा योग्य स्थान पर बैठ गए ।

इस बार ढंढणकुमार भी कृष्ण महाराजा के साथ समवसरण में आया हुआ था ।

भव्य जीवों के उपकारी नेमिनाथ प्रभु ने भवनिस्तारिणी वैराग्यमय धर्मदेशना प्रारंभ की । परमात्मा ने अपनी धर्मदेशना में जगत् के नग्न स्वरूप का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया । **``यह संसार स्वार्थमय है ! पापमय है और दुःखमय है । संसार के सारे संबंधों में स्वार्थ की बदबू रही हुई है । संसार के क्षणिक सुख के लिए कितने भयंकर पाप करने पड़ते हैं जिसकी सजा आत्मा**

को भविष्य में, परलोक में अवश्य भुगतनी पड़ती है । संसार के समस्त सुख, दुःख रूप हैं, दुःखफलक हैं और दुःख की परंपरा को बढ़ानेवाले हैं । उन सुखों में राग करने से, उन सुखों में पागल बनने से, उन सुखों में आसक्त बनने से आत्मा का भयंकर अहित होता है । भूतकाल में अपनी आत्मा ने देवलोक आदि के भवों में अनंत बार संसार के भोग-सुखों का स्वाद लिया है, फिर भी आत्मा को अभी तक तृप्ति का अनुभव नहीं हुआ है । संसार के भोग-सुख, ज्यों-ज्यों भोगे जाएँ त्यों-त्यों तृप्ति होना तो दूर रहा, उनको अधिक पाने की तृषा ही बढ़ती जाती है ।

''हे महानुभावो ! महान् पुण्योदय से तुम्हें उत्तम मानव भव की प्राप्ति हुई है । इस उत्तम भव को प्राप्त कर आत्मकल्याण के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए । इस उत्तम भव को प्राप्त कर प्रमाद के अधीन हो गए तो आत्मा की भयंकर दुर्गति हो जाएगी ।''

परमात्मा के मुखारविंद से इस वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना को सुनकर ढंढणकुमार का हृदय वैराग्य रंग से रंजित हो गया । उसके हृदय में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य की भावना पैदा हो गई और वह संयम लेने के लिए अत्यंत ही उत्सुक बन गया ।

और एक दिन ढंढणकुमार ने अपने माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त कर नेमिनाथ प्रभु के चरण कमल में भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

नूतन मुनि को हित शिक्षा देते हुए कहा, ***''मुनि को मात्र छह कारणों से ही आहार ग्रहण करना चाहिए । (1) क्षुधा वेदना के उपशमन के लिए, (2) अन्य मुनियों की वैयावच्च के लिए, (3) संयम के पालन के लिए, (4) शुभ ध्यान में स्थिर रहने के लिए, (5) प्राणरक्षा के लिए और (6) विहार के लिए ही मुनि को आहार ग्रहण करना चाहिए तथा छह कारण उपस्थित होने पर आहार का त्याग करना चाहिए–***

''1. रोग आने पर 2. मोह का उदय होने पर 3. स्वजनादि का उपसर्ग होने पर 4. जीवदया का पालन करने के लिए 5. तप करने पर तथा 6. शरीर का त्याग करते समय आहार नहीं लेना चाहिए ।''

परमात्मा की इस हितशिक्षा को अस्थिमज्जावत् बनाकर ढंढण अण-

गार आसक्ति रहित होकर प्रासुक अन्न का उपभोग करते हुए पृथ्वीतल पर विचरने लगे ।

एक बार ढंढण मुनि को अंतराय कर्म का तीव्र उदय हुआ । वे जब भी भिक्षा के लिए जाते तब उन्हें निर्दोष भिक्षा नहीं मिल पाती ।

अपने इस लाभांतराय कर्म के उदय को जानकर ढंढण मुनि लेश भी उद्विग्न नहीं हुए बल्कि उन्होंने अभिग्रह ले लिया, **``जब मुझे अपनी लब्धि से भिक्षा प्राप्त होगी, तभी आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं ।''**

इस प्रकार का अभिग्रह लेकर वे पृथ्वीतल पर विचरने लगे, परंतु कहीं से भी उन्हें अपनी आत्म-लब्धि से भिक्षा प्राप्त नहीं हुई ।

एक बार वे प्रभु के साथ द्वारिका नगरी में पधारे । विश्वपूज्य नेमिनाथ प्रभु के शिष्य और तीन खंड के अधिपति कृष्ण महाराजा के पुत्र होने पर भी उन्हें अपनी लब्धि से भिक्षा प्राप्त नहीं हुई ।

एक बार ढंढण मुनि के साथ दूसरे मुनि भी गोचरी के लिए निकले तो उन्हें भी आहार की प्राप्ति नहीं हुई । इस बात को जानकर किसी मुनि ने नेमिनाथ प्रभु को पूछा, ``प्रभो ! ढंढण मुनि ने ऐसे कौन से कर्म का बंध किया है, जिस कारण उन्हें अपनी लब्धि से भिक्षा प्राप्त नहीं हो रही है ?''

नेमिनाथ प्रभु ने कहा, ``ढंढण मुनि के इस पापोदय को जानने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तांत सुनो ।''

``पूर्वकाल में **धान्यपुर** नगर में **पारासर** नाम का ब्राह्मण रहता था । राजा ने उसे किसी गाँव से करवसूली आदि का अधिकार दिया ।''

एक बार उसके अधीन रहे किसान खेत में हल चला रहे थे, भोजन का समय होने पर वे किसान खाने की तैयारी करने लगे । सभी को अत्यंत तीव्र भूख लगी हुई थी । बैल भी थक चुके थे । फिर भी उस पारासर ने उन किसानों को भोजन के लिए अनुमति नहीं दी और बोला, ``तुम मेरे खेत में एकबार और हल चला दो, उसके बाद तुम भोजन करना ।''

पराधीन उन किसानों ने अनिच्छा से भी उस पारासर की आज्ञा का पालन किया । किसान व बैलों के भोजन में अंतराय करने से उस पारासर ने अंतराय कर्म का बंध किया ।

वही पारासर अनेक भवों में भटकने के बाद कृष्ण-पुत्र ढंढण बना । किसानों व बैलों के भोजन में विघ्न डालने से बँधे हुए अंतराय कर्म का अभी उदय हुआ है और उसी के परिणामस्वरूप उसे आहार लाभ में अंतराय हुआ है । फिर भी वे मुनि अदीन बनकर उस अलाभ परिषह को सहन कर अपूर्व कर्मनिर्जरा कर रहे हैं ।

प्रभु के मुख से यह वृत्तांत सुनकर अन्य महात्मा भी ढंढण मुनि की प्रशंसा करने लगे ।

एक बार नेमिनाथ प्रभु समवसरण में बैठकर धर्मदेशना दे रहे थे । धर्मदेशना के अंत में कृष्ण महाराजा ने प्रभु को पूछा, ``हे प्रभो ! आपके इन हजारों मुनिवरों में उत्कृष्ट परिणाम वाले महात्मा कौन हैं ?''

प्रभु ने कहा, **``ऐसे तो अनेक मुनि संयम-तप व परिषहों को सहन कर रहे हैं, परंतु उन सब में उत्कृष्ट परिणाम वाले ढंढण अणगार हैं, जो अलाभ परिषह को अत्यंत ही समतापूर्वक सहन कर रहे हैं ।''**

यह सुनकर कृष्ण महाराजा सोचने लगे, ``धन्य है ढंढण मुनि को ! जिन्होंने अपने पवित्र चरित्र द्वारा मेरे कुल को भी उज्ज्वल किया है और जिसकी प्रशंसा प्रभु भी कर रहे हैं ।''

कुछ ही क्षण बाद कृष्ण ने पुनः पूछा, ``हे प्रभो ! वे महात्मा अभी कहाँ हैं ? मैं भी उनके दर्शन करना चाहता हूँ ।''

प्रभु ने कहा, ``वे महात्मा अभी भिक्षा के लिए गए हुए हैं और वे तुम्हें सामने मिलेंगे ।''

इस बात को सुनकर श्रीकृष्ण महाराजा हाथी पर बैठकर नगर की ओर आगे बढ़े । कुछ ही समय बाद उन्हें दूर से आ रहे ढंढण अणगार के दर्शन हुए । महात्मा की काया कृश थी, परंतु उनके मुखमंडल पर अपूर्व तेज था । तुरंत ही वे अपने हाथी पर से नीचे उतरे और उन्होंने महात्मा को तीन प्रदक्षिणा सहित भावपूर्वक वंदना की ।

उसके बाद कृष्ण महाराजा अपने राजभवन की ओर आगे बढ़े ।

इधर जब कृष्ण महाराजा महात्मा को वंदन कर रहे थे, तब यह दृश्य किसी गृहस्थ ने झरोखे में से देख लिया । उसने सोचा, ``ये कोई प्रभावशाली

महात्मा लगते हैं, जिन्हें कृष्ण भी नमस्कार करते हैं।'' इस प्रकार विचार कर वह गृहस्थ ढंढण मुनि को अपने घर ले गया और उसने महात्मा को सिंह केसरिया मोदक बहोराया ।

ढंढण मुनि गोचरी बहोरकर प्रभु के पास आए और बोले, ``हे प्रभो ! आपकी कृपा से आज मेरा अभिग्रह पूर्ण हुआ है ।''

प्रभु ने कहा, ``तेरा अभिग्रह अभी तक पूर्ण नहीं हुआ है, यह भिक्षा तुम्हें अपनी आत्मलब्धि से नहीं मिली है, बल्कि कृष्ण द्वारा की गई स्तुति के प्रभाव से मिली है ।''

ढंढण मुनि को आहार ग्रहण किए हुए छह मास बीत चुके थे । उनका शरीर कृश बन गया था । फिर भी प्रभु के मुख से अपने अभिग्रह की अपूर्णता जानकर लेश भी दीन नहीं हुए...और तुरंत ही अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस प्राप्त किए आहार को परठने के लिए स्थंडिल भूमि की ओर आगे बढ़ने लगे ।

सुयोग्य स्थंडिल भूमि में उस मोदक को परठते हुए वे सोचने लगे, **``मेरी आहार की आसक्ति को धिक्कार हो ! अहो ! आज प्रभु ने मेरे अभिग्रह का रक्षण किया सो बहुत अच्छा हुआ । केवलज्ञान के बिना सूक्ष्म भावों को कौन जान सकता है ?**

धन्य है उन सिद्ध भगवंतों को, जो आहार की वृत्ति-प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त बने हुए हैं । आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो अणाहारी पद ही है । अहो ! कब वह पद मुझे प्राप्त होगा ?''

इस प्रकार अपने पापों की तीव्र आलोचना और सिद्धस्वरूप के ध्यान में लीन बने ढंढण अणगार उसी समय क्षपक श्रेणी पर चढ़ गए और मोदक को चूर्ण करने की बाह्य क्रिया करते-करते उन्होंने आत्मा पर लगे कर्मों को भी चूर-चूर कर दिया । तत्क्षण घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देवताओं ने आकर उनके केवलज्ञान का महोत्सव किया । देवताविरचित स्वर्णकमल पर बैठकर ढंढणमुनि भी भव्य जीवों के प्रतिबोध के लिए धर्मदेशना देने लगे ।

और अंत में आयुष्य की पूर्णता के साथ अघाती कर्मों का भी संपूर्ण क्षय कर मोक्ष चले गए ।

8-17. ब्रह्मचर्य सम्राट्-स्थूलभद्र

सामान्यतया तीर्थंकरों का नाम
तीन चौबीसी तक अमर रहता है ।
परंतु
स्थूलभद्र महामुनि का नाम
84-84 चोबीसी तक
अमर रहेगा ।

❑ एकांत या निर्जनभूमि में रहकर
काम का नाश करना
तो भी आसान है ।
परंतु
काम के प्रबल निमित्तों के बीच
रहकर भी
काम का नाश करना,
अत्यंत ही दुष्कर कार्य है ।
ऐसे
अतिदुष्कर कार्य को करनेवाले
स्थूलभद्र महामुनि को
कोटि कोटि वंदन !

समाधि साधक-श्रीयक

स्थूलभद्रस्वामी के लघु बंधु श्रीयक के जीवनप्रसंगों का विहंगाव-लोकन करने पर उनके जीवन की कई विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं ।

(1) नंद राजा की ओर से सामने से मंत्री-मुद्रा ग्रहण करने का आमंत्रण होने पर भी स्वयं इन्कार करना और ज्येष्ठ बंधु को मंत्रीपद प्रदान करने की विनती की ।

(2) भागवती-दीक्षा अंगीकार करने के बाद एक मात्र बहन साध्वीजी की प्रेरणा से संवत्सरी के पवित्र दिन उपवास तप की साधना की ।

यद्यपि उनके लिए उपवास तप की साधना अत्यंत ही कठिन थी, फिर भी बहन साध्वी की आत्मीयता-सभर प्रेरणा को स्वीकार कर अपने दाक्षिण्य गुण का परिचय दिया ।

क्षुधा की तीव्र वेदना में भी जिन्होंने सद्‌गति हासिल की ।

8-17. ब्रह्मचर्य सम्राट् स्थूलभद्र और श्रीयक तथा यक्षा आदि सात बहिनें

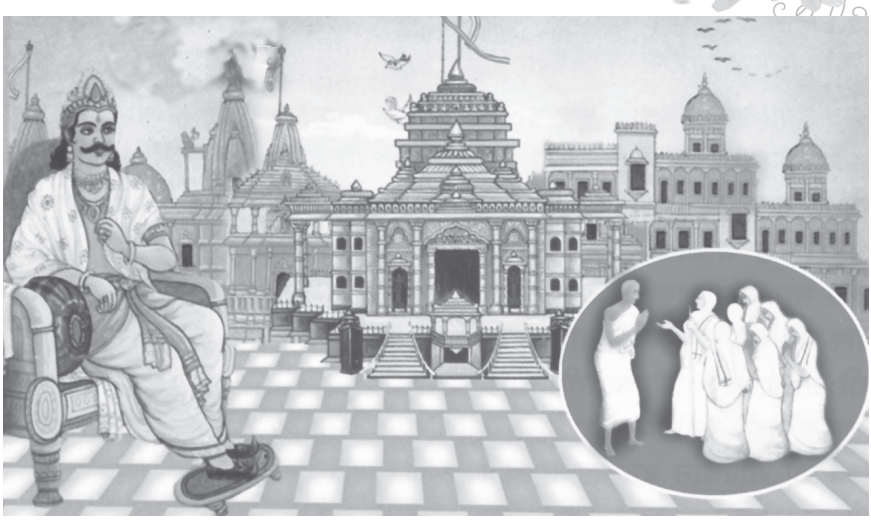

बलेन कार्यमाणोऽपि, तपः कर्म पुमान् स्फुटम् ।
लभते स्वर्ग सौख्यानि, द्रुतं श्रीयकवत् स्फुटम् ।।

स्तुति

है नाम ही महामंत्र जो, करे वासना का उपशमन,
चौरासी चौबीसी करेंगे, नाम का पावन स्मरण;
जय जय हो स्वामी स्थूलभद्र ! मेरु सम दृढ व्रतधरा,
प्रभु वीर पाट परंपरा को, भाव से करूं वंदना ।।

भारत देश !
पाटलिपुत्र नगर !!
नौवाँ नंद राजा !!!

नंद राजा अत्यंत ही पराक्रमी और प्रजावत्सल था । उस राजा के

कल्पक वंश के कुलतिलक समान **शकटाल** नाम का मुख्य मंत्री था जो अत्यंत ही न्यायप्रिय और बुद्धिनिधान था । उस मंत्री के **लक्ष्मीवती** नाम की मुख्य स्त्री थी । सद्धर्म प्रवृत्ति में वह अत्यंत ही आदरवाली थी । शील ही उसके जीवन का सर्वश्रेष्ठ अलंकार था ।

शकटाल मुख्यमंत्री के दो पुत्र थे । ज्येष्ठ पुत्र का नाम स्थूलभद्र था, जो अत्यंत ही बुद्धिशाली, तेजस्वी और रूपवान था । कनिष्ठ पुत्र का नाम श्रीयक था, जो अत्यंत ही कर्त्तव्यनिष्ठ और पराक्रमी था ।

शकटाल मंत्री के **यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा और रेणा** नाम की सात पुत्रियाँ थीं । सबसे बड़ी पुत्री यक्षा की यह विशेषता थी कि वह कुछ भी पाठ एक बार सुनती तो उसे बराबर याद रह जाता । दूसरी पुत्री यक्षदिन्ना कुछ भी पाठ दो बार सुनती तो उसे याद रह जाता । तीसरी पुत्री भूता कुछ भी पाठ तीन बार सुनती तो उसे याद रह जाता । इस प्रकार क्रमशः चौथी, पाँचवीं, छठी व सातवीं पुत्री चार, पाँच, छह और सात बार कुछ भी पाठ सुनती तो उन्हें याद रह जाता था ।

उसी नगर में रूप और लक्ष्मी के संगम समान कोशा नाम की एक वेश्या रहती थी । मंत्रीपुत्र स्थूलभद्र उस कोशा के रूप और सौंदर्य में अत्यंत ही आसक्त बना हुआ था । मंत्रीपुत्र होने के नाते स्थूलभद्र को धन की किसी प्रकार की कमी नहीं थी, अतः यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद वह वेश्या के घर पर ही रहने लगा, समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा और देखते-ही-देखते बारह वर्ष का दीर्घकाल बीत गया...परन्तु स्थूलभद्र अभी तक तृप्त नहीं हो पाया ।

अज्ञानी आत्माएँ भोग द्वारा तृप्ति पाना चाहती हैं, परन्तु यह किसी काल में संभव नहीं है । यदि जल से सागर, ईंधन से अग्नि और धनप्राप्ति से मन तृप्त हो सकता हो तो यह मानव मन भोग-सुखों से तृप्ति पा सकता है । जिस प्रकार अग्नि, ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती है, उसी प्रकार मानव, भोगों से कभी तृप्त नहीं होता है ।

महापुरुषों का वचन है कि ये भोग तो अनर्थों की खान हैं । भोग का गुलाम बनकर अनेक आत्माओं ने अपने जीवन को बर्बाद किया है । सचमुच, व्यक्ति भोग को नहीं भोगता है, किंतु वे भोग ही उसके जीवन को समाप्त कर देते हैं ।

भोगों से होने वाली तृप्ति क्षणिक होती है । जिस प्रकार खुजली के दर्दी को खुजलाने पर पहले आनंद की अनुभूति होती है, परन्तु बाद में खुजलाने से होने वाली पीड़ा का ही अनुभव होता है । बस, इसी प्रकार व्यक्ति ज्यों-ज्यों इन भोग-सुखों का अनुभव करता है, त्यों-त्यों भोग संबंधी उसकी भूख दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है ।

भस्मक के रोगी को अति भोजन से भी तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता है, उसी प्रकार दीर्घकाल तक भोग-सुखों का अनुभव करने पर भी आत्मा को तृप्ति नहीं होती है ।

बारह वर्षों तक कोशा वेश्या के संग में रहने पर भी स्थूलभद्र अतृप्त ही था ।

मंत्रीपुत्र श्रीयक वय में छोटा होने पर भी अपने कर्त्तव्य पालन के प्रति अत्यंत ही जागरूक था, इसके परिणाम स्वरूप उसने नंदराजा का विश्वास प्राप्त किया । नंद राजा ने उसे अपना अंगरक्षक बना दिया ।

अद्‌भूत–स्मृति

उसी नगर में **वररुचि** नाम का ब्राह्मण पंडित रहता था । उसके पास अद्‌भुत कवित्व शक्ति थी । राजा की कृपा-प्रसादी पाने के लिए वह प्रतिदिन नए नए 108 काव्यों की रचना करता और राजसभा में जाकर वे काव्य राजा को सुनाता ।

``मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए । मिथ्यादृष्टि की आमसभा में प्रशंसा करने से मिथ्यामत को प्रोत्साहन मिलता है'' इस आशय से शकटाल मंत्री कभी भी वररुचि के काव्यों की प्रशंसा नहीं करता था । परिणाम स्वरूप वररुचि को राजा की ओर से इनाम नहीं मिलता था क्योंकि अधिकांशतः राजा, मंत्री के ईशारे ही प्रवृत्ति करते हैं ।

वररुचि को इनाम नहीं मिलने के कारण का पता लग गया, अतः एक दिन उसने मंत्री की पत्नी को खुश करने का उपाय ढूंढ निकाला । आखिर, किसी उपाय से वररुचि ने मंत्री पत्नी को खुश कर दी ।

``मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहना'' इस प्रकार मंत्रीपत्नी के पूछने पर वररुचि ने ही कहा, ``तुम्हारा पति (मंत्री) राजा के सामने मेरे काव्यों की प्रशंसा करे ।''

मंत्री पत्नी ने वररुचि को आश्वासन देते हुए कहा, ``तुम्हारा काम हो जाएगा ।'' इस बात को सुनकर वररुचि खुश हो गया । मंत्री पत्नी ने अपने पति के सामने यह बात रखी ।

मंत्री ने कहा, **``वह ब्राह्मण मिथ्यादृष्टि है, इसी कारण मैं उसके काव्य की प्रशंसा नहीं करता हूँ ।''**

...परन्तु पत्नी के अति आग्रह के कारण आखिर मंत्री को झुकना पड़ा और राज-सभा में उसे वररुचि के काव्यों की प्रशंसा करनी पड़ी ।

मंत्री के मुख से वररुचि के काव्यों की प्रशंसा सुनकर राजा ने तत्काल वररुचि को 108 सुवर्ण मुद्राएँ भेंट कीं ।

बस, अब तो प्रतिदिन वररुचि राजसभा में आकर नए-नए काव्य सुनाने लगा और राजा उसे प्रतिदिन 108 सुवर्ण मुद्राएँ भेंट देने लगा ।

मंत्री ने सोचा, ``अहो ! यह तो बड़ी गड़बड़ हो गई है ।''

एक दिन मंत्री ने राजा को पूछ लिया, ``राजन् ! आप इस वररुचि को रोज-रोज इनाम क्यों देते हो ?''

राजा ने कहा, ``उस दिन तुमने उसके काव्य की प्रशंसा की थी, इसीलिए देता हूँ ।''

मंत्री ने सोचा, ``किसी भी उपाय से यह इनाम बंद कराना चाहिए ।'' इस प्रकार सोचकर मंत्री ने कहा, ``राजन् ! मैंने उसकी प्रशंसा नहीं की थी, मैंने तो दूसरों के रचे हुए उन काव्यों की प्रशंसा की थी । वह वररुचि जो काव्य पढ़ता है, वे काव्य तो दूसरों के द्वारा रचे हुए हैं ।''

``मंत्री ! क्या तुम सच बात कह रहे हो ?''

``हाँ, महाराजा ! वह जो काव्य बोलता है, वे काव्य तो मेरी छोटी-छोटी पुत्रियाँ भी सुना सकती हैं । यदि आपको मेरी बात पर विश्वास न हो तो कल ही मैं आपको इस सत्य की प्रतीति करा दूंगा ।''

दूसरे दिन मंत्री अपनी सातों पुत्रियों को लेकर राजदरबार में आ गया । उसने अपनी पुत्रियों को पास में बिठा लिया । तत्पश्चात् वररुचि ने राजसभा में प्रवेश किया । उसने नित्यक्रम के अनुसार अत्यंत ही मधुर कंठ से स्वरचित एक सौ आठ काव्य राजा को सुनाएँ ।

तत्काल मंत्री ने अपनी बड़ी पुत्री को वे काव्य सुनाने का आदेश दिया ।

एक ही बार ध्यानपूर्वक सुनने से मंत्री-पुत्री यक्षा को सब कुछ याद रह जाता था, अतः जो काव्य वररुचि ने सुनाएँ-वे सभी काव्य यक्षा को याद थे, अतः उसने उसी लय से वे सभी काव्य राजा को सुना दिए ।

यक्षा के मुख से उन सभी काव्यों सुनकर राजा व सभासदों के आश्चर्य का पार न रहा ।

तत्पश्चात् राजा को और अधिक विश्वास में लेने के लिए मंत्री ने अपनी दूसरी पुत्री यक्षदिन्ना को वे सभी काव्य बोलने का आदेश दिया । यक्षदिन्ना की यह विशेषता थी कि वह जो भी काव्य दो बार सुन लेती, उसे अच्छी तरह से याद रह जाता, अतः वररुचि और यक्षा के मुख से दो बार उन काव्यों को सुनने के कारण यक्षदिन्ना को वे सभी काव्य याद हो गए । उसने वे सभी काव्य अच्छे ढंग से राजा को सुना दिए ।

यक्षदिन्ना के मुख से भी उन्हीं काव्यों को सुनकर राजा के आश्चर्य का पार न रहा ।

तत्पश्चात् मंत्री की आज्ञा से क्रमशः तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि कन्याएँ भी जब उन्हीं काव्यों को अच्छी तरह से सुनाने लगीं, तब तो राजा को पूर्ण विश्वास हो गया कि मंत्री की बात बिल्कुल सत्य है ।

बस, मंत्री की सातों पुत्रियों के मुख से उन काव्यों को सुनने के बाद राजा ने वररुचि को इनाम देने से इन्कार कर दिया ।

इनाम नहीं मिलने से वररुचि ने अपने दिल में मंत्री के प्रति वैर की गाँठ बाँध ली...समय बीतने पर वह वैर की गाँठ तीव्र बनती गई ।

वररुचि का मायाजाल

नगरजनों में अपना प्रभाव-चमत्कार दिखलाने के लिए वररुचि ने एक नई योजना बनाई । उसने गंगानदी के जलप्रवाह के नीचे एक यंत्र स्थापित किया । वह प्रतिदिन प्रातः गंगा नदी में खड़ा रहकर गंगा नदी की स्तुति करने लगा । नदी के भीतर रहे यंत्र में वह 108 सुवर्ण मुद्राओं की थैली रख लेता । स्तुति के बाद वह अपने पैरों से उस यंत्र को दबाता । परिणामस्वरूप वह थैली उछलकर उसके हाथ में आ जाती । प्रतिदिन वह इस प्रकार गंगा की स्तुति करने लगा । लोगों में यह बात फैलने लगी कि वररुचि की स्तुति से तुष्ट

बनी गंगा मैया प्रतिदिन 108 सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान करती हैं । वररुचि के इस चमत्कार की बात राजा तक पहुँची ।

राजा ने मंत्री को कहा, ``मंत्रीश्वर ! चमत्कार की यह बात सत्य हो तो प्रातः काल में जाकर यह दृश्य प्रत्यक्ष देखना चाहिए ।''

मंत्री ने राजा की बात स्वीकार कर ली ।

वररुचि के चमत्कार के वास्तविक भेद को जानने के लिए मंत्री ने एक गुप्तचर को सायंकाल गंगा तट पर भेज दिया । उसी समय वह वररुचि 108 सुवर्ण मुद्राओं की थैली गंगानदी के प्रवाह में यंत्र के नीचे छुपाने के लिए वहाँ आया था । मंत्री के गुप्तचर ने यह सारा भेद अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा । इधर जैसे ही वररुचि 108 सुवर्ण मुद्राओं की थैली गंगा नदी के प्रवाह के नीचे छिपाकर अपने घर गया, उसी समय उस गुप्तचर ने आकर वह थैली यंत्र से हटा दी और उसे लेकर मंत्रीश्वर को सौंप दी । दूसरे दिन प्रातः काल की मधुर वेला में राजा अपने मंत्री के साथ गंगा नदी के किनारे पहुँचा । ``मेरे चमत्कार को देखने के लिए राजा भी आया है'' यह जानकर वररुचि एकदम प्रसन्न हो गया ।

गंगा नदी के जलप्रवाह के बीच में खड़ा रहकर वह गंगा मैया की स्तुति करने लगा । स्तुति के बाद उसने उस यंत्र को दबाया । परन्तु आश्चर्य ! रोज की तरह सुवर्ण मुद्रा की थैली उछलकर उसके हाथ में नहीं आई । गंगा मैया का खाली हाथ ऊपर उठा । वह एकदम शर्मिंदा हो गया और अपने हाथों से गंगानदी में रही धन की थैली को शोधने लगा ।

उसी समय मंत्री ने कहा, ``क्या आज गंगा मैया तुम्हें सुवर्ण मुद्राएँ नहीं दे रही हैं ? अथवा तुम छुपाए हुए धन को ही पुनः-पुनः शोध रहे हो ?''

मंत्रीश्वर ने आगे कहा, ``लो ! यह तुम्हारी ही थैली है न !'' इतना कहकर मंत्रीश्वर ने वह सुवर्ण मुद्राओं की थैली वररुचि के हाथ में थमा दी ।

मंत्री ने राजा को कहा, ``राजन् ! लोगों को ठगने के लिए यह सायंकाल धन की थैली नदी के भीतर छुपा देता है और प्रातः काल में यंत्र को दबाकर वह धन प्राप्त करता है । इसकी इस प्रवृत्ति में कोई चमत्कार नहीं है । सिर्फ, माया है ।''

राजा ने कहा, ``मंत्रीश्वर ! तुमने बहुत अच्छा किया...इसके भेद को तुमने पकड़ लिया।'' इस प्रकार कहकर राजा व मंत्री पुनः अपने महल में आ गए।

अपना भेद खुल जाने के कारण वररुचि को अत्यंत आघात लगा। अपनी इज्जत पर लगी चोट के कारण उसके दिल में मंत्रीश्वर के प्रति तीव्र रोष पैदा हुआ। वह किसी भी उपाय से मंत्रीश्वर से बदला लेना चाहता था।

ईर्ष्यालु व्यक्ति कभी किसी के गुण नहीं देख सकता है। उसे सर्वत्र दोष ही दिखाई देते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या की भावना होती है, उस व्यक्ति में रहे गुणों को देखने के लिए ईर्ष्यालु व्यक्ति अंध ही होता है।

वररुचि का षड्यंत्र

धीरे-धीरे समय बीतने लगा !

श्रीयक की शारीरिक-मानसिक योग्यता, परिपक्वता को जानकर मंत्रीश्वर ने किसी सुयोग्य कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण करने का निश्चय किया।

मंत्रीश्वर ने सोचा, ``श्रीयक के लग्न-प्रसंग पर महाराजा मेरे घर पर पधारेंगे, अतः उन्हें योग्य भेंट देनी होगी।''

इस प्रकार विचार कर मंत्रीश्वर ने महाराजा को अतिप्रिय ऐसी शस्त्र-सामग्री देने का निश्चय किया। बस, तत्काल मंत्रीश्वर ने अपने महल में नवीन शस्त्रों के निर्माण के लिए योग्य कारीगरों को बिठा दिया। बड़ी संख्या में वे कारीगर मंत्रीश्वर के महल में अनेक प्रकार की शस्त्र-सामग्रियाँ तैयार करने लगे।

नगर में गुप्त रूप से घूमते हुए वररुचि को इस बात का पता लग गया कि मंत्रीश्वर अपने महल में शस्त्र-सामग्री तैयार करा रहा है। बस, इस बात का पता लगते ही मंत्रीश्वर को खत्म करने के लिए वररुचि ने षड्यंत्र रचना प्रारंभ किया।

छोटे-छोटे नन्हें-मुन्हें बच्चों को खाने-पीने की सामग्री प्रदान कर वररुचि सभी बच्चों को एक श्लोक सिखाने लगा।

वररुचि के सिखाने के अनुसार वे बच्चे बोलने लगे–

``न स वेत्ति राजासौ, शकटालः किं करिष्यति ?
व्यापाद्य नन्दं तद् राज्ये, श्रियकं स्थापयिष्यति ॥''

``राजा को इस बात का पता नहीं है कि यह शकटाल क्या करेगा ? वह तो नंद राजा को मरवाकर उसकी गद्दी पर श्रीयक को बिठा देगा ।''

स्थान-स्थान पर वे बच्चे यह श्लोक बोलने लगे ।

जनश्रुति के माध्यम से जब राजा को इस बात का पता चला, तब राजा ने सोचा, ***''बालकों का वचन मिथ्या नहीं हो सकता । दिन में चमकने वाली बिजली निष्फल नहीं जाती है, रात्रि में हुई गर्जना निष्फल नहीं जाती है इसी प्रकार बालक का वचन और देव का दर्शन भी निष्फल नहीं जाता है ।''***

बालकों के वचन की सत्य प्रतीति कराने के लिए राजा ने किसी गुप्तचर को मंत्रीश्वर के घर भेजा । गुप्तचर ने आकर राजा को ये समाचार दिए कि मंत्रीश्वर के घर पर शस्त्रों का निर्माण चालू है ।

बस, शस्त्र-निर्माण की बात की गहराई में उतरे बिना राजा ने मनोमन निश्चय कर लिया, ``हाँ ! मंत्रीश्वर मुझे खत्म करने के लिए ही शस्त्रों का निर्माण करा रहा है ।''

राजा ने पक्का निर्णय कर लिया कि मंत्रीश्वर मेरा दुश्मन है ।

दूसरे दिन मंत्रीश्वर ने जैसे ही राजसभा में प्रवेश किया, मंत्रीश्वर के आगमन को जानकर राजा ने तुरंत ही अपना मुँह मोड़ लिया ।

राजा के इस बर्ताव को समझने में मंत्रीश्वर को कुछ भी देर नहीं लगी । मंत्रीश्वर अपने घर लौट आया ।

उसने सोचा, ``अवश्य ही मेरे किसी दुश्मन ने राजा के कान फूंक दिये हैं । राजा भी कान के कच्चे होते हैं, अतः अब निकट भविष्य में ही मेरे परिवार पर भयंकर आपत्ति आ सकती है । आवेश में अंध बनने पर राजा शायद मेरे संपूर्ण कुल का क्षय भी करा सकता है, अतः अब किसी भी उपाय से मुझे अपने कुल का विनाश अवश्य रोकना चाहिए ।''

इस प्रकार विचार कर मंत्रीश्वर अपने कुल-क्षय को रोकने का उपाय सोचने लगा ।

काफी लंबे समय तक सोचने पर आखिर मंत्रीश्वर को एक उपाय मिल गया ।

मंत्रीश्वर ने अपने पुत्र श्रीयक को बुलाकर कहा, ``बेटा ! आज मेरे किसी पापोदय से अपने कुल के क्षय का प्रसंग उपस्थित हुआ है...अतः उसके लिए कुछ उपाय करना चाहिए ।''

``पिताजी ! बात क्या है ?''

``बेटा ! बात इस प्रकार है । मुझे लगता है कि किसी द्वेषी व्यक्ति ने जाकर राजा के कान फूंक दिये हैं । आज जब मैं राजसभा में गया, तब राजा ने मुझे देखकर अपना मुँह फेर लिया, मुझे संदेह है कि राजा अपने संपूर्ण परिवार का नाश कर सकता है, अतः किसी उपाय से इस कुलक्षय को बचाना जरूरी है ।''

``पिताजी ! राजा को ही पूछ ले कि हमने कौन सा अपराध किया है ?''

``बेटा ! यह बात अब शक्य नहीं है । **राजा लोग कान के कच्चे होते हैं । सत्य परीक्षण के लिए उनके पास धैर्य नहीं होता है ।** राजा मेरी बात सुनेगा, ऐसा अवसर अब नहीं रहा है ।''

``पिताजी ! आप मुझे आज्ञा दीजिए । आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है । अपने कुलक्षय को बचाने के लिए मैं अपने जीवन का बलिदान करने के लिए तैयार हूँ । पिताजी ! फरमाइए, क्या आज्ञा है ?''

``बेटा ! अपने कुलक्षय को बचाने के लिए मैंने जो योजना तैयार की है, उसमें तू अपना सहयोग देगा न !''

``पिताजी ! आप यह कैसी बात कर रहे हैं...मैं आपका समर्पित पुत्र हूँ...आपकी आज्ञा के पालन के खातिर मैं अपने प्राणों की बलि देने के लिए भी तैयार हूँ ।''

``बेटा ! फिर तू बदल नहीं जाएगा न ?''

``नहीं ! पिताजी ।''

``बेटा ! मैं ऐसे भी वृद्ध हो चुका हूँ । मृत्यु मेरा स्वागत करने के लिए समुत्सुक है । जहाँ तक मेरा सोचना है अपने कुल के रक्षण के लिए मेरा बलिदान अत्यंत जरूरी है ।''

``नहीं ! पिताजी नहीं ! बलिदान आपका नहीं, मेरा हो ।''

``बेटा ! मैं राजा के मंत्री पद पर हूँ...परन्तु राजा के दिल में मेरे प्रति विश्वास नहीं रहा है...परन्तु तू राजा के अंगरक्षक के पद पर है, और विश्वासपात्र है, अतः कल ज्योंही मैं राजसभा में राजा को प्रणाम करने के लिए अपना सिर झुकाऊँ, त्योंही तुम मेरे मस्तक को अपनी तलवार से उड़ा देना ।''

''पिताजी ! पितृ-हत्या का यह घोर पाप मुझसे संभव नहीं है । इसके बजाय तो मैं ही क्यों न आत्महत्या कर लूँ ।''

``बेटा ! तेरी मौत से कुलक्षय को बचाना शक्य नहीं है । राजा की दृष्टि में मैं गुनहगार हूँ...तुम निर्दोष हो । और पितृ-हत्या का तुम जो सवाल उठा रहे हो, उसका भी मैंने उपाय शोध लिया है ।''

राजसभा में प्रवेश के बाद मैं अपने मुँह में विष की गोली डाल दूंगा...उस विष के प्रभाव से ऐसे भी मैं मरने वाला हूँ...अतः मेरी गर्दन पर प्रहार करने पर भी तुम पितृ-घातक नहीं गिने जाओगे ।''

श्रीयक अपने पिता के मस्तक को छेदने के लिए तैयार नहीं था...परन्तु पिता के वचन के खातिर उसे अनिच्छा से भी यह बात स्वीकार करनी पड़ी ।

रात्रि व्यतीत हुई ।

दूसरे दिन मंत्रीश्वर ने राजसभा में जाने के लिए प्रयाण किया । उसे अपनी आँखों के सामने मौत दिखाई दे रही थी, अपनी मृत्यु को सुधारने के लिए उसने प्रभु नाम का स्मरण किया । तत्पश्चात् राजसभा में प्रवेश करने के बाद उसने अपने मुँह में विष डाल लिया ।

महाराजा के निकट पहुँचने के बाद मंत्रीश्वर ने राजा के चरणों में प्रणाम किया...परन्तु उसी समय राजा ने अपना मुँह फेर लिया...और तत्क्षण श्रीयक ने नंगी तलवार से मंत्रीश्वर का शिरोच्छेद कर दिया ।

मंत्रीश्वर का मस्तक देह से अलग होकर नीचे गिर पड़ा । चारों ओर खून-खून हो गया ।

एक अंगरक्षक पुत्र के द्वारा अपने ही पिता मंत्री की हत्या के दृश्य को देखकर राजा के आश्चर्य का पार न रहा ।

राजा ने पूछ ही लिया, ``श्रीयक ! तूने यह क्या कर डाला ?''

श्रीयक ने कहा, **''राजन् ! जो मेरे स्वामी का द्रोही हो वह मेरे लिए हंतव्य (हत्या का पात्र) है, वह चाहे मेरे पिता भी क्यों न हो !''**

श्रीयक के दिल में राज्य के प्रति रही वफादारी को जानकर राजा के आश्चर्य का पार न रहा !

राजा ने मन ही मन सोचा, ``श्रीयक ने अपने प्राणप्यारे पिता की भी हत्या कर डाली...अवश्य ही इस घटना के पीछे कोई भेद होना चाहिए ।''

राजा ने आग्रह करके श्रीयक को पूछा, ``श्रीयक ! मेरे प्रति तू पूर्ण वफादार है, इस बात में लेश भी संदेह नहीं है, परन्तु पिता की हत्या के पीछे कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए ।''

राजा की यह बात सुनकर श्रीयक ने अवसर देखकर सत्य का घटस्फोट करते हुए कहा, ``राजन् ! मेरे पिता जीवन पर्यंत आपके प्रति पूर्ण समर्पित और वफादार रहे हैं, और आपके दिल में भी उनके प्रति पूर्ण प्रेम और आदर भाव था...परन्तु पिछले दो दिनों से उन्होंने यह अनुभव किया कि आपके दिल में उनके प्रति रहा विश्वास उठ गया है, आपके हृदय में रहा प्रेम का झरना सूख गया है । बस, इस घटना से वे समझ गए कि अवश्य ही किसी विद्वेषी ने आकर आपके कान फूंके है । सत्य-असत्य की परीक्षा करने के बजाय आप तत्काल ही संपूर्ण कुल के क्षय के लिए आदेश न कर दें, इसके पूर्व ही उन्होंने मुझे आज्ञा कर दी कि अपने कुलक्षय को बचाने के लिए मैं स्वयं विषभक्षण कर लूंगा...और तुम राजसभा में ही मेरा मस्तक उड़ा देना ।''

श्रीयक की यह बात सुनकर राजा एकदम चौंक उठा ।

राजा ने कहा, ``श्रीयक ! क्या तेरे घर पर शस्त्रों का निर्माण हो रहा था ?''

``हाँ ! जी !''

``किसके लिए ?''

``निकट भविष्य में ही मेरा लग्न प्रसंग आ रहा है, उस प्रसंग पर मेरे पिताजी आपको शस्त्रों की भेंट देना चाहते थे, इसीलिए नवीन शस्त्रों का निर्माण कार्य चल रहा था ।''

श्रीयक की यह बात सुनकर राजा अवाक् रह गया । वह एकदम शोकसागर में डूब गया । उसे अपनी भूल समझ में आ गई ।

राजा ने सोचा, ``अहो ! मेरे हाथों से एक गंभीर भूल हो गई । राष्ट्र के प्रति पूर्ण वफादार मंत्री की हत्या हो गई ।''

राजा के पश्चात्ताप का पार न रहा । उसने तत्काल उस दुष्ट वररुचि ब्राह्मण को देशनिकाले की सजा कर दी ।

तत्पश्चात् राजा ने अत्यंत ही आदर-सन्मान के साथ शकटाल मंत्री का अग्नि संस्कार कराया ।

महाभिनिष्क्रमण

भवितव्यता के आगे पुरुषार्थ भी पंगु है । जो होनी है, उसे कौन टाल सकता है ?

शकटाल की अकाल-मत्यु से राजा को खूब आघात लगा । उसे अपनी भूल का तीव्र पश्चात्ताप होने लगा ।

खाली पड़े मंत्री पद की पूर्ति के लिए राजा ने श्रीयक को बुलाकर कहा, ``श्रीयक ! पिता के खाली पड़े स्थान की पूर्ति के लिए तुम्हे मंत्री-मुद्रा स्वीकार करनी चाहिए । तुम इस पद के लिए हर तरह से योग्य हो ।''

राजा की यह बात सुनकर श्रीयक ने कहा, ``राजन् ! इस मंत्री-पद के लिए मैं नहीं, किंतु मेरा ज्येष्ठ बंधु अधिक योग्य है ।''

``क्या तुम्हारा भी कोई ज्येष्ठ बंधु है ?''

``हाँ ! राजन् ! मेरा ज्येष्ठ बंधु स्थूलभद्र है । वह हर तरह से सुयोग्य है ।''

``वह अभी कहाँ है ?''

``वह अभी कोशा वेश्या के वहाँ है । वहाँ रहते हुए उसे 12 साल बीत गए हैं ।''

श्रीयक की यह बात सुनकर राजा ने तत्काल स्थूलभद्र को बुलाने के लिए सुयोग्य सेवक को आज्ञा की ।

श्रीयक की यह कैसी महानता !

आज व्यक्ति पद-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार से माया-कपट का आश्रय लेता है, परन्तु श्रीयक राजा की ओर से मिल रहे मंत्री पद को भी ठुकराने के लिए तैयार हो गया ! उसने मंत्री-मुद्रा स्वीकार करने के बजाय अपने ज्येष्ठ बंधु को मंत्री-पद देने का आग्रह रखा ।

राजा की आज्ञा होते ही राजसेवक कोशा वेश्या के भवन में पहुँच गया ।

राजसेवक ने गौरवर्णीय, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले और अत्यंत ही कांति-मान स्थूलभद्र को कोशा वेश्या के साथ प्रसन्नता पूर्वक वार्ता-विनोद करते हुए देखा । राजसेवक के अचानक आगमन से उनके वार्तालाप के रंग में भंग पड़ा ।

स्थूलभद्र ने पूछा, ``भाई ! तुम कौन हो और क्यों आए हो ?''

राजसेवक ने कहा, ``महाराजा ने आपको याद किया है ।''

``महाराजा ने और मुझे ?'' स्थूलभद्र ने आश्चर्य से पूछा ।

राजसेवक ने कहा, ``शकटाल मंत्रीश्वर की अकाल-मृत्यु के बाद मंत्री पद का स्थान रिक्त पड़ा है, महाराजा वह पद श्रीयक को देने लगे, तब श्रीयक ने वह पद लेने से इन्कार करते हुए कहा, ``इस पद के लिए मेरा ज्येष्ठ बंधु अधिक योग्य है ।'' अतः इस पद को ग्रहण करने के लिए महाराजा ने आपको याद किया है ।''

स्थूलभद्र ने पूछा, ``क्या मेरे पिता की मृत्यु हो गई है ?''

``हाँ ! जी !''

``मृत्यु कैसे हुई ?''

स्थूलभद्र के पूछने पर राजसेवक ने वररुचि के षड्यंत्र की सारी बात बतला दी ।

``माया-कपट से भरी राजनीति ने मेरे पिता के प्राण ले लिये'' यह जानकर स्थूलभद्र के दिल को बड़ा धक्का लगा ।

राजा की आज्ञा होने से स्थूलभद्र तत्काल खड़ा हो गया और उसने राजमहल में जाने के लिए कोशा से अनुमति मांगी ।

कोशा ने कहा, ``स्वामिन् ! आपके बिना मेरा प्राणाधार कौन ?''

``प्रिये ! तू निश्चिंत रह, मुझे राजनीति की गंदी चाल पसंद नहीं है, मैं किसी भी उपाय से छुटकारा पाकर शीघ्र ही लौट आऊंगा ।''

``स्वामिन् ! आपके वियोग की प्रत्येक क्षण मेरे लिए असह्य है । आपके वियोग की एक-एक पल मेरे लिए वर्ष जितनी लंबी होगी...अतः मेरी आपसे यही नम्र प्रार्थना है कि आप राजनीति के जाल में फँसे बिना शीघ्र ही लौट आना ।''

``प्रिये, तेरे दिल की वेदना मैं अच्छी तरह से जानता हूँ । कमल के समान कोमल तेरे हृदय को लेश भी चोट पहुँचाना, मुझे पसंद नहीं है...परंतु एक राज-आज्ञा के खातिर मुझे वहाँ जाना पड़ रहा है । मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि अपने वियोग का काल थोड़ा भी लंबा नहीं होगा ।''

इस प्रकार कोशा वेश्या को आश्वासन देकर स्थूलभद्र तेजी से राज-महल की ओर आगे बढ़े । कुछ ही देर में वह राजमहल में आ पहुँचे ।

राजा ने उसकी बलिष्ठ व हृष्ट-पुष्ट काया, गौरवर्ण और तेजस्वी मुखमंडल को देखा । उसकी बाह्यप्रतिभा के साथ उसका अन्तरंग व्यक्तित्व भी उतना ही आकर्षक था ।

स्थूलभद्र ने महाराजा के चरणों में प्रणाम किया । राजा ने उसे सप्रेम आशिष दी ।

राजा ने पूछा, ``क्या तुम ही स्थूलभद्र हो ?''

``जी ! महाराजा !;

``स्थूलभद्र ! तुम्हारे पिता के वियोग से रिक्त बने मंत्री पद को ग्रहण करने के लिए मेरा तुम्हें आमंत्रण है ।''

``राजन् ! कुछ सोच-विचार कर इस संबंध में अपना निर्णय प्रस्तुत करना चाहता हूँ ।''

``तुम्हारा निर्णय आज ही हो जाय तो ठीक रहेगा ।'' राजा ने कहा ।

``जी महाराजा !'' इतना कहकर स्थूलभद्र पास ही अशोक वाटिका में चले गये और सोचने लगे, ``अहो ! इस मंत्री पद में तो कितनी पराधीनताएँ हैं ? वह न तो सुखपूर्वक खा-पी सकता है और न ही संसार के भोग-सुखों का अनुभव कर सकता है । इस मंत्रीपद पर आसीन व्यक्ति पर राज्य का सारा भार रहता है...और यदि राजा की आज्ञा-विरूद्ध कुछ भी प्रवृत्ति हो जाय तो अकाल-मृत्यु भी हो सकती है ।''

ठीक ही कहा है, ***''जो दरिद्र है, रोगी है, मूर्ख है, प्रवासी है और किसी की सेवा में नित्य उपस्थित है, ये पाँच जीवित होते हुए भी मरे हुए के समान हैं ।''***

संसार की उपाधियों का विचार करते करते अचानक पूर्वभव के शुभ कर्म के उदय से स्थूलभद्र के दिमाग में बिजली की भाँति एक शुभ विचार कौंध उठा और वे सोचने लगे, ***''अहो ! वे बुद्धिमान पुरुष धन्यवाद के पात्र हैं, जो भोगसुखों का परित्याग कर संयम धर्म को स्वीकार करते हैं और उत्कृष्ट संयम धर्म का पालन कर शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करते हैं ।''***

इस प्रकार संसार की असारता, संयम धर्म की उपादेयता और मोक्ष सुख की स्वाधीनता का विचार करते-करते उनके दिमाग में इस असार संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव पैदा हो गया ।

अहो ! स्थूलभद्र का यह कैसा महान् पुण्योदय ! 12 साल वेश्या के संग में आसक्त होने पर भी एक पल में संसार के समस्त भौतिक सुखों को तिलांजलि देने का कैसा उत्तम विचार !

बस, चारित्र धर्म के प्रति उनके हृदय में तीव्र अनुराग पैदा हो गया। चारित्र के आगे उन्हें संसार के ऊँचे से ऊँचे पद भी नीरस प्रतीत होने लगे...और उसी समय एक क्षण का भी विलंब किए बिना उन्होंने अपने हाथों से केश-लोच प्रारंभ कर दिया। लोच करने के बाद रत्नकंबल का रजोहरण बनाकर साधुवेष को स्वीकार लिया।

महासत्त्वशाली स्थूलभद्र ने राजसभा में प्रवेश किया और जोर से राजा को ``धर्मलाभ'' की आशिष प्रदान की।

मंत्री मुद्रा को स्वीकार करने के प्रसंग पर अचानक **``धर्मलाभ''** के शब्दों को सुनकर राजा एकदम चौंक उठा।

``अरे यह क्या ! यह कौन ? स्थूलभद्र ! क्या स्थूलभद्र ने साधु-वेष स्वीकार लिया ?''

राजा ने पूछा, ``क्या सोच लिया ?''

``हाँ राजन् ! मैंने सोच लिया। सोच-विचार कर ही मैंने साधु-वेष का स्वीकार किया है। अब न मुझे मंत्री मुद्रा की आवश्यकता है और न ही कोशा वेश्या की। अब तो मैंने संयम धर्म से प्रीति जोड़ी है...मैंने अपना सर्वस्व संयम धर्म को सौंप दिया है। अब वही मेरा मार्ग है-वही मेरा जीवन है...वही मेरी साधना है।''

राजा के आश्चर्य का पार न रहा।

वह सोच में पड़ गया, ``अहो ! 12 वर्षों से वेश्यासंग में आसक्त पुरुष क्या एक क्षण में उन समस्त भोग-सुखों को तिलांजलि दे सकता है ? जगत् में इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है ?''

बस, अगारी मिटकर अणगार बने स्थूलभद्र मुनि ने वन की ओर अपनी यात्रा प्रारंभ कर दी।

राजा ने सोचा, ``यह दीक्षा का बहाना करके वापस कोशा वेश्या के भवन की ओर तो नहीं जा रहा है ?'' इस प्रकार विचार कर राजा राजमहल के झरोखे से देखने लगा...परन्तु वेश्या के महल की उपेक्षाकर ईर्यासमिति के पालनपूर्वक जंगल की ओर बढ़ते हुए स्थूलभद्र को देख राजा ने आश्चर्य से अपना मस्तक झुका दिया।

इधर संभूतिविजय मुनि के पास जाकर स्थूलभद्र ने विधि-पूर्वक भागवती दीक्षा अंगीकार की । वे भोगी मिटकर योगी बन गए ।

स्थूलभद्र की दीक्षा के बाद राजा ने श्रीयक को मंत्रीमुद्रा ग्रहण करने के लिए आग्रह किया । आखिर राजा के आग्रह को जानकर श्रीयक ने मंत्री-मुद्रा स्वीकार की । श्रीयक न्याय व नीतिपूर्वक राज्य के कार्यभार को वहन करने लगा ।

स्थूलभद्र की दीक्षा की बात जब कोशा वेश्या को ज्ञात हुई, तब उसके पश्चात्ताप का पार न रहा । उसकी आँखों में से सावन-भादों के आँसू बहने लगे । स्थूलभद्र के सिवाय उसका चित्त कहीं नहीं लगता था । उसका वियोग उसके लिए असह्य हो गया था ।

संभूतिविजय आचार्य भगवंत के चरणों में पूर्ण समर्पित बने स्थूलभद्र मुनि रत्नत्रयी की आराधना-साधना में एकदम तल्लीन बन गए । उनके तत्कालीन जीवन को देख कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ये स्थूलभद्र भूतकाल में 12 वर्ष तक वेश्या के संग में रहे होंगे !

रत्नत्रयी की निर्मल आराधना के द्वारा उन्होंने अपने हृदय को स्फटिक की भाँति एकदम स्वच्छ बना लिया । उनकी आँखें निर्विकार बन चुकी थीं । उनके मन में स्त्री या स्त्रीदेह के सौंदर्य का लेश भी आकर्षण नहीं था । संयम की साधना के फलस्वरूप अब उनके मन में स्त्री का देह एक मात्र हाड़-मांस की पुतली बन चुका था ।

गुरुदेव के चरणों की उपासना द्वारा उन्होंने सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया...परिणामस्वरूप वे शास्त्र के रहस्यभूत पदार्थों को अपने जीवन में आत्मसात् करने में समर्थ बन सके ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

चातुर्मास का समय निकट आया और संभूतिविजय आचार्य भगवंत के शिष्य कठोर तप-साधना और भयंकर परीषहों को सहन कर अलग अलग जगह पर चातुर्मास करने के लिए अपने गुरुदेव के पास अनुज्ञा मांगने लगे ।

एक मुनिवर ने कहा, ``हे गुरुदेव ! मैं सिंह की गुफा के पास कायोत्सर्ग में खड़ा रहकर चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हूँ ।''

गुरुदेव ने अपने ज्ञानबल से उसकी योग्यता पहिचान ली, ``भयंकर सिंह की गर्जनाओं के बीच भी यह मुनि लेश भी चलित होने वाला नहीं है ।'' इस प्रकार उसकी योग्यता जानकर गुरुदेव ने कहा, ``तथास्तु ! वत्स ! मेरी तुझे अनुमति है । तुम अपनी भावना को पूर्ण कर सकोगे ।''

उसके बाद एक मुनिवर ने कहा, ``हे भगवंत ! मैं सांप के बिल के पास चार महिने उपवास करके कायोत्सर्ग में खड़ा रहना चाहता हूँ । प्रभो ! इसके लिए आप मुझ पर अनुग्रह कर अनुमति प्रदान करने की कृपा करें ।''

गुरुदेव ने उस मुनिवर के दृढ़ मनोबल और सत्त्व को देखा और कहा, ``मुनिवर ! मेरी तुम्हें अनुमति है । इस प्रकार के कठोर परीषह को सहन करने की तुम्हारी मनोकामना अत्यंत ही अनुमोदनीय है ।''

तत्पश्चात् एक मुनिवर ने कहा, ``हे भगवंत ! आप मुझ पर अनुग्रह करें, मैं कुएँ की दीवार पर खड़े रहकर चार महिने उपवास एवं कायोत्सर्ग की साधना द्वारा चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हूँ ।''

गुरुदेव ने उसके मन की स्थिरता देखकर उसे भी सम्मति प्रदान की ।

तत्पश्चात् स्थूलभद्र मुनिवर ने कहा, ``मैं कोशा वेश्या के यहाँ, जो काम के आसनों से चित्रित चित्रशाला है, उस चित्रशाला में, कुछ भी तप किए बिना षड्रस भोजन कर चार मास व्यतीत करना चाहता हूँ । हे गुरुदेव ! मेरे इस अभिग्रह को पूर्ण करने के लिए आप मुझे अनुमति प्रदान करें ।''

स्थूलभद्र मुनिवर की यह प्रार्थना सुनकर गुरुदेव ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाया और देखा कि काम के घर में रहकर कामविजेता बननेवाला एक मात्र यह स्थूलभद्र ही है, इस प्रकार स्थूलभद्र मुनिवर की योग्यता जानकर गुरुदेव ने उन्हें कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास में रहने के लिए अनुमति प्रदान कर दी !

बस, गुरुदेव की आज्ञा होते ही वे सभी मुनि चातुर्मास काल निकट आने के साथ ही अपनी-अपनी दिशा की ओर बढ़ने लगे ।

भीष्म-अभिग्रह

गुरुदेव के चरणों में बैठकर जिनवचन का अमृतपान करनेवाले स्थूलभद्र मुनि पौद्गलिक पदार्थों में जलकमलवत् अनासक्त योगी बन चुके

थे ! गुरुदेव से शुभ-आशीर्वाद प्राप्त कर स्थूलभद्र महामुनि चातुर्मास के लिए कोशावेश्या के भवन की ओर क्रमशः आगे बढ़ने लगे ।

उनकी चाल में ईर्यासमिति के दर्शन होते थे...उनके मुखमंडल पर ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज था ।

कोशा वेश्या के द्वार पर पहुँचने के साथ ही स्थूलभद्र मुनिवर ने जोर से `धर्मलाभ' कहा ।

``धर्मलाभ'' की मधुर ध्वनि के स्वर जैसे ही कोशा वेश्या के कान तक गये, वह एकदम चौंक उठी । वह तत्काल अपने भवन के द्वार पर आ गई । उसने जैसे ही प्रशांत मुख मुद्रावाले स्थूलभद्र मुनिवर को देखा, उसके आश्चर्य का पार न रहा ।

जिनके आगमन की वह प्रतिपल प्रतीक्षा कर रही थी, परन्तु जिसे स्वप्न में भी स्थूलभद्र के आगमन की कल्पना नहीं थी...ऐसे स्थूलभद्र मुनिवर को अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष देखकर वह विचारों में खो गई ।

कोशा वेश्या सोचने लगी, ***''हा ! ये मुनिवर चारित्र से भग्न परिणाम-वाले हो गए लगते हैं । क्या एक छोटासा गधा हाथी की अंबाड़ी के भार को अपने शरीर पर वहन कर सकता है ? क्या हाथी अपने दाँतों से पर्वत के शिखरों को भेद सकता है ?''***

बस, इसी प्रकार इतने-इतने वर्षों तक जो मुझ में आसक्त रहे हों, वे चारित्र धर्म का पालन कैसे कर सकते हैं ? हाँ ! व्रत-भार को वहन करने में असमर्थ होने के कारण ही ये लौट आए लगते हैं । इस प्रकार मनोमन विचार कर कोशा वेश्या ने कहा, **''स्वामिन् ! पधारो ! पधारो ! सुस्वागतम् ! आपके आगमन से मैं धन्य बन गई हूँ । आप मुझे आज्ञा फरमाइए । मेरा देह, मेरा धन, मेरे नौकर–चाकर ये सब आपको पूर्ण रूप से समर्पित हैं ।''**

स्थूलभद्र मुनिवर ने कहा, ``मैं यहाँ चातुर्मास व्यतीत करने के लिए आया हूँ । अतः मुझे रहने के लिए स्थान चाहिए । तुम मुझे अपनी चित्रशाला प्रदान कर सकोगी ?''

तत्काल कोशा वेश्या ने स्थूलभद्र मुनिवर को चित्रशाला प्रदान कर दी ।

चित्रशाला की दीवारों पर कामवासना को उत्तेजित करनेवाले विविध कामासन चित्रित थे, जिन्हें देखकर मन में सुषुप्त अवस्था में रही कामवासना

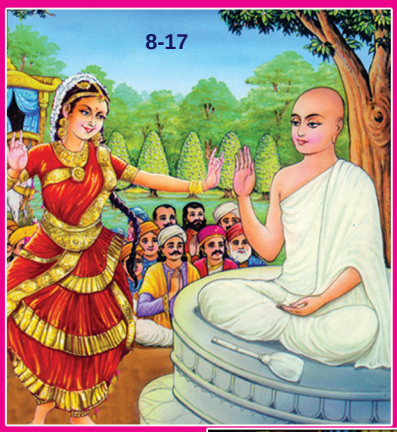

(8-17) ब्रह्मचर्य सम्राट् स्थूलभद्र-श्रीयककुमार-यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा -पृष्ठ नं. 83

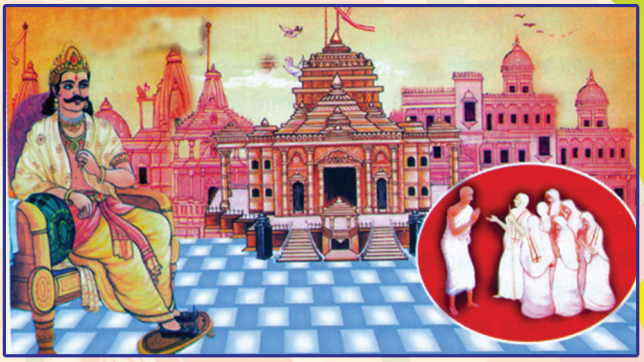

श्री स्थूलभद्र की सज्झाय

अहो मुनिवरजी माहरी ऊपर, म्हेर करी भले आवीया,
हुं वाट तमारी जोती'थी, तुम विरहे नयणां भरती'ती,
वळी देवने ओलंभा देती'ती, अहो० ।।१।।

तुमे चतुर चोमासुं कही चाल्यां, ते ऊपर दिन में ए गाळ्यां,
हवे भलुं थयुं नयणे भाळ्यां. अहो० ।।२।।

हवे दु:खडा मारा गया दूरे, आनंद नहीं हरखे पूरे,
हवे चित्त चिंता सघळी चूरे अहो० ।।३।।

मारा ताप टळ्या सघळा तनना, मारा विलय गया विकल्प मनना,
वळी वूठा नीर अमृत घनना. अहो० ।।४।।

एक चोमासुं ने चित्रशाली, ए नाटक गीत तणी ताली,
मुज साथे रमीए मनवाली अहो० ।।५।।

तव बोल्या स्थूलिभद्र सुण बाला, तुम न करीश चित्त चरित्र चाळा,
ए वात तणां हवे द्यो ताळां,
अहो मन हरणी ! तुमे मुज ऊपर राग सराग न राखो,
अहो सुखकरणी ! संयम रसथी, राग हैयामां राखो. अहो० ।।६।।

हवे रसभरी वात तिहां राखी, में संयम लीधुं गुरू साखी,
चित्त चोखे चारित्र रस चाखी. अहो० ।।७।।

हवे विषय तृष्णाथी मन वारो, हवे धर्म दयाथी दिल धारो,
ए भवोदधिथी आतम तारो अहो० ।।८।।

कोश्या मुनि वचने प्रतिबोधी, आश्रव करणी ते सवि रोधी,
ते व्रत चोथुं लइ गइ शुद्धि. अहो० ।।९।।

जे नर प्रीत एहवी पाले, जे विषम विषयथी मनवाले,
ते तो आतम परिणति अजुवाले अहो० ।।१०।।

जे एहवा गुणीना गुण गावे, जे धर्मरंग अंतर ध्यावे,
ते तो महानंद पद निश्चल पावे अहो० ।।११।।

उत्तेजित हुए बिना नहीं रहती । **``समुद्र के जल में रहना और मगर से वैर रखना''** की तरह कामवासना को उत्तेजित करनेवाले वातावरण के बीच रहना और काम से अलिप्त रहना अत्यंत ही दुष्कर साधना है...परन्तु स्थूलभद्र महामुनिवर ने वह साधना भी सुकर करके बतला दी !

स्थूलभद्र मुनिवर ने चित्रशाला में प्रवेश किया । तत्पश्चात् भोजन के समय पर वह वेश्या स्थूलभद्र मुनिवर को षड्रस युक्त भोजन बहोराने लगी ।

षड्रस का आहार काम को उत्तेजित करनेवाला है । उसके बाद वह कोशा वेश्या विविध प्रकार के सुंदर वस्त्र आभूषणों से अलंकृत होकर स्थूलभद्र मुनिवर के समीप आई । अपने हाव-भाव, अंग-मरोड़, नेत्र-कटाक्ष व वाग् बाणों से स्थूलभद्र मुनिवर के मन को रंजित करने लगी और उन्हें अपने वश में करने का प्रयत्न करने लगी...। परन्तु यह क्या ? फूल की भाँति कोमल हृदयवाले ये स्थूलभद्र मुनि आज उसे वज्र की भाँति कठोर प्रतीत होने लगे !

उसने सोचा, ``आज नहीं तो कल ही सही ! शायद लज्जा आदि गुणों के कारण वे आज मेरे साथ रमण करने के लिए तैयार नहीं हो पा रहे हैं...परन्तु कल मुझे अवश्य सफलता मिलेगी ।''

बस, दूसरे दिन पुनः उसने अपना प्रयास जारी रखा । स्थूलभद्र के कोमल दिल को बहलाने के लिए उसने लाख लाख प्रयत्न किए । परन्तु यह क्या ? स्थूलभद्र के रोम में लेश भी विकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई !

अहो ! एक ओर काम के आसनों से चित्रित चित्रशाला ! षट्रसयुक्त भोजन ! कोशा वेश्या का अद्भुत रूप और लावण्य !! कोशा वेश्या का पूर्ण समर्पण ! दीर्घ कालीन पूर्व परिचय ...सब कुछ होने पर भी स्थूलभद्र के मन में कोशा के प्रति लेश भी आकर्षण नहीं बन पाया !!

वह कोशा वेश्या अपनी विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा स्थूलभद्र के मन को लुभाने का प्रयत्न करने लगी ।

वह अपने भूतकाल को पुनः-पुनः याद कराकर स्थूलभद्र को मोहित करने का प्रयास करने लगी...परन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल गए । उसे लेश भी सफलता नहीं मिली । स्थूलभद्र को लुभाने के लिए वह ज्यों ज्यों प्रयास करने लगी, त्यों-त्यों मानों स्थूलभद्र का हृदय और अधिक कठोर बनता गया ।

प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करना आसान है, परन्तु अनुकूल उपसर्गों के बीच टिके रहना, अत्यंत ही कठिन है । द्वेष को जीतना फिर भी सरल है, परन्तु राग को जीतना अत्यंत ही कठिन है । पवन के झोंके के साथ ही जैसे वृक्ष के पत्ते कंपित हो जाते हैं, उसी प्रकार रूप और लावण्य की साक्षात् प्रतिमास्वरूप स्त्री के संपर्क के साथ पुरुष का मन चंचल हुए बिना नहीं रहता है ।

परन्तु स्थूलभद्र महामुनि कोशा वेश्या के सभी सानुकूल उपसर्गों से लेश भी विचलित नहीं हुए । प्रतिकूल उपसर्गों को जीतनेवाले भी कई मुनि, अनुकूल उपसर्गों में हार खा जाते हैं ! परन्तु स्थूलभद्र महामुनि ने अनुकूल उपसर्गों को भी परास्त कर दिया था ।

कोशा वेश्या ज्यों-ज्यों अनुकूल उपसर्ग करती गई, त्यों-त्यों स्थूल-भद्र महामुनि की ध्यान-धारा और अधिक प्रदीप्त बनती गई ।

स्त्री का देह-सौंदर्य बाहर से आकर्षक है, परन्तु उसके देह के भीतर तो भयंकर अशुचि ही भरी हुई है । हाड़-मांस, चर्बी, मल, मूत्र आदि से भरपूर उस नारी देह को देखकर आकर्षित होना सिर्फ अज्ञानता और मोह का प्रदर्शन ही है ।

शराब के नशे में चकचूर व्यक्ति गटर की गंदगी में आलोट रहा हो तो भी वह उसे ''डनलप'' की गद्दी ही मान बैठता है अथवा कोई कुत्ता आकर उसके मुँह में पेशाब कर देता है, तो उसे भी वह मीठा शर्बत मान लेता है । बस, इसी प्रकार जो आत्मा मोह के नशे में चकचूर है, उसके दिल में संसार के भौतिक सुखों का झूठा आकर्षण होता है, परन्तु जिसकी ज्ञानदृष्टि खुल गई हो, उसे तो विश्वसुंदरी के देह में भी मात्र हाड़-मांस-चाम और गंदगी के ही दर्शन होते हैं ।

कोशा वेश्या ने निरंतर चार मास तक स्थूलभद्र को लुभाने के लिए अपने सभी दाँव फेंके...परन्तु उसे निष्फलता ही हाथ लगी...आखिर हार खाकर वह उनके चरणों में गिर पड़ी । उस समय स्थूलभद्र महामुनि ने उसे सन्मार्ग का बोध दिया । क्षण विनश्वर देह के सौंदर्य में पागल बनी कोशा वेश्या को उन्होंने आत्मा के शाश्वत और अद्‌भुत सौंदर्य का भान कराया । स्थूलभद्र

महामुनि की अमृतभरी वाणी के पान से कोशा वेश्या का मोह दूर हो गया...और वह भी जिनधर्म की उपासिका, श्राविका बन गई । उसने स्थूल-भद्र महामुनि के पास श्रावक जीवन के अलंकार स्वरूप बारह व्रत स्वीकार किए । चतुर्थव्रत के विषय में उसने प्रतिज्ञा की **'राजा प्रसन्न होकर किसी पुरुष को मेरे पास भेजेगा तो उस पुरुष को छोड़कर अन्य सभी पुरुषों का त्याग करती हूँ ।'**

स्थूलभद्र महामुनि के ब्रह्मचर्य की कैसी यह अपूर्व साधना !!

काम के घर में रहकर भी उन्होंने काम का नाश कर दिया । एक (कोशा) वेश्या को भी उन्होंने उच्च कोटि की श्राविका बना दी !

ईर्ष्या की आग

वर्षाकाल व्यतीत हुआ...और संभूति विजय आचार्य भगवंत के सभी शिष्य चातुर्मास पूर्ण कर अपने गुरुदेव के चरणों में उपस्थित होने लगे ।

सर्वप्रथम सिंह गुफा के पास खड़े रहकर चार मास के उपवास पूर्वक कायोत्सर्ग की साधना करने वाले मुनिवर गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए ।

मुनिवर को देखकर गुरुदेव ने कहा, ``वत्स ! तुम्हारा स्वागत है, तुम **दुष्कर–कारक** (कठिन कार्य करने वाले) हो ।''

तत्पश्चात् सर्प के बिल के पास और कुएँ की दीवार पर चातुर्मास करने वाले मुनियों का भी गुरुदेव ने इसी प्रकार स्वागत किया ।

इन तीनों मुनियों के आगमन के बाद स्थूलभद्र महामुनि पधारे । उनके आगमन के साथ ही गुरुदेव अपने आसन से खड़े हो गए और बोले, **``दुष्कर दुष्कर दुष्करकारक ! मुनिवर ! तुम्हारा स्वागत हो !''**

गुरुदेव ने स्थूलभद्र महामुनि का जब सविशेष स्वागत किया तो यह बात उन तीन मुनियों को पसंद नहीं पड़ी । वे तीनों मुनि परस्पर बातचीत करने लगे कि हमने तो कठोर साधना और तपश्चर्याएँ की हैं, जबकि स्थूलभद्र ने तो कुछ भी तप नहीं किया है । वेश्या के महल में रहते हुए उसने न तो ठंडी सहन की और न ही गर्मी । वहाँ रहते हुए उसने कुछ भी तप नहीं किया, फिर भी आश्चर्य है कि गुरुदेव हमसे भी अधिक उनकी प्रशंसा करते हैं । हाँ ! वे मंत्री पुत्र हैं, इसलिए उनकी गुरुदेव प्रशंसा करते हैं ।

वे तीनों मुनि ईर्ष्याग्रस्त होने के कारण इस बात को भूल गए कि **कठोर जीवन जीना तो सरल है, किंतु काम को जीतना अत्यंत ही कठिन है ।**

इस प्रकार मन में ईर्ष्याग्रस्त बने हुए उन मुनियों ने आठ मास का समय व्यतीत किया...और जब वापस वर्षा काल आया तब सिंहगुफावासी मुनि ने गुरुदेव को कहा, **``भगवन् ! मैं नित्य षड्रस का भोजन करते हुए कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हूँ ।''**

सिंहगुफावासी मुनि की यह प्रार्थना सुनकर गुरुदेव समझ गए कि यह स्थूलभद्र के साथ ईर्ष्या रखकर बात कर रहा है । गुरुदेव ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर निर्णय किया कि कोशा वेश्या के यहाँ अन्य किसी भी मुनि का चातुर्मास उनकी आत्मा के लिए हितकर नहीं है, इस बात को जानकर गुरुदेव ने उस मुनि को समझाते हुए कहा, ***``वत्स ! तुम इस प्रकार का अतिदुष्कर अभिग्रह धारण मत करो । मेरु की तरह स्थिर एक मात्र स्थूलभद्र ही इस प्रकार के अभिग्रह को धारणकर पूर्ण करने में समर्थ है ।''***

गुरुदेव के इन वचनों को सुनकर उस मुनि ने कहा, ``गुरुदेव ! मेरे लिए यह अभिग्रह कोई दुष्कर नहीं है तो फिर दुष्कर-दुष्कर कैसे हो सकता है ?''

गुरुदेव ने कहा, ``वत्स ! इस प्रकार के अभिग्रह से तुम पूर्व के तप से भी भ्रष्ट हो जाओगे । **अपनी शक्ति के उपरांत भार को वहन करने से लाभ के बदले नुकसान ही होता है ।''**

गुरुदेव द्वारा समझाने पर भी अपने आपको शूरवीर माननेवाले उन मुनि ने गुरु के वचन की अवज्ञा की । वे अभिमानी बनकर कोशा वेश्या के भवन की ओर निकल पड़े ।

कोशा वेश्या के भवन में पहुँचने के बाद उन्होंने चातुर्मास व्यतीत करने के लिए चित्रशाला प्रदान करने की मांग की ।

मुनि की प्रार्थना सुनकर कोशा वेश्या समझ गई कि ये मुनि, स्थूलभद्र से ईर्ष्या रखते हुए यहाँ आए हैं । ये अपने आपको तपस्वी मान रहे हैं, परन्तु पतन के गर्त में डूबने की तैयारी करने वाले इनका, किसी भी उपाय से अवश्य रक्षण करना चाहिए । इस प्रकार विचार कर कोशा वेश्या ने उन्हें रहने के लिए

चित्रशाला प्रदान की । तत्पश्चात् षड्रस से युक्त भोजन बहोराया । उसके बाद मुनि के सत्त्व की परीक्षा करने के लिए रूप और लावण्य की साक्षात् मूर्ति समान वह कोशा अपने देह का अद्भुत श्रृंगार कर मुनिवर के सामने उपस्थित हुई ।

काम के आसनों के विविध चित्र, षड्रस युक्त भोजन और कोशा वेश्या के अद्भुत रूप को देखकर वे मुनि तत्काल क्षुब्ध हो गए । उनके अन्तर्मन पर कामशत्रु ने जोरदार हमला किया और वे तत्क्षण परास्त हो गए ।

काम के घर में रहकर काम से अलिप्त रहनेवाले तो स्थूलभद्र जैसे विरले ही हो सकते हैं ।

कामातुर बने हुए वे मुनि कोशा वेश्या के पास भोग की प्रार्थना करने लगे !

मुनि के मन व तन को चलित देखकर पुनः उन्हें स्थिर करने के उद्देश्य से कोशा वेश्या ने कहा, **``हम तो धन के अधीन हैं, अतः यदि मेरा संग चाहते हो तो मुझे धन प्रदान करें ।''**

मुनि ने कहा, ``यदि नदी की रेती में से तेल निकलता हो तो हमारे पास से धन मिल सकता है । हम धन कहाँ से लाएँ ?''

कोशा ने कहा, ``यदि तुम मेरा संग ही चाहते हो तो एक उपाय है, ``नेपाल देश का राजा प्रत्येक नवीन साधु को एक लाख की कीमत का रत्नकंबल प्रदान करता है, अतः वहाँ जाकर रत्नकंबल लेकर आओ । उसके बाद ही तुम अपनी मनोकामना को पूर्ण कर सकोगे ।''

कोशा के इन वचनों को सुनकर कामातुर बने वे मुनि अपने श्रमण-जीवन की आचार-संहिता को भूल गए । वेश्या के देहसंग को पाने के लिए, चालू वर्षाऋतु में नेपाल जाकर रत्नकंबल लाने के लिए तैयार हो गए ।

कामवासना से पीड़ित वे मुनि चातुर्मास दरम्यान विहार करते हुए नेपाल पहुँचे । वहाँ के राजा ने उन्हें लक्षमूल्य का रत्नकंबल भेंट दिया । उस रत्नकंबल को लेकर जब वे मुनि चोरों की एक पल्ली में से प्रसार हो रहे थे, तभी वृक्ष पर बैठा पोपट चिल्लाया, **``लक्ष जा रहा है-लक्ष जा रहा है ।''**

पोपट की बात सुनकर चोरों ने उन मुनि को पकड़ लिया और उनके पास रहा रत्नकंबल ले लिया । वे मुनि वापस नेपाल देश में गए और रूप

परिवर्तन कर पुनः दूसरी बार राजा के पास से रत्नकंबल प्राप्त किया । इस बार रत्नकंबल को उन्होंने बाँस की भुगली में छिपा दिया । वापस वह पोपट चिल्लाया, ``लाख जा रहा है, लाख जा रहा है ।''

चोरों ने पुनः उन मुनि को घेर लिया, परन्तु उनके पास से रत्नकंबल नहीं मिल पाया ।

आखिर अत्यंत कष्ट उठाकर वे मुनि रत्नकंबल को लेकर कोशा के भवन में आ गए । उनके मन में इस बात की अपार खुशी थी कि इस बार वेश्या अवश्य मेरी इच्छा पूर्ण करेगी ।

मुनि ने वह रत्नकंबल कोशा वेश्या को प्रदान किया । कोशा वेश्या ने स्नान के पश्चात् उस रत्नकंबल से अपने शरीर को पोंछा और उसे गटर में फेंक दिया ।

बड़ी कठिनाई से लाये हुए उस रत्नकंबल को गटर में फेंकते हुए देखकर मुनिवर ने कहा, ``अरे कोशा ! तुम इस रत्नकंबल की कीमत समझती हो या नहीं ? मैं कितना कष्ट उठाकर यह रत्नकंबल लाया हूँ और तू इसे इस प्रकार गटर में फेंकने के लिए तैयार हो गई ?''

उसी समय अवसर देखकर उस कोशा ने कहा, ``ओ मूढ़ मुनिवर ! तुम इस रत्नकंबल की कीमत समझते हो, किंतु गुरुदेव द्वारा प्राप्त ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूपी रत्नों को अशुचि से भरपूर मेरी देह रूपी गटर में फेंकते हुए तुम्हें शर्म नहीं आ रही है ? **तुम मुझे मूर्ख कहते हो परन्तु क्या तुम स्वयं महामूर्ख नहीं हो ?** दुर्लभता से प्राप्त इस चारित्र को फेंकते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आ रही है ?''

वेश्या के कटाक्षयुक्त इन कटु सत्य वचनों को सुनकर मुनिवर का कामावेग शांत हो गया । उन्हें अपनी भूल का पश्चात्ताप होने लगा ।

मुनिवर ने कहा, ``हे कोशा ! मैं अनंत दुःख को देनेवाले महामोह के जाल में फँस गया हूँ, परन्तु बुद्धिपूर्वक तुमने मेरा उद्धार किया । व्रत में लगे अतिचार आदि दोषों की शुद्धि के लिए मैं गुरुदेव के पास जाता हूँ और उनके पास अपने पापों की आलोचना करके अपनी आत्मा को शुद्ध बनाता हूँ । तुम्हें हमेशा धर्मलाभ हो ।''

कोशा ने कहा, ``ब्रह्मचारी ऐसे आपको प्रतिबोध देने के लिए मैंने आपकी कोई आशातना की हो, उसके लिए मैं आपसे क्षमायाचना करती हूँ।''

स्थूलभद्र महामुनि की स्तुति करती हुई कोशा बोली, ''पर्वत की गुफा में और एकांत निर्जन जंगल में रहकर काम को जीतने वाले हजारों नर पैदा हुए हैं, परन्तु युवतिजन के निकट, एकांत में, भव्यमहल में रहने पर भी काम को वश करनेवाले तो एक मात्र स्थूलभद्र ही हैं !''

वेश्या रागवाली थी, सदैव उनके वचन का अनुसरण करने वाली थी, षड्रस का भोजन था, सुंदर महल था, मनोहर देह था, यौवन वय थी, वर्षा ऋतु थी, इस प्रकार काम को उत्पन्न करने वाले अनेक निमित्त विद्यमान होने पर भी उस कोशा को प्रतिबोध करने वाले स्थूलभद्र मुनि को मैं भावपूर्वक वंदन करता हूँ।

सिंहगुफावासी मुनि भी गुरुवचन को याद करने लगे और मनोमन स्थूलभद्र महामुनि के महासत्त्व की भूरि-भूरि अनुमोदना करने लगे।

क्रमशः आगे बढ़ते हुए वे अपने गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्होंने अपने पापों की आलोचना की।

गुरुदेव ने भी कहा, ``हे महानुभाव ! मैंने पहले ही तुम्हें निषेध किया था। स्थूलभद्र जो कर सकता है, वह करने में कोई समर्थ नहीं है।''

गुरुदेव के इन वचनों को सुनकर मुनिवर ने अपनी भूल स्वीकार की और गुरुदेव से क्षमायाचना की।

रथिक की दीक्षा

नंदराजा को कोशा वेश्या के चरित्र संबंधी जानकारी मिली। एक बार उस राजा ने एक रथिक को वह कोशा वेश्या सौंप दी। वह रथिक कोशा वेश्या के महल में गया। कोशा ने उसे प्रतिबोध देने का निश्चय किया। वह कोशा उस रथिक के आगे स्थूलभद्र के महान् गुणों का बार-बार वर्णन करने लगी। स्थूलभद्र को छोड़कर इस जगत् में अन्य कोई धर्मी या कुशल पुरुष नहीं है।

स्थूलभद्र की पुनः-पुनः प्रशंसा को सहन नहीं कर पाने के कारण उस रथिक ने अपनी कलाओं के प्रदर्शन का निश्चय किया। वह रथिक उस कोशा को गृह-उद्यान में ले गया और वहाँ पर अपनी शय्या (पल्यंक) पर बैठे-बैठे ही कोशा के मनोरंजन के लिए उसने अपनी कलाओं का प्रदर्शन चालू कर दिया।

उसने एक बाण छोड़कर आम्र के गुच्छे (लूंब) को बिंध दिया । एक के पीछे एक बाण को लगाकर अपने तक बाणावली बनाई । उसके बाद अर्ध चंद्राकार बाण से उस लूंब का छेदकर मूल सहित उस लूंब को लेकर उस वेश्या के हाथ में थाम दी और बोला, ``देखी मेरी कला !''

रथिक की इस कला को देखकर उसके अभिमान को तोड़ने के लिए कोशा वेश्या ने सरसों के ढेर के बीच सुई रखकर उस पर पुष्प रखा और उस पर नृत्य करना प्रारंभ किया । इस प्रकार नृत्य करने पर भी सुई, पुष्प तथा सरसों का एक दाना भी नहीं हिल पाया !

वेश्या की इस कला से संतुष्ट होकर रथिक ने कहा, ``बोल, मैं तुझे क्या दूँ ?''

कोशा ने कहा, ``मैंने जो कुछ किया, यह कोई विशिष्ट कला नहीं है । पूर्वाभ्यास से यह सब कुछ संभव है ।''

मछलियाँ जल में तैरती हैं या पक्षी आकाश में उड़ते हैं, यह सब प्रकृतिसिद्ध है, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ।

गुच्छे को तोड़ना या पुष्प पर मेरा नृत्य करना कोई दुष्कर कार्य नहीं है, वह तो अभ्यास से या लघु लाघवी कला से संभव है, परंतु भोग से ही जिसका उज्ज्वल शरीर है और जो भोग-सुखों के बीच ही बड़ा हुआ है, ऐसे स्थूलभद्र ने जो दुष्कर कार्य किया है, वह न तो जन्मसिद्ध है और न ही अभ्यास से सिद्ध है-यही सबसे बड़ा आश्चर्य है !

जिस स्थूलभद्र ने 12 वर्षों तक भोग-सुखों का अनुभव किया, जिस चित्रशाला में रहकर षड्रस का भोजन किया, उसी स्थूलभद्र ने इसी चित्रशाला में लेश भी व्रत का खंडन नहीं किया, यही सबसे अधिक आश्चर्य-कारी है । किसी कवि ने कहा है–

आम्र के गुच्छे को तोड़ना दुष्कर नहीं है और न ही सरसों के ढेर पर नृत्य करना दुष्कर है, परन्तु स्त्री के बीच रहकर स्थूलभद्र ने जो कुछ किया है, वह सबसे अधिक दुष्कर कार्य है ।

रथिक ने कहा, ``वह स्थूलभद्र कौन है, जिसकी तुम इतनी अधिक प्रशंसा करती हो ?''

वेश्या ने कहा, ``वे शकटाल मंत्री के पुत्र स्थूलभद्र हैं ।''

रथिक ने कहा, ``यदि ऐसा ही है तो मैं उनका दासानुदास हूँ ।''

कोशा के मुख से स्थूलभद्र के स्वरूप का वर्णन सुनकर भव से विरक्त बने उस रथिक ने राजा की अनुज्ञा प्राप्त कर गुरुदेव के पास जाकर भागवती प्रव्रज्या अंगीकार कर ली ।

ज्ञानप्राप्ति

भवितव्यता के योग से जगत् में परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं । उस समय 12 वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा । इस अकाल के कारण साधुओं को भिक्षा की प्राप्ति दुर्लभ बनती गई...परिणामस्वरूप भूख से पीड़ित अनेक मुनि स्वाध्याय करने में असमर्थ बनते गए । फलतः श्रुत व सिद्धांत का विस्मरण होने लगा । पाटलिपुत्र नगर में समस्त श्रमण-संघ इकट्ठा हुआ । जिस मुनि को जिस सूत्र का जो अध्ययन याद था, उसे इकट्ठा किया गया...इस प्रकार श्रीसंघ ने मिलकर ग्यारह अंगों का संयोजन किया ।

उस समय 12 वें दृष्टिवाद को जानने वाले एक मात्र भद्रबाहुस्वामी ही थे, जो नेपाल देश में महाप्राणायाम नाम का ध्यान कर रहे थे ।

उस समय अन्य साधुओं के दृष्टिवाद के अभ्यास के लिए श्रीसंघ ने दो मुनियों को तैयार कर भद्रबाहुस्वामी जी के पास भेजा ।

उन दोनों मुनियों ने प्रणाम करके कहा, ``गुरुदेव ने आपको पाटलिपुत्र नगर में पधारने के लिए आदेश दिया है ।''

भद्रबाहु स्वामी ने कहा, ``अभी मैं महाप्राणायाम ध्यान कर रहा हूँ, अतः अभी तो मैं वहाँ नहीं आ सकूंगा ।''

उन दोनों मुनियों ने आकर श्रीसंघ व गुरुदेव से बात कर दी ।

भद्रबाहुस्वामीजी के इस प्रत्युत्तर को जानकर श्रीसंघ व गुरुदेव ने पुनः दो शिष्यों को तैयार कर भद्रबाहुस्वामीजी म. के पास भेजा ।

उन दोनों शिष्यों ने जाकर भद्रबाहुस्वामीजी म. को पूछा, ``यदि कोई संघ की आज्ञा नहीं मानता हो तो उसे क्या दंड देना चाहिए ?''

भद्रबाहुस्वामीजी ने कहा, ``उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए ।''

उन शिष्यों ने कहा, ``इस वचन से तो आप ही संघ के बाहर हो जाते हैं ।''

भद्रबाहु स्वामीजी ने कहा, ``मैं संघ की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ, परन्तु अभी मेरा महाप्राणायाम ध्यान चालू होने से मुझे अधिक अवकाश नहीं मिल पा रहा है, फिर भी यदि दृष्टिवाद के अभ्यास के लिए जो मुनि यहाँ

पधारेंगे, उन्हें मैं प्रतिदिन सात वाचना प्रदान करूंगा और ध्यान की समाप्ति के बाद विशेष वाचनाएँ भी दे सकूंगा । इस प्रकार करने से मेरा कार्य भी सिद्ध होगा और संघ की आज्ञा का भी पालन हो सकेगा ।''

भद्रबाहु स्वामीजी के इन वचनों को सुनकर वे दोनों मुनिवर अत्यंत संतुष्ट हुए । उन्होंने जाकर संघ व गुरुदेव को बात बताई ।

भद्रबाहु स्वामी के इस प्रत्युत्तर को जानकर संघ भी प्रसन्न हुआ और श्रीसंघ ने स्थूलभद्र आदि 500 मुनियों को दृष्टिवाद सीखने के लिए भद्रबाहु स्वामीजी के पास भेजा ।

भद्रबाहु स्वामीजी अपनी अनुकूलतानुसार प्रतिदिन 7-7 वाचनाएँ देने लगे । परन्तु अन्य साधु तो अध्ययन करते-करते थक गए...परिणाम स्वरूप स्थूलभद्र को छोड़कर सभी मुनि अन्यत्र चले गए ।

स्थूलभद्र के मनोभंग को देखकर भद्रबाहुस्वामी ने पूछा, ``तू खेद क्यों पा रहा है ?''

स्थूलभद्र ने कहा, ``अल्प वाचना के कारण ।''

भद्रबाहु स्वामीजी ने कहा, ``तू चिंता मत कर, मेरा ध्यान लगभग पूर्ण होने आया है । ध्यान की समाप्ति के बाद मैं तुझे पूर्ण संतुष्ट करने की कोशिश करूंगा ।''

कुछ समय बाद भद्रबाहुस्वामी का महाप्राणायाम ध्यान पूर्ण हो गया । उसके बाद वे स्थूलभद्र को खूब वाचनाएँ देने लगे-परिणामस्वरूप वे अल्प-काल में ही करीब दशपूर्व के ज्ञाता बन गए ।

पश्चात्ताप

संभूतिविजय आचार्य भगवंत के वैराग्यपूर्ण धर्मोपदेश को सुनने से श्रीयक के मन में भी असार संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ और वह दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गया । चारित्र धर्म अंगीकार करने की श्रीयक की इच्छा जानकर उसकी 7 बहिनें भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गईं...और एक शुभ दिन श्रीयक ने अपने पुत्र श्रीधर को मंत्रीपद प्रदान कर राजा की आज्ञा प्राप्त कर, अपनी सातों बहनों के साथ संसार के बंधनों का परित्याग कर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

भागवती दीक्षा अंगीकार करने के बाद श्रीयक मुनि अपने गुरुदेव के साथ पृथ्वीतल पर विचरने लगे । पूर्व के क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय के कारण श्रीयक के लिए उपवास आदि बाह्य तप की साधना अत्यंत कठिन थी ।

दिन पर दिन बीतने लगे और पर्युषण महापर्व के दिन आए । क्रमशः संवत्सरी का दिन आया ।

श्रीयक मुनि प्रतिदिन नवकारसी का पच्चक्खाण करते थे । उस दिन श्रीयक की बहिन यक्षा ने कहा, ***''बंधु मुनिवर ! आज वार्षिक पर्व का दिन है, अतः रोज की अपेक्षा कुछ विशेष तप आराधना करनी चाहिए, क्योंकि पर्व दिनों में दान-पुण्य-तप आदि करने से विशेष लाभ होता है ।''***

बहन साध्वी की प्रेरणा से श्रीयक मुनि ने उस दिन पोरिसी करने का निश्चय किया ।

तत्पश्चात् पुनः यक्षा साध्वी ने प्रेरणा दी । इसके फलस्वरूप उन्होंने साढ पोरिसी का निर्णय लिया । तत्पश्चात् पुनः पुनः प्रेरणा होने से पुरिमड्ढ, अवड्ढ और क्रमशः उपवास का पच्चक्खाण कर लिया ।

पूरा दिन तो प्रवचन, महोत्सव आराधनादि में आराम से बीत गया ।

रात्रि प्रारंभ हुई । अत्यंत क्षुधा के कारण उनकी नींद हराम हो गई । और अंत में उसी रात्रि में पंचपरमेष्ठी भगवंत का स्मरण करते हुए अत्यंत समाधिपूर्वक वे कालधर्म को प्राप्त हुए ।

प्रातः काल होने पर जब यक्षा साध्वी को इस बात का पता चला तो उसे अत्यंत ही आघात लगा । उसने श्रीसंघ को कहा, ``मैंने बिना सोचे–समझे ही उनको उपवास करा दिया...और उसी कारण उनकी मृत्यु हो गई...अतः मुझे मुनि-हत्या का पाप लगेगा...मैं इस पाप से कैसे छूट पाऊंगी, अहो ! मुझे नरक में जाना पड़ेगा...मैं किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ । अतः मैं आत्मघात कर मर जाऊंगी ।''

श्रीसंघ ने कहा, ``इसमें तुम्हारा दोष नहीं है । तुमने तो हितबुद्धि से ही उनसे उपवास कराया है, अतः तुम निर्दोष हो । तुम्हें तो पुण्य होगा ।''

उसने कहा, ``मैं जिनवचन के बिना मानने के लिए तैयार नहीं हूँ । यदि साक्षात् जिनेश्वर भगवंत मुझे कहें तो मेरा संदेह दूर हो सकता है ।''

उसी समय समस्त संघ ने कायोत्सर्ग किया । जिसके प्रभाव से शासन देवी प्रगट हुई । शासन देवी यक्षा साध्वी को महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी भगवंत के पास ले गई !

यक्षा साध्वी ने सीमंधर स्वामी भगवंत के आगे अपने पाप का निवेदन किया । भगवंत ने कहा, **``तुम निर्दोष हो । श्रीयक मुनि तो उपवास के प्रभाव से कर्मों की अपूर्व निर्जरा कर आयुष्य समाप्ति के साथ प्रथम देवलोक में गए हैं और भविष्य में वे मोक्ष में जाएंगे ।**

उसके बाद सीमंधर स्वामी ने धर्मोपदेश द्वारा यक्षा साध्वी को चार चूलिकाएँ प्रदान कीं !

यक्षा साध्वी ने वे चारों चूलिकाएँ अपने मन में धारण कीं । तत्पश्चात् शासनदेवी ने यक्षा साध्वी को पुनः अपने स्थान पर पहुँचा दिया ।

यक्षा साध्वी ने वे चूलिकाएँ संघ को अर्पित कीं । उनमें से दो चूलिकाएँ आचारांग सूत्र व दो चूलिकाएँ दशवैकालिक सूत्र के साथ जोड़ दी गई, जो आज भी विद्यमान हैं ।

अभिमान का कटु फल

एक समय की बात है ।

स्थूलभद्र की सातों बहिनों यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा तथा रेणा; जिन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार की थी ।

यक्षा आदि सभी सातों साध्वियाँ अपने भाई मुनि स्थूलभद्र को वंदन करने के लिए गुरुदेव के पास आईं और पूछा, ``हमारे भाई मुनि कहाँ हैं ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, ``तुम आगे जाओ, वे अशोकवृक्ष के नीचे स्वाध्याय कर रहे हैं ।'' वे सातों साध्वियाँ अशोकवृक्ष की ओर आगे बढ़ीं परन्तु वहाँ पर उन्होंने स्थूलभद्र के बजाय एक सिंह को बैठे देखा !

वे एकदम भयभीत हो गईं और सोचने लगीं, ``क्या इस सिंह ने हमारे भाई मुनि का भक्षण कर दिया होगा ?''

वे तत्काल गुरुदेव के पास आकर बोलीं, ``भगवंत ! वहाँ पर भाई मुनि तो नहीं है, वहाँ तो एक सिंह बैठा हुआ है । क्या उस सिंह ने भाई मुनि का भक्षण तो नहीं किया है न ?''

आचार्य भगवंत ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर कहा, ``खेद न करो, तुम्हारा भाई विद्यमान है, तुम वापस जाओ, वहीं पर तुम्हें अपने भाई मुनि मिलेंगे ।''

गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर वे साध्वियाँ पुनः उस अशोक वृक्ष के निकट पहुँचीं, वहाँ पर उन्होंने अपने भाई मुनि को देखा, सिंह वहाँ से गायब था !

वंदन करने के बाद जब साध्वीजी भगवंत ने सिंह के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा, ``यह सिंह का रूप तो मैंने ही किया था ।''

अब, कुछ समय बाद जब स्थूलभद्र महामुनि आचार्य भगवंत के पास वाचना लेने के लिए आए तब उन्होंने कहा, ``मैं तुम्हें वाचना नहीं दूंगा, क्योंकि अब अधिक ज्ञान पाने के लिए तुम योग्य नहीं हो । तुमने भी यदि सिंह का रूप कर लिया तो फिर दूसरों की तो क्या बात की जाय ? अब कालक्रम से विद्या का पाचन कम होता जाएगा । विद्या भी पात्र को ही देने से ही लाभ का कारण बनती है, अपात्र को दी गई विद्या स्व-पर को नुकसान ही पहुँचाती है ।''

स्थूलभद्र ने गुरुदेव के चरणों में गिरकर क्षमायाचना की । फिर भी गुरुदेव ने वाचना देने से इन्कार कर दिया । तत्पश्चात् संघ के अति आग्रह से भद्रबाहु स्वामी म. ने शेष चार पूर्वों का ज्ञान, मात्र सूत्र से प्रदान किया किंतु उसका अर्थ नहीं बतलाया ।

इस प्रकार मूलसूत्र की अपेक्षा स्थूलभद्र महामुनि अंतिम चौदह पूर्वधर हुए । उसके बाद पृथ्वी तल पर विचरण कर स्थूलभद्र महामुनि ने अनेक भव्यजीवों को प्रतिबोध दिया । अंत में अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त कर प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए ।

काम के घर में रहकर काम नाश करनेवाले स्थूलभद्र महामुनि का नाम 84 चौबीसी तक अमर रहेगा ।

ऐसे महान् ब्रह्मचर्यसम्राट् के चरणों में अनंतशः वंदना !!!

स्थूलभद्रजी का जन्म वीर निर्वाण 116 में हुआ था ।

उन्होंने 30 वर्ष की उम्र में वीरनिर्वाण संवत् 146 में दीक्षा अंगीकार की थी । वी.सं. 170 में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे । आचार्यपद के बाद उन्होंने 45 वर्ष तक शासन का नेतृत्व किया था ।

वीर संवत् 215 में वैभारगिरि पर्वत पर 15 दिन के अनशन के साथ उनका कालधर्म हुआ था । उनके कालधर्म के साथ भरत क्षेत्र में शेष चार पूर्वों का ज्ञान, महाप्राणायाम ध्यान, समचतुरस्र (प्रथम) संस्थान और वज्रऋषभनाराच (प्रथम) संघयण का विच्छेद हो गया था ।

18-19. क्षमासागर अर्णिकापुत्र आचार्य एवं पुष्पचूला साध्वी

घ्नत्सु वैरिषु योऽत्यन्तं, क्षमां कुर्यात् सुभावतः ।
अन्निकापुत्रसूरीश, इवाप्नोति शिवश्रियम् ।।

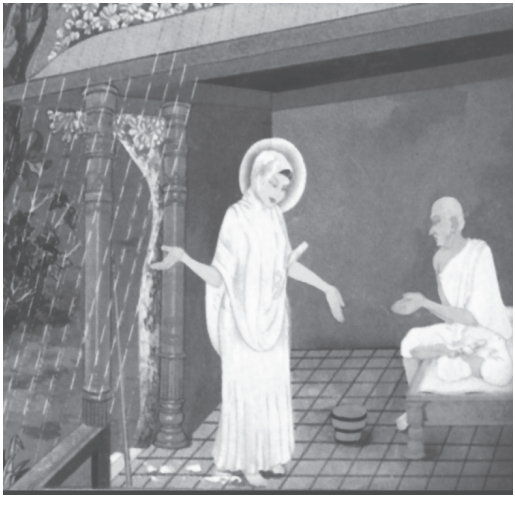

उत्तर मथुरा का निवासी देवदत्त अर्थार्जन के लिए एक बार दक्षिण मथुरा में आया । वहाँ जयसिंह नामक व्यक्ति के साथ उसकी दोस्ती हो गई । एक बार जयसिंह ने उसे भोजन के लिए आमंत्रण दिया । जयसिंह की बहिन अर्णिका उसे भोजन परोसने लगी । अर्णिका के अद्‌भुत रूप, लावण्य और यौवन को देख-कर देवदत्त के मन में उसके प्रति मोह पैदा हो गया ।

एक बार अवसर देखकर उसने जयसिंह के पास अर्णिका की माँग की । जयसिंह ने कहा, ``इसके साथ लग्न करने के बाद यदि तू यहीं पर रहने का वचन देता हो तो मैं अर्णिका का लग्न तुम्हारे साथ कराने के लिए तैयार हूँ । अर्णिका मुझे प्राण से भी अधिक प्यारी है, अतः मैं उसका वियोग सहन नहीं कर पाऊंगा ।''

अर्णिका के रूप के पिपासु बने देवदत्त ने जयसिंह की शर्त स्वीकार कर ली और एक शुभ दिन उन दोनों का पाणिग्रहण हो गया ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक बार देवदत्त के माता-पिता की ओर से एक पत्र आया । उस पत्र में उन्होंने लिखाः ``हे बेटा देवदत्त ! हम एकदम वृद्ध हो चुके हैं, वृद्धावस्था

में तू ही हमारा आधार है...तेरे ही आधार पर हमारा जीवन है...अतः तू अवश्य आ जाना । तेरे वियोग में हमारे प्राणों का भी वियोग हो जाएगा ।''

इस पत्र को पढ़कर देवदत्त की आँखों में आँसू आ गए । `इतो व्याघ्र इतस्तटी' जैसी उसकी स्थिति हो गई । अपने घर जाए तो प्रतिज्ञा का भंग होवे और न जाय तो माता-पिता की बेमौत मृत्यु हो जाय !

उसकी आँखों में आँसू देखकर अर्णिका ने पूछा, ``स्वामिन् ! आपकी आँखों में आँसू क्यों ?''

देवदत्त कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दे पाया । आखिर अर्णिका ने उसके हाथ में से वह कागज ले लिया और उसे पढ़ लिया । पढ़ने के बाद उसे वास्तविक-परिस्थिति का ख्याल आ गया ।

अर्णिका ने कहा, ``अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए आपको वहाँ चलना ही चाहिए !''

परन्तु मैंने जो वचन दिया है, उसका क्या ?

``इसके लिए आप चिंता न करें, मैं अपने भाई को समझा दूंगी ।'' अर्णिका ने कहा ।

अर्णिका ने अपने भाई को समझाने का प्रयास चालू किया । आखिर उसका भाई मान गया और उसने अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए देवदत्त और अर्णिका को उत्तर मथुरा में जाने के लिए अनुमति दे दी ।

नौकर-चाकर आदि परिवार के साथ अर्णिका व देवदत्त ने अपनी यात्रा प्रारंभ की । प्रयाण के पूर्व अर्णिका गर्भवती बनी हुई थी । बीच मार्ग में ही उसे प्रसव की पीड़ा उत्पन्न हुई...और उसने एक तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया ।

पुत्रजन्म के बाद अर्णिका ने सोचा, इस बालक का नाम मेरी सास व श्वसुर स्थापित करेंगे । परन्तु सब लोग उस बालक को अर्णिकापुत्र के नाम से बुलाने लगे ।

कुछ समय बाद देवदत्त अपने पिता के घर पहुँचा । उसे देखकर उसके वृद्ध माता-पिता अत्यंत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने उस बालक का नाम **संधीरण** रखा...परन्तु लोक में वह **अर्णिकापुत्र** के नाम से ही प्रख्यात हुआ ।

देवदत्त व अर्णिका अपने वृद्ध माता-पिता की खूब सेवा-भक्ति करने लगे। अर्णिका-पुत्र धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। पूर्व भव के पुण्य के उदय से उसे सद्गुरु का योग मिल गया। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर भी यौवन का उन्माद उसे छू न सका। वह नित्य धर्मोपदेश सुनने लगा। जिनवाणीश्रवण के प्रभाव से उसके हृदय में इस असार-संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ और एक शुभ दिन उसने मोह के बंधनों को तोड़कर सद्गुरु के चरणों में जाकर चारित्रधर्म स्वीकार कर लिया।

अर्णिकापुत्र भोगी मिटकर योगी बन गया। अगारी मिटकर जिन-शासन का अणगार बन गया। बाह्य-भौतिक समृद्धि का त्याग कर आत्मा की विराट् समृद्धि का भोक्ता बन गया।

अर्णिकापुत्र रत्नत्रयी की आराधना-साधना में तल्लीन हो गए। दिन-प्रतिदिन उनका आंतर-वैभव बढ़ने लगा। अपनी प्रभावक वाणी के द्वारा वे अनेक भव्यात्माओं को प्रतिबोध देने लगे।

गुरुदेव ने उनकी अंतरंग योग्यता और बाह्य-प्रतिभा देखकर उन्हें आचार्यपद प्रदान किया। वे जिनशासन की अद्भुत आराधना व प्रभावना करने लगे। क्रमशः वे वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। विहार करते हुए वे पुष्पभद्र नगर में पधारे।

पुष्पभद्र नगर में पुष्पकेतु नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा की रानी का नाम पुष्पवती था। एक शुभ दिन पुष्पवती रानी ने एक पुत्र व पुत्री के युगल को जन्म दिया।

बालक का नाम रखा गया पुष्पचूल और बालिका का नाम रखा गया पुष्पचूला।

वे दोनों क्रमशः बड़े होने लगे। दोनों बालकों को अत्यंत ही प्रेमपूर्वक परस्पर क्रीड़ा करते हुए देखकर राजा ने सोचा, यदि विवाह के बहाने इन दोनों का परस्पर वियोग हो गया तो वियोग की पीड़ा से वे दोनों ऐसे ही मर जाएंगे। इस प्रकार विचार कर राजा ने उन दोनों का परस्पर-विवाह करने का निर्णय लिया।

अपने इस निर्णय में प्रजा की साक्षी लेने के लिए उसने एक दिन मंत्री

व प्रजाप्रमुख को बुलाकर कहा, अंत:पुर में यदि कोई रत्न पैदा हो तो उसका स्वामी कौन ?

प्रजाप्रमुख ने जवाब दिया, ``आप ही उसके मालिक हो, अतः उन रत्नों को आप ही योग्य स्थान में जोड़ सकते हैं ।''

बस, प्रजाप्रमुख की सम्मति मिलते ही महारानी का निषेध (विरोध) होने पर भी राजा ने पुष्पचूल और पुष्पचूला का परस्पर विवाह करा दिया । पुत्र-पुत्री के बीच परस्पर विवाहसंबंध होने से रानी को बहुत ही बुरा लगा । उसने राजा को समझाने की कोशिश की, परन्तु राजा ने उसकी एक न मानी । आखिर विरक्त बनी रानी ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर रत्नत्रयी की सुंदर आराधना की, फलस्वरूप पुष्पवती साध्वी समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुई ।

समय बीतने पर पुष्पकेतु राजा की मृत्यु हो गई और उसके बाद पुष्पचूल राजा बना ।

देव बनी पुष्पवती ने सोचा, **``मुझे किसी भी उपाय से अपने पुत्र-पुत्री के अपकृत्य को रोकना चाहिए ।''** इसके लिए उसने एक बार पुष्पचूला को स्वप्न में भयंकर नरक के दर्शन कराए । नरक के दृश्य को देखकर पुष्पचूला रानी भयभीत हो उठी । भयभीत बनी रानी ने अनेक शांतिकर्म कराए...फिर भी देव के प्रभाव से उसे स्वप्न में अनेक बार नरक के दर्शन होने लगे ।

एक बार उसने सभी धर्मों के आचार्यों को बुलाकर नरक का स्वरूप पूछा । सभी ने नरक का अलग-अलग स्वरूप बतलाया । किसी ने गर्भावास, दरिद्रता, परतंत्रता, रोग आदि को ही नरक कहा ।

रानी को किसी की बात पर विश्वास नहीं आया । उसके बाद उसने अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत के पास जाकर नरक का स्वरूप पूछा ।

रानी ने स्वप्न में नरक का जो स्वरूप देखा था, वैसा ही नरक का स्वरूप आचार्य भगवंत ने पुष्पचूला को बतलाया ।

नरक के जीवों को परमाधामी देवता किस प्रकार के कष्ट देते हैं, उन सारे कष्टों का वर्णन आचार्य भगवंत ने सुंदरशैली में समझाया । **नरक के जीव क्षेत्रकृत भयंकर ठंडी गर्मी आदि की यातनाओं को सहन करते हैं । नरक के जीव परस्पर एक-दूसरे की मारकाट करते रहते हैं ।**

नरक के जीवों का आयुष्य भी अत्यधिक होता है । पहली नरक में जघन्य से 10,000 वर्ष और उत्कृष्ट से सागरोपम का दीर्घ आयुष्य होता है । दूसरी नरक में उत्कृष्ट आयुष्य तीन सागरोपम, तीसरी नरक में उत्कृष्ट आयुष्य सात सागरोपम, चौथी में 10, पाँचवीं में 17, छठे में 22 व सातवीं नरक में 33 सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य होता है ।

आचार्य भगवंत के मुख से नरक के इस प्रकार के वर्णन को सुनकर रानी ने पूछा, ``भगवंत ! क्या आपने भी इस प्रकार का स्वप्न देखा है ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, ``नहीं !''

तो फिर नरक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन आपने किसके आधार पर किया !

आचार्य भगवंत ने कहा, ***''जिनेश्वर भगवंत ने अपने केवलज्ञान के बल से देखकर नरक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है । जिनेश्वर भगवंत की उस वाणी को आगमग्रंथों के रूप में गूँथा गया है । उन्हीं आगम ग्रंथों के आधार पर मैंने नरक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है ।''***

``हे प्रभो ! किस पाप कर्म के कारण आत्मा नरक में जाती है ?''

आचार्य भगवंत ने कहा- **महा आरंभ, समारंभ, महापरिग्रह, गुरु-निंदा पंचेन्द्रिय-वध तथा मांसाहार आदि पापों के कारण आत्मा नरक में उत्पन्न होती है ।**

आचार्य भगवंत के उपदेश को सुनकर पुष्पचूला को खूब संतोष हुआ ।

कुछ समय बाद पुष्पवती देव ने पुष्पचूला को स्वप्न में देवगति का स्वरूप दिखलाया ।

पुष्पचूला ने अन्य-अन्य धर्माचार्यों को देवगति का स्वरूप पूछा । परन्तु किसी ने संतोषकारक जवाब नहीं दिया । उसके बाद उसने अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत को देवगति का स्वरूप पूछा ।

पुष्पचूला ने अपने स्वप्न में देवभव का जैसा स्वरूप देखा था, वैसा ही स्वरूप आचार्य भगवंत ने पुष्पचूला को बतलाया ।

देवलोक का दिव्य सुख, मनुष्य के सुख से परे है । वाणी द्वारा उस सुख का वर्णन शक्य नहीं है । देवताओं का शरीर वैक्रिय शरीर होता है, उस

शरीर में हड्डी, मांस, चर्बी, रक्त, मल, मूत्र आदि किसी भी प्रकार का अशुचि पदार्थ नहीं होता है । उनकी काया सदैव यौवन का अनुभव करती है । देवताओं को जन्म के समय गर्भावास की पीड़ा सहन नहीं करनी पड़ती है । उनके शरीर में किसी भी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता है । उनके जीवन में कभी भी बाल्यावस्था या वृद्धावस्था नहीं आती है । देवताओं का जघन्य आयुष्य 10,000 वर्ष और उत्कृष्ट आयुष्य 33 सागरोपम का होता है ।

पहले सौधर्म देवलोक में 32 लाख विमान हैं, उनमें असंख्य देवताओं का वास होता है ।

स्वप्न में दृष्ट देवगति के स्वरूप के तुल्य ही आचार्य भगवंत के पास से देवगति का वर्णन सुनकर पुष्पचूला रानी प्रसन्न हो गई ।

उसने पूछा, ``कौन सा पुण्यकर्म करने से देवभव की प्राप्ति होती है ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, **``सम्यग् प्रकार से साधुधर्म और श्रावकधर्म का पालन करने से आत्मा देवभव में उत्पन्न होती है ।''**

नरक व देवगति के स्वरूप को स्पष्टतया जानने पर पुष्पचूला को इस संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ । उसने अपने पति पुष्पचूल के आगे दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की ।

पुष्पचूल ने कहा, ``मैं तेरे वियोग को सहन नहीं कर पाऊंगा, अतः दीक्षा अंगीकार कर यदि इसी नगर में रहने का वचन देती हो तो मैं दीक्षा दिलाने के लिए तैयार हूँ ।''

रानी ने राजा को समझाने का प्रयत्न किया कि साधुजीवन में एक ही स्थान पर अधिकांश समय तक रहना उचित नहीं है, अतः इस बात का आग्रह नहीं रखना चाहिए ।

रानी के समझाने पर भी राजा ने अपना आग्रह चालू रखा । रानी ने सोचा, **``दीक्षा के बिना आत्मा का कल्याण नहीं है, यदि राजा विहार के लिए अनुमति नहीं देता है तो एक ही स्थान पर अनासक्त भाव से रहकर भी मैं निरतिचार संयम धर्म का पालन करूंगी''** इस प्रकार का दृढ़ संकल्प कर रानी ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । पुष्पचूला साध्वी अत्यंत ही आत्म-जागृति पूर्वक संयम धर्म का पालन करने लगी ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।

अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत ने अपने श्रुतज्ञान के बल से देखा कि निकट भविष्य में भयंकर अकाल पड़ने वाला है । भयंकर अकाल में साधुओं को भिक्षा-प्राप्ति दुर्लभ जानकर अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत ने अपने समस्त शिष्य-परिवार को अन्यत्र विहार करने की आज्ञा कर दी ।

धीरे-धीरे आचार्य भगवंत अशक्त होने लगे । पुष्पचूला साध्वीजी आचार्य भगवंत के लिए बयालीस दोष से रहित निर्दोष भिक्षा लाने लगी । इस प्रकार अप्रमत्त भाव व वैयावच्च गुण के प्रभाव से पुष्पचूला साध्वी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुई और समस्त घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान हो गया । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी पुष्पचूला साध्वी आचार्य भगवंत के लिए गोचरी ला रही थी ।

एक बार वर्षा के जल के बीच गोचरी लाने पर आचार्य भगवंत ने प्रश्न किया...वर्षा के जल में भिक्षा लाने से अप्काय की विराधना का दोष नहीं लगा ?

साध्वीजी भगवंत ने कहा, ``भंते ! जहाँ अचित्त जल था वहीं पर पैर रखकर मैं भिक्षा लेकर आई हूँ, अतः विराधना का प्रश्न नहीं है ।''

आचार्य भगवंत ने कहाः ``यह अचित्त जल है, यह कैसे जाना ?''

``ज्ञान के बल से ।''

``कौन से ज्ञान ? प्रतिपाती या अप्रतिपाती ?''

``अप्रतिपाती (केवलज्ञान) के बल से ।'' साध्वीजी भगवंत ने कहा ।

अप्रतिपाती ज्ञान की बात सुनते ही आचार्य भगवंत समझ गए कि साध्वीजी भगवंत को केवलज्ञान हो गया है । उसी समय उन्होंने केवली की आशातना के बदले में क्षमायाचना की और अपनी आत्म-निंदा की ।

उसके बाद उन्होंने पूछा, मेरा मोक्ष कब होगा ?

साध्वीजी भगवंत ने कहा, `गंगा नदी को पार करते समय आपको केवलज्ञान होगा ।'

इस बात को जानकर आचार्य भगवंत अपने आत्मकल्याण की भावना से गंगा नदी के किनारे आए और अन्य यात्रिकों के साथ नाव में बैठे ।

आचार्य भगवंत के बैठने पर नाव डूबने लगी, अतः लोगों ने उन्हें नदी में फेंक दिया । उसी समय पूर्वभव की दुष्ट स्त्री जो व्यंतरी बनी हुई थी, उसने आचार्य भगवंत को तीक्ष्ण भाले से बींध लिया । उस समय आचार्य भगवंत के शरीर में से खून टपकने लगा ।

ऐसे मरणांत उपसर्ग में भी लेश भी क्रोध के अधीन हुए बिना वे आचार्य भगवंत सोचने लगे, **''अहो ! मेरे रक्त से कितने अप्काय जीवों की विराधना हो रही है ?''**

इस प्रकार मरणांत उपसर्ग में भी उन्होंने अपने देह के संरक्षण की चिंता या किसी प्रकार का आर्तध्यान नहीं किया । बल्कि वे जगत् के समस्त जीवों के साथ एकता स्थापित कर उन अप्काय के जीवों की हो रही विराधना के फलस्वरूप अपने दुष्कृत की आलोचना-निंदा व गर्हा करने लगे । इसके परिणामस्वरूप वे अल्प समय में ही क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए । तत्काल समस्त घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और उसी समय आयुष्य पूर्ण हो जाने से वे शाश्वत अजरामर पद के भोक्ता बन गए ।

मरणांत कष्ट में भी अपूर्व समताभाव को धारण करने वाले महामुनि अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत के चरणों में भावभीनी वंदना ।

20. अतिमुक्तक: पश्चाताप के आँसू

कृतानेक तमस्कोपि, निजं निन्दन् सुभावतः ।
ईर्यापथिकया सिद्धोऽतिमुक्त इव देहभाग् ।।

चरमतीर्थपति भगवान महावीर प्रभु पृथ्वीतल को पावन करते हुए पोलासपुर नगर में पधारे । देवताओं ने आकर भव्य समवसरण की रचना की । परमात्मा की अमृत समान धर्मदेशना का श्रवण अनेक पुण्यवंत आत्माओं में घर कर गया । मोह रूपी विष दूर हो गया और अनेक आत्माओं ने सर्व-विरति चारित्रधर्म और देशविरति-श्रावकधर्म को स्वीकार किया ।

मध्याह्न में महावीर प्रभु के प्रथम गणधर गौतम स्वामी भगवंत गोचरी के लिए नगर में पधारे ।

गौतम स्वामी के अद्‌भुत रूप, लावण्य और तेजस्वी ललाट को देखकर एक छोटे-से बालक अतिमुक्तक ने गौतम स्वामी को कहा, ``हे प्रभो ! आप मेरे घर गोचरी के लिए पधारेंगे ?''

गौतम स्वामी ने बालक की विनती स्वीकार की और वे उसके घर गोचरी के लिए पधारे ।

बालक अतिमुक्तक और उसकी माता ने अत्यंत ही आदरपूर्वक गौतम स्वामी भगवंत को गोचरी बहोराई ।

गोचरी बहोरकर गौतम स्वामी घर में से बाहर निकलकर उद्यान की ओर आगे बढ़ने लगे । बालक अतिमुक्तक भी प्रभु के साथ-साथ चलने लगा ।

कुछ दूरी तक आगे बढ़ने के बाद बालक अतिमुक्तक ने कहा, ``प्रभो ! आपके पास इतना अधिक भार है, आप कुछ भार मुझे दे दो, मैं उठा दूंगा ।''

गौतम स्वामी ने कहा, ``यह भार हर किसी को नहीं दे सकते हैं ?''

``तो फिर किसको दे सकते हैं ?''

``जो हमारे जैसा बने, उसे ही यह भार दे सकते हैं ।''

``प्रभो ! आप मुझे अपने समान बना दो ।''

``वत्स ! तेरे माता-पिता की सहमति ले आ, उनकी सहमति होगी, तो मैं तुझे जरूर दीक्षा दूंगा ।''

...आगे बढ़कर बालक अतिमुक्तक ने महावीर प्रभु की वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना का श्रवण किया, जिसे सुनकर अतिमुक्तक का हृदय वैराग्यरंग से रंजित हो गया । देशना-श्रवण के साथ ही उसने चारित्रधर्म अंगीकार करने का दृढ़ संकल्प कर लिया ।

बालक अतिमुक्तक अपने घर लौटा और माँ के पास दीक्षा की अनुमति माँगने लगा ।

माँ ने कहा, ``बेटा ! तू तो बहुत छोटा है ? संसार क्या और दीक्षा क्या ? यह सब तू कहाँ जानता है ?''

अतिमुक्तक ने कहा, ``माँ ! मैं जो जानता हूँ, वह नहीं जानता हूँ और जो नहीं जानता हूँ वह जानता हूँ ।''

माँ ने पूछा, ``कैसे ?''

उसने कहा, **``माँ ! मौत आने वाली है, यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ, परंतु मरकर कहाँ जाने वाला हूँ, इसका मुझे पता नहीं है ।''**

``माँ ! मरकर कहाँ जाने वाला हूँ, यह मैं नहीं जानता हूँ परन्तु इतना मुझे पता है कि यदि मैं धर्म करूंगा, तो मेरी सद्गति होगी और पाप करूंगा, तो मेरी दुर्गति होगी ।''

अतिमुक्तक के इन जवाबों को सुनकर माँ स्तब्ध हो गई । आखिर उसकी तीव्र वैराग्य भावना को जानकर माता-पिता ने उसे दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान की ।

और एक शुभ दिन अतिमुक्तक ने प्रभु के चरणों में दीक्षा अंगीकार कर ली और वे बाल-मुनि बन गए ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद उन्हें स्थविर मुनि को सौंप दिया गया ।

एक बार वर्षा ऋतु में अतिमुक्तक मुनि अन्य मुनियों के साथ स्थंडिल के लिए जंगल में गए ।

स्थंडिल भूमि से लौटने में स्थविर मुनियों को कुछ देर लगी, तभी बालमुनि अतिमुक्तक ने छोटे-छोटे बालकों को बहती हुई नदी में कागज की नाव तिराते हुए देखा । यह दृश्य देखकर कुतूहलवश बालमुनि भी वहीं बैठ गए और अन्य बालकों के साथ वे भी अपने पात्र को नदी में तिराने लगे ।

थोड़ी देर में स्थविर मुनि लौट आए । जब स्थविर मुनियों ने अतिमुक्तक मुनि को नदी में काष्ठपात्र को तिराते हुए देखा, तो उनके आश्चर्य का पार न रहा ।

स्थविर मुनियों ने बालमुनि को ठपका देते हुए कहा, **``ओ मुनिवर ! जब सचित्त जल का स्पर्श करना भी हमारे लिए निषिद्ध है, फिर इस प्रकार बहती नदी में पात्र तिराने के लिए तुम कैसे तैयार हो गए ? इस प्रकार की चेष्टा से तो छह काय के जीवों की विराधना होती है ।''**

स्थविरों की बात सुनते ही अतिमुक्तक मुनि का मन पश्चात्ताप से भर आया । वे स्थविर मुनियों के साथ प्रभु के पास आए । प्रभु के पास आते ही उन स्थविरों ने प्रभु को पूछा, ``प्रभो ! यह अतिमुक्तक कितने भव तक संसार में भटकेगा ?''

प्रभु ने कहा, **``अतिमुक्तक तो चरम शरीरी है, वह तो इसी भव में मोक्ष में जाने वाला है ।''** प्रभु की यह बात सुनकर स्थविरों के आश्चर्य का पार न रहा ।

प्रभु की आज्ञानुसार अतिमुक्तक मुनि अपने पाप की आलोचना रूप `इरियावहिय' करने लगे ।

`इरियावहिय सूत्र' **``पणग दग मट्टि...''** इत्यादि शब्दों का उच्चारण करते-करते उनका हृदय तीव्र पश्चाताप से भर आया । पश्चाताप के आँसुओं में वे अपने पाप का प्रक्षालन करने लगे...और कुछ ही क्षणों में समस्त घातिकर्मों का क्षय कर वे केवलज्ञानी बन गए ।

पश्चात्ताप के आँसुओं में पाप के प्रक्षालन की अपूर्व शक्ति भरी हुई है । घोर से घोर पापी आत्माएँ भी पश्चात्ताप के आँसुओं से पाप से सर्वथा मुक्त बन गईं-सदा के लिए पावन बन गईं ।

21. दृढ प्रतिज्ञ-नागदत्त (1)

अदत्तं यो न गृह्णाति, परस्य दुःखितोऽपि सन् ।
नागदत्त इवाप्नोति, समुवितकमलां क्रमात् ।।

वाराणसी नगरी में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था । उस नगर में यज्ञदत्त नाम का श्रेष्ठी रहता था, उस श्रेष्ठी के धनश्री नाम की पत्नी थी । जिनधर्म की आराधना-उपासना करते हुए उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ । खूब उत्साह-उल्लास के साथ पुत्र का जन्म महोत्सव मनाया गया । उस बालक का नाम **'नागदत्त'** रखा गया । धीरे-धीरे नागदत्त बड़ा होने लगा । क्रमशः सभी शस्त्र और शास्त्र कला में निपुण बना ।

अपने पिता की मृत्यु के बाद अर्थार्जन के लिए वह किसी यान में आरूढ़ होकर अन्य द्वीप पर गया । वहाँ पर बहुतसा धन कमाकर अन्य किसी के यान में आरूढ़ होकर जलमार्ग से लौट रहा था । तभी अचानक तल में रहे जलभँवर में वह वाहन फँस गया । वहाँ से वाहन का बाहर निकलना मुश्किल हो गया । सभी चिंताग्रस्त हुए । अब क्या किया जाय ?

समुद्र के भँवर में फँसे हुए वाहन को बाहर निकालने के लिए जब कोई उपाय कारगर नहीं हुआ, तब नागदत्त ने एक उपाय बताते हुए कहा, ``पास ही के पर्वत पर भारंड पक्षी रहे हुए हैं, यदि कोई साहसी वहाँ जाकर उन भारंड पक्षियों को उड़ाए तो उनके पंखों से जो वायु पैदा होगी, उससे यह वाहन भंवर में से बाहर निकल सकता है ।''

वाहन के स्वामी ने कहा, ``वहाँ जाने के लिए कोई उत्साही है ? वहाँ जाकर उन भारंड-पक्षियों को उड़ाएगा, उसे मैं 100 दीनारें दूंगा ।''

आखिर नागदत्त ने वहाँ जाना स्वीकार किया । उस पर्वत पर जाकर नवकार महामंत्र का स्मरण कर नागदत्त ने उन भारंड पक्षियों को उड़ाया । उन पक्षियों के पंखों से उत्पन्न पवन के कारण समुद्र का जल, तूफान शांत हो गया । वह वाहन उस भँवर में से बाहर आ गया ।

नागदत्त उसी पर्वत पर रह गया । भूख से पीड़ित वह अपना समय व्यतीत करने लगा । वहाँ से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं मिलने से उसने

सोचा, ``यदि मैं आर्तध्यान से पीड़ित होकर ऐसे ही मर गया तो मेरी दुर्गति हो जाएगी, अतः क्यों न नवकार मंत्र का स्मरण कर समुद्र में गिर कर अपने जीवन का अंत ला दूँ !'' इस प्रकार विचार कर वह समुद्र में कूद पड़ा। समुद्र में गिरने के साथ ही वह किसी बड़े मत्स्य के मुँह में चला गया। वह मत्स्य समुद्र के तट पर आया। वहाँ पर उस मत्स्य ने अपना मुँह खोला तत्क्षण नागदत्त उस मत्स्य के मुँह में से बाहर निकल आया।

बाहर निकलने के बाद जलाशय में जाकर उसने अपने देह को शुद्ध किया। फल आदि का भक्षण कर वह स्वस्थ बना।

क्रमशः आगे बढ़ता हुआ नागदत्त अपने नगर में आ गया। अपने नगर में पहुँचने के बाद उस नागदत्त ने यान के मालिक धनदत्त श्रेष्ठी के पास जाकर उससे 100 दीनारें माँगी, तब लोभ के कारण धनदत्त ने वे दीनारें नहीं दीं।

धनदत्त ने कहा, ``तुम कौन हो ? मैं तुम्हें नहीं पहिचानता हूँ !''

नागदत्त ने कहा, ``यदि तुम मुझे 100 दीनारें नहीं दोगे तो मैं राजा के पास जाकर शिकायत करूंगा।''

उसी नगर में प्रियमित्र नाम के सार्थवाह की नागवसु नाम की पुत्री थी। नगर के कोतवाल वसुदेव ने नागवसु की माँग की, परंतु सार्थवाह ने अपनी पुत्री वसुदेव को नहीं दी, उसने अपनी पुत्री का पाणिग्रहण नागदत्त के साथ करा दिया।

नागवसु की प्राप्ति नहीं होने से वसुदेव नाराज हो गया, वह किसी भी उपाय से नागदत्त के छिद्र देखने लगा। नागदत्त को फँसाने के लिए वह उपाय शोधने लगा।

एक बार नगरभ्रमण के लिए निकले हुए राजा के कुंडल भूमि पर गिर गए। नागदत्त ने अचौर्य व्रत स्वीकार किया था। वह उसी मार्ग से निकला। उसने मार्ग में राजा के कुंडल देखे, परंतु चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा होने से नागदत्त ने उन कुंडलों की ओर नजर भी नहीं की। नागदत्त पास ही के मार्ग से आगे बढ़कर जंगल में चला गया, वहाँ जाकर `प्रतिमा' ध्यान स्वीकार कर वह कायोत्सर्ग में खड़ा हो गया।

नागदत्त को आपत्ति में डालने के लिए आरक्षक वसुदेव ने वे कुंडल

उठा लिये और प्रतिमा ध्यान में रहे नागदत्त के पास जाकर उसके वस्त्र के साथ वे कुंडल बाँध दिये ।

राजा ने अपने कुंडल देखे । कुंडल नहीं मिलने से राजा चिंतातुर हुआ, उसी समय वसुदेव ने आकर राजा को कहा, ``राजन् ! राजमार्ग में अपने पीछे ही नागदत्त गया था और बीच मार्ग में भूमि पर से कुछ उठाते हुए मैंने उसे देखा भी था ।''

राजा की आज्ञा से राजा के सेवक कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े नागदत्त के पास गए । वहाँ जाकर उन्होंने नागदत्त के वस्त्रों की जाँच की । वस्त्र में बँधे हुए राजा के कुंडलों को देखकर राजसेवक गुस्से में आ गए ।

उन्होंने जाकर राजा से कहा । आवेश में आकर राजा ने आदेश देते हुए कहा, **``इस प्रकार धर्म का दंभ करनेवाले को तो शूली पर ही चढ़ाना चाहिए ।''**

राजा की आज्ञा होते ही राजसेवकों ने नागदत्त को पकड़ लिया । उसके मस्तक का मुंडन किया गया । उसके बाद उसका काला मुँह करके उसे गधे पर बिठाकर नगर में घुमाकर शूली के पास ले गए ।

नागदत्त को ज्योंही फाँसी के फंदे पर चढ़ाया गया, त्योंही वह शूली सिंहासन में बदल गई । नागदत्त के शरीर पर किए गए प्रहार आभूषण में बदल गए ।

उसी समय आकाश में रही शासनदेवी ने कहा, ***``यह नागदत्त तो भाग्यशाली श्रेष्ठ पुरुष है । प्राणों का नाश होने पर भी अदत्तादान नहीं ग्रहण करने की प्रतिज्ञावाला है । वसुदेव ने छल कपट करके इसे फँसाने की चेष्टा की है । वह तो पर द्रव्य का त्याग करनेवाला है ।''*** इतना कहकर शासनदेवी अदृश्य हो गई ।

उसके बाद राजा ने नागदत्त को पट्टहस्ती पर बिठाकर उसका नगर में भव्य प्रवेश-महोत्सव कराया और बहुतसा धन देकर उसका सम्मान किया ।

राजा ने धनदत्त के पास से नागदत्त को 100 दीनारें दिलवाईं । वसुदेव को देशनिकाले की सजा की गई ।

अंत में, जैनधर्म की निर्मल आराधना करके भागवती दीक्षा ग्रहण करके सभी कर्मों का क्षय करके नागदत्त ने केवलज्ञान प्राप्त किया । उसके बाद पृथ्वीतल पर विचरण कर अनेक भव्यजीवों को प्रतिबोध देकर शाश्वत अजरामर मोक्ष प्राप्त किया ।

22. नागदत्त (2)

क्रोध मानादिदर्प्पाणां, यो न याति वशं मनाक् ।
स एव लभते मुक्तिं, नागदत्त कुमारवत् ।।

दो राजकुमारों ने भागवती-दीक्षा अंगीकार की । संयमधर्म का पालन कर वे दोनों मुनि स्वर्ग में गए ।

उन दोनों देवों ने समझौता किया कि जो भी देवलोक से पहले च्यवकर मनुष्य बनेगा, उसे दूसरा देव प्रतिबोध करेगा ।

लक्ष्मीपुर नगर में धनदत्त नाम का श्रेष्ठी रहता था । उसकी पत्नी का नाम देवदत्ता था । एक बार श्रेष्ठी ने पुत्रप्राप्ति के लिए नागदेवता की आराधना की । देव ने प्रसन्न होकर कहा, ``तुझे पुत्र प्राप्त होगा ।''

इधर उन साथी देवताओं में से एक देव का आयुष्य पूरा हुआ और वह देव देवदत्ता की कुक्षि में अवतरित हुआ । गर्भकाल पूरा होने पर देवदत्ता ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । पिता ने पुत्र-जन्म का महोत्सव किया । उसके बाद उस पुत्र का **'नागदत्त'** नाम रखा गया ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा । नागदत्त भी बड़ा होने लगा । उसने पुरुषों की 72 कलाएँ अर्जित कीं । वह साँप के साथ क्रीड़ा करने लगा । धीरे-धीरे उसको साँप के साथ क्रीड़ा करने का व्यसन लग गया ।

इधर मित्रदेव ने अवधिज्ञान से नागदत्त की वर्तमान स्थिति प्रत्यक्ष देखी । वह नागदत्त को प्रतिबोध देने लगा, परंतु सर्पक्रीड़ा के व्यसन के कारण उसे लेश भी प्रतिबोध नहीं हुआ । आखिर वह साँपों के करंडों को लेकर उस उद्यान में उपस्थित हो गया । उस देव ने गारुड़िक का रूप किया ।

नागदत्त ने पूछा, ``करंडे में क्या है ?''

गारुड़िक देव ने कहा, ``साँप हैं ।''

नागदत्त ने कहा, ``मेरे साँपों के साथ तुम क्रीड़ा करो और तुम्हारे साँपों के साथ मैं क्रीड़ा करता हूँ ।''

गारुड़िक देव नागदत्त के साँपों के साथ क्रीड़ा करने लगा । उन सर्पों

ने गारुड़िक देव को डस लिया, परंतु उस डंक का कुछ भी जहर उस गारुड़िक को नहीं चढ़ा ।

उसके बाद ईर्ष्या में आकर नागदत्त ने कहा, ``मैं तुम्हारे साँपों के साथ क्रीड़ा करता हूँ ।''

उस देव ने कहा- ``मेरे साँपों के साथ तुम क्रीड़ा करोगे तो मर जाओगे ।''

नागदत्त ने कहा, ``तुम अपने साँपों को छोड़ो, मैं उनसे खेलना चाहता हूँ ।''

गारुड़िक देव ने कहा, ``यदि इन सर्पों ने तुझे डस लिया तो मुझे दोष मत देना ।

मेरा यह सर्प मध्याह्न के सूर्य की भाँति लाल आँखवाला है । बिजली की चमक की भाँति इसकी जीभ अत्यंत ही चंचल है । इसकी दाढ़ों में भयंकर जहर रहा हुआ है । इस प्रकार का यह क्रूर सर्प है ।

इस सर्प ने जिसको दंश दिया, वह तत्काल बेहोश हो जाता है । अतः अदृश्य मृत्यु की भाँति उस सर्प को क्यों चाहते हो ?

मेरु पर्वत के ऊँचे शिखर की भाँति यह दूसरा आठ फणवाला सर्प है, जिसके मुँह में दो जीभ हैं । जिस मनुष्य को इस साँप ने डस लिया, वह अभिमानी बना हुआ इन्द्र की भी अवगणना कर देता है, अतः मेरुपर्वत समान उस साँप को तुम क्यों चाहते हो ?

इस तीसरे करंडे में एक नागिन है, जो विचित्र गतिवाली है, स्वस्तिक के लांछनवाली है और अत्यंत ही मायावी है ।

इधर लोभ नाम का चौथा सर्प है । उस सर्प का दंश लगने पर मनुष्य महासागर की तरह कभी तृप्त नहीं होता है । तो फिर तुम इन सर्पों से क्यों खेलना चाहते हो ?

ये चारों क्रोध, मान, माया और लोभ नाम के चार दुष्ट सर्प हैं, इनके जहर से मरे हुए व्यक्ति का नरक पतन ही होता है । उसके पास बचने के लिए अन्य कोई आलंबन नहीं है ।''

इस प्रकार सावधान करके उस गारुड़िक देव ने नागदत्त की ओर वे चारों सर्प छोड़े । उन साँपों के दंश से गंधर्व नागदत्त तत्क्षण मूर्च्छित हो गया ।

नागदत्त के साथियों ने कहा, ``यह क्या कर दिया ?''

गारुड़िक ने कहा, ``मैंने तो इसे पहले रोका ही था, परंतु इसने मेरा कहना माना नहीं, अतः इसमें मेरा क्या दोष है ?''

नागदत्त के साथियों ने खूब उपचार किये, परंतु वह ठीक नहीं हुआ।

आखिर नागदत्त के साथी उस गारुड़िक के पाँवों में गिर पड़े और बोले, ``आप इस पर कृपा करें और किसी भी उपाय से इसे जीवनदान दें। गारुड़िक ने कहा, ``यदि यह मेरी कही हुई क्रिया करेगा तो पुनः जी सकेगा, अन्यथा उसका जीना शक्य नहीं है। भविष्य में भी मेरी कही क्रिया का भंग करेगा तो पुनः मर जाएगा।

इन चार सर्पों ने पहले मुझे भी डसा था, उनके विषनिवारण के लिए मैंने भी योग्य उपचार किया था।

जो मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के पाप का सर्वथा त्याग करता है, वह पुनः नवीन जीवन प्राप्त करता है, परंतु जो इन पापों का पुनःसेवन करता है, वह पुनः मर जाता है।''

गारुड़िक के इन उपायों को सुनकर वह नागदत्त खड़ा हो गया।

उसी समय उसके माता-पिता बोले, ``अहो ! यह तो स्वयं खड़ा हुआ है।'' परंतु उसी समय नागदत्त पुनः गिर पड़ा और बेहोश हो गया।

नागदत्त के माता-पिता ने कहा, ``किसी भी उपाय से तुम इसे जीवित करो।''

गारुड़िक ने नागदत्त को पुनः जीवित किया और उसे अपना पूर्व भव सुनाया। उसी समय नागदत्त को भी जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे अपना पूर्व भव प्रत्यक्ष दिखाई दिया। माता-पिता की अनुमति प्राप्तकर नागदत्त ने भागवती दीक्षा अंगीकार की।

नागदत्त ने सभी को समझाया, ***''क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार साँप तुल्य हैं। जो इन साँपों से बचता है, वह परम पद मोक्ष प्राप्त करता है। पूर्व भव के इस मित्र देव ने मुझे जागृत कर इन सर्पों से मुझे बचाया है। अतः इन क्रोध आदि सर्पों के आधीन नहीं बनना चाहिए।''***

उसके बाद वह देव, देवलोक में चला गया।

नागदत्त मुनि भी क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर सभी कर्मों का क्षयकर मोक्ष चले गए।

23. क्षमासागर मेतार्य मुनि

वाग्मी स्वाङ्गः समं प्राणिरक्षां कुर्वन् भवेत् भुवि ।
मेतार्यर्षिदिवाप्नोति, कल्याणकमलां द्रुतम् ।।

साकेतपुर नगर में **सागरचंद्र** राजा राज्य करता था । एक बार अपनी सौतेली माँ के दुर्व्यवहार को जानकर सागरचंद्र के दिल में इस संसार के प्रति तीव्र वैराग्य की भावना पैदा हुई । इसके परिणामस्वरूप सागरचंद्र ने **गुणचन्द्र** को राज्य सौंपकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

सागरचंद्र मुनि दीक्षा अंगीकार करने के बाद रत्नत्रयी की आराधना-साधना में एकदम तल्लीन बन गए । वे ग्यारह अंग के ज्ञाता बने ।

एक बार उज्जयिनी नगरी से विहार कर आ रहे महात्माओं की सुखसाता पूछने पर उन्हें पता लगा कि उज्जयिनी नगर में उनके सांसारिक लघुबंधु **मुनिचन्द्र** राजा का पुत्र **सौवस्तिक** और पुरोहित का पुत्र **सुतयुग** साधुओं को खूब हैरान परेशान करते हैं । इस बात को जानकर उन्हें अत्यंत ही खेद हुआ ।

वे सोचने लगे, `धर्मभूमि उज्जयिनी नगरी में यदि इस प्रकार साधु हैरान-परेशान होंगे तो धीरे-धीरे वहाँ साधुओं का विहार ही बंद हो जाएगा और साधुओं का आवागमन बंद होने पर लोगों में धर्म की भावना कम हो जाएगी...परिणामस्वरूप लोग सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाएंगे और उन्मार्गगामी बन जाएंगे ।' इस प्रकार भावदया से विचार कर अपने गुरुदेव की अनुमति प्राप्त कर सागरचंद्र मुनि ने उज्जयिनी नगरी की ओर अपनी विहार-यात्रा प्रारंभ की ।

क्रमशः आगे बढ़ते हुए सागरचंद्र मुनि उज्जयिनी पहुँचे । उन्होंने

वहाँ उपाश्रय में प्रवेश किया । वहाँ रहे मुनियों ने उनका हार्दिक स्वागत किया । तत्पश्चात् भिक्षा का समय होने पर जब अन्य मुनि आगंतुक मुनि की भिक्षा लाने के लिए आग्रह करने लगे, तब उन्होंने कहा, ``मैं मुनिचंद्र राजा को प्रतिबोध देने के लिए ही आया हूँ, अतः भिक्षा के लिए मैं स्वयं जाऊंगा ।''

भिक्षा का समय होने पर वे स्वयं भिक्षा के लिए निकल पड़े ।

सागरचंद्र मुनि सीधे ही राजमहल के उस भाग में जा पहुँचे, जहाँ राजपुत्र व पुरोहितपुत्र आनंद-कल्लोल करते थे । भवन में प्रवेश करने के साथ ही उन्होंने जोर से `धर्मलाभ' कहा । मुनि की जोर से धर्मलाभ की ध्वनि को सुनकर तुरंत ही दासियों ने मुनि को समझाते हुए कहा कि आप जोर से न बोलें, क्योंकि राजपुत्र को पता चल गया तो वह आपको हैरान किये बिना नहीं रहेगा ।

परन्तु सागरचंद्र मुनि ने दासियों की उस सलाह की ओर ध्यान नहीं दिया और वे पुनः जोर से `धर्मलाभ' बोले । बस, `धर्मलाभ' की ध्वनि सुनते ही राजपुत्र और पुरोहितपुत्र दौड़ते हुए नीचे आ गए । पुरोहितपुत्र ने तत्काल भवन के मुख्यद्वार का दरवाजा बंद कर दिया ।

उसके बाद राजपुत्र ने कहा, ``महाराज ! आपको नाचना आता है न ! आपको हमारे साथ नाचना पड़ेगा ।''

मुनि ने कहा, ``मैं नाचूँ परन्तु तबले कौन बजाएगा ?''
पुरोहितपुत्र ने कहा, ``मैं बजाऊंगा ।''
मुनि ने कहा, ``बीच में ताल नहीं टूटनी चाहिए ।''
राजपुत्र ने कहा, ``ठीक है ।''

बस, मुनि ने नाचना चालू किया और पुरोहितपुत्र तबले बजाने लगा । अत्यंत तेजी से नाचने के कारण वह ताल चूक गया ।

ताल टूटने से मुनि गुस्से में आ गए । उस समय राजपुत्र भी ज्यों-त्यों बकवास करने लगा । तत्काल मुनि ने अपने प्रहार से राजपुत्र को भूमि पर गिरा दिया और उसके हाथ-पैर के सांधे उतार दिये । उसके बाद पुरोहितपुत्र को भी नीचे गिराकर उसके भी हाथ-पैर की हड्डियाँ उतार दीं ।

राजपुत्र व पुरोहितपुत्र की इस प्रकार बुरी हालत कर सागरचंद्र मुनि उद्यान में आकर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हो गए ।

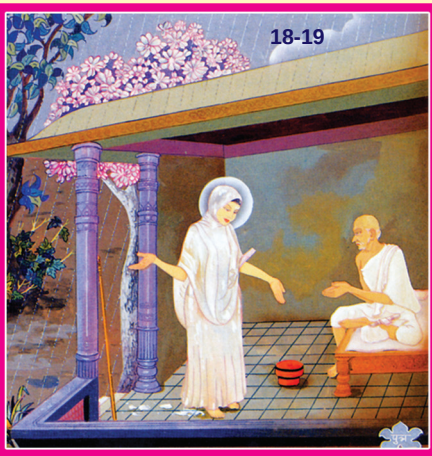

(18-19) अर्णिकापुत्र आचार्य
पुष्पचुला साध्वी -पृष्ठ नं. 114

(20) अतिमुक्तक बालमुनि
पृष्ठ नं. 122

श्री अइमुत्तामुनि की सज्झाय

संयम रंगे रंग्युं जीवन, नाना राजकुमार वंदो अइमुत्ता अणगार... १

गौतमस्वामी गोचरी आवे, नाना बाळकने मन भावे,
प्रेम थकी निज घर बोलावे, भावधरी मोदक वहोरावे,
मारे पण गौतम रस थावुं, अेम करे विचार... वंदो० २

मननी इच्छा पूरण कीधी, मातपितानी आज्ञा लीधी
राज्यतणी ऋद्धिने छोडी, गौतम पासे दीक्षा लीधी,
रहे उमंगे गुरुने संगे, वहेता संयम भार वंदो० ३

तलावडी अेक जलनी आवी, बाल मुनिने मन बहु भावी,
पात्रतणी नौका खेलावी गुरुने देखी लज्जा आवी,
अणघटतुं में कारज कीधुं, पाम्या क्षोभ अपार... वंदो० ४

समवसरणमां प्रभुजी सामे, इरियावही पडिक्कमी प्रमाणे,
चार कर्मनी गति विरामे, केवलज्ञान तिहां मुनि पामे,
देव देवी सहु उत्सव करता, वर्त्यो जय जयकार वंदो० ५

क्षणमां सघळां कर्मो खपाव्या अेवा अइमुत्ता मुनिराया,
भव्य जीवोने बोध पमाडी, अंते मुक्तिपुरी सिधाव्या,
ज्ञानविमल अे मुनिने वंदे, थाये बेडो पार वंदो० ६

(21-22) नागदत्त-1-पृष्ठ नं. 125
नागदत्त-2-पृष्ठ नं. 128

(23) मेतार्यमुनि-
पृष्ठ नं. 131

(24-25-26) सिंहगिरि
एवं वज्रस्वामी
पृष्ठ नं. 141

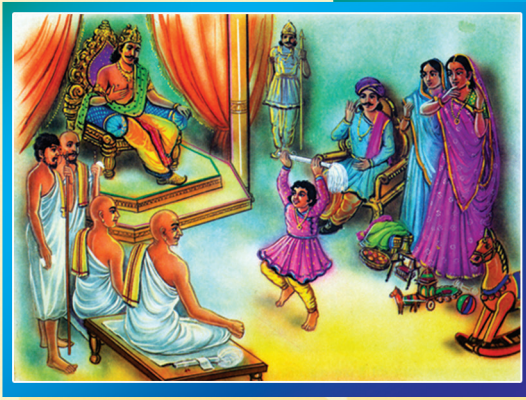

श्री मेतारज मुनि की सज्झाय

शमदम गुणना आगरूजी, पंच महाव्रत धार,
मासक्षमणने पारणेजी, राजगृही नगरी मोझार,
मेतारज मुनिवर धन धन तुम अवतार ॥१॥

सोनीने घेर आवीयाजी, मेतारज ऋषिराय,
जवला घडतो उठियोजी, वंदे मुनिना पाय. मेतराज० ॥२॥

आज फळ्यो घर आंगणेजी, विण काले सहकार,
ल्यो भिक्षा छे सुझतीजी, मोदकतणो ए आहार. मेतराज० ॥३॥

क्रौंच जीव जवला चण्योजी, वहोरी वल्या ऋषिराज,
सोनी मन शंका थइ जी, साधु तणा ए काज मेतराज० ॥४॥

रीस करी ऋषिने कहेजी, द्यो जवला मुज आज,
वाघर शीषे वींटीयुजी, तडके राख्या मुनिराज मेतराज० ॥५॥

फट् फट् फुटे हाडकांजी, त्रट त्रट तुटे छे चाम,
सोनीडे परिषह दीयोजी, मुनि राख्यो मन ठाम, मेतराज० ॥६॥

एवा पण मोटा यतिजी, मन नवि आणे रोष,
आतम निंदे आपणोजी, सोनीनो शो दोष मेतराज० ॥७॥

गजसुकुमाल संतापीयाजी, बांधी माटीनी पाळ,
खेर अंगारा शिरे धर्याजी, मुगते गया तत्काल मेतराज० ॥८॥

वाघणे शरीर वलुरीयुं जी, साधु सुकोशल सार,
केवल लही मुगते गया जी, इम अरणिक अणगार मेतराज० ॥९॥

पापी पालक पीलीयाजी, खंधकसूरिना रे शिष्य,
अंबड चेला सातशेजी, नमो नमो ते निशदिन मेतराज० ॥१०॥

एवा ऋषि संभारताजी, मेतारज ऋषिराय,
अंतगड हुआ केवलीजी, वंदे मुनिना पाय मेतराज० ॥११॥

भारी काष्टनी स्त्री ए तिहांजी, लावी नाखी तेणीवार,
धबके पंखी जागीयोजी, जवला काढ्या तेणे सार मेतराज० ॥१२॥

देखी जवला विष्टमाजी, मन लाज्यो सोनार,
ओघो मुहपत्ति साधुनाजी, लेइ थयो अणगार मेतराज० ॥१३॥

आतम तार्यो आपणोजी, स्थिर करी मन वच काय,
राजविजय रंगे भणेजी, साधु तणी ए सज्झाय मेतराज० ॥१४॥

तीव्र पीड़ा के कारण राजपुत्र और पुरोहितपुत्र दोनों चिल्लाने लगे । उनकी हालत बहुत खराब हो गई । राजा को पता चला तो राजा भी वहाँ आ गया । उसने अपने बेटे की दयनीय स्थिति देखी ।

राजा ने दास-दासियों को पूछा, ``इनकी यह हालत किसने की है ?''

दासी ने कहा, ``किसी साधु महाराज ने ।''

तत्काल राजा ने सेवकों को आज्ञा दी कि उस साधु को यहाँ उपस्थित किया जाय !

राजसेवकों ने चारों ओर शोध की । बाद में पता चला कि राजपुत्र व पुरोहित-पुत्र की हड्डियाँ उतारनेवाले मुनि तो उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े है ।

अन्य वैद्यों ने स्पष्ट कह दिया, ``जिन्होंने ये हड्डियाँ उतारी हैं वे ही उसे ठीक कर सकेंगे ।''

मुनिचन्द्र राजा उद्यान में पहुँच गया और उसने जाकर मुनिवर को निवेदन करते हुए कहा, ``आप तो दूसरे जीवों को अभय देने वाले हो...आपने राजपुत्र व पुरोहित-पुत्र को इतने भयंकर कष्ट में क्यों डाला ?''

मुनिवर ने कहा, ``मुनिचन्द्र ! तुम्हें ऐसी बातें करते हुए लज्जा नहीं आती है ? तुम उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हो, तुम्हारे पुत्र साधुओं को इस प्रकार हैरान-परेशान करते हैं और तुम उन्हें कुछ भी शिक्षा नहीं कर रहे हो...तुम जानते हो, इसका क्या परिणाम आएगा ? धीरे-धीरे यहाँ साधुओं का विहार बंद हो जाएगा, जिसके फलस्वरूप लोग सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाएंगे और उन्मार्गगामी बन जाएंगे ।''

मुनिवर की यह बात सुनकर लज्जा से मुनिचंद्र राजा का सिर झुक गया ।

उसने कहा, ``मुनिवर ! मेरी भूल हो गई । आप मुझे क्षमा करें और कृपा कर उन दोनों को ठीक करें ।''

मुनिवर ने कहा, ``स्वस्थ होने के बाद यदि वे दोनों संयम स्वीकार करने का संकल्प करते हों तो मैं उन्हें ठीक कर दूंगा, अन्यथा वे अपने पाप की सजा सहन करते रहें ।''

राजा ने जाकर उन दोनों पुत्रों को कहा, ``यदि तुम भागवती दीक्षा लेने के लिए तैयार हो तो ये मुनि तुम्हें ठीक करेंगे, अन्यथा नहीं ।''

भयंकर वेदना से कराहते हुए उन दोनों ने मुनिवर की शर्त स्वीकार कर ली ।

तत्पश्चात् सागरचंद्र मुनि ने उन दोनों को ठीक कर दिया ।

उसके बाद राजपुत्र व पुरोहितपुत्र ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । सागरचंद्र मुनि के पास धर्मोपदेश सुनकर मुनिचंद्र राजा भी धर्मकार्य में विशेष उद्यमवाला बना । वह भी उत्तम सात क्षेत्रों में धन का सद्व्यय करने लगा ।

इधर वे दोनों नूतन मुनि गुरुदेव के चरणों में समर्पित बनकर भावपूर्वक चारित्र का पालन करने लगे । ब्राह्मण पुरोहितपुत्र में बाह्य शौच (शुद्धि) के संस्कार होने से मुनिजीवन में मलिन देह तथा मलिन वस्त्र पर उसे दुगुंछा होने लगी । अंत में वे दोनों कालधर्म प्राप्त कर देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए ।

देवभव में उन दोनों के बीच परस्पर गाढ़-प्रीति थी । उन दोनों ने परस्पर संकल्प किया कि जो भी सर्वप्रथम मनुष्यपने में उत्पन्न होगा, उसे दूसरा प्रतिबोध देगा ।

मुनिजीवन पर दुगुंछा के पाप के कारण पुरोहित का जीव देवलोक से च्यवकर राजगृही नगरी में एक चांडालिनी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । वह चांडालिनी स्त्री किसी सेठ के घर पर काम करती थी । एक बार सेठ की पत्नी गर्भवती बनी और उसे मांसभक्षण का दोहद उत्पन्न हुआ । चांडालिनी स्त्री ने सेठानी की मदद कर उसका दोहद पूरा कराया । वह सेठानी हमेशा मृत पुत्रों को ही जन्म देती थी...इस बात से वह सेठानी अत्यंत दुःखी रहती थी । इस बार चांडालिनी स्त्री ने सेठानी को आश्वासन दिया कि वह जिस पुत्र को जन्म देगी, वह उसे सौंप देगी ।

कुछ समय बाद सेठानी ने मृत पुत्र को जन्म दिया और चांडालिनी स्त्री ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । पूर्व शर्त के अनुसार चांडालिनी ने अपना पुत्र सेठानी को सौंप दिया और सेठानी ने चांडालिनी को अपना मृत पुत्र सौंपकर उसकी अंतिम क्रिया करा दी ।

सेठानी ने बालक का नाम **मेतार्य** रखा । सेठ के घर पर मेतार्य धीरे-धीरे बड़ा होने लगा । वह अनेक कलाओं में पारंगत बना । मेतार्य जब 16 वर्ष का हुआ तब पूर्वशर्त के अनुसार देव ने उसे प्रतिबोध देने की कोशिश की । परन्तु मेतार्य ने उसकी एक नहीं सुनी । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर आठ श्रेष्ठी-कन्याओं के साथ उसका संबंध निश्चित हुआ ।

उन आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करने के लिए मेतार्य ने शिविका में बैठकर अपने घर से प्रयाण किया, उसी समय मेतार्य को प्रतिबोध देने के लिए उस देव ने उस चांडाल के शरीर में प्रवेश किया । वह चांडाल अपनी स्त्री को कहने लगा ``यदि अपना पुत्र मरा नहीं होता तो मैं भी अपने पुत्र का इस प्रकार महोत्सव पूर्वक लग्न कराता !''

पति की यह बात सुनकर सत्य का घटस्फोट करते हुए वह चांडालिनी स्त्री कहने लगी, **``यह तो अपना ही पुत्र है, जन्म के बाद मैंने यह पुत्र सेठानी को सौंप दिया था ।''**

यह सुनकर गुस्से में आकर वह चांडाल मेतार्य को शिविका में से उतारते हुए बोला, ``बेटा ! मेरे कुल में उत्पन्न होकर तू इन श्रेष्ठ-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करने क्यों निकल पड़ा है ? चल, अपने कुल में उत्पन्न हुई कन्याओं के साथ तेरा पाणिग्रहण कराऊंगा ।''

कन्याओं के माता-पिताओं को जब इस बात का पता चला कि यह मेतार्य तो चांडाल कुल में उत्पन्न हुआ है तो उनके आश्चर्य का पार न रहा । वे अपनी कन्याएँ नीच कुल में उत्पन्न हुए मेतार्य को देने से इन्कार करने लगे । मेतार्य के चांडाल माता-पिता उसे पकड़कर अपने घर ले गए ।

चांडाल के घर पहुँचने के बाद वह देव मेतार्य के समक्ष उपस्थित हुआ और उसे समझाते हुए बोला, ``हे मेतार्य ! तू संसार के भौतिक सुखों में पागल क्यों बन रहा है ? ये सुख तो अपनी आत्मा का भयंकर अधःपतन कराने वाले हैं । इन सुखों में आसक्त बनकर तू अपनी आत्मा को दुर्गति में क्यों धकेल रहा है ? दो भव पूर्व तुमने और मैंने चारित्रधर्म का पालन किया था । गत भव में तू मेरा मित्र देव था । तेरे कहने से ही मैं तुझे प्रतिबोध देने के लिए आया हूँ । अभी भी तू सावधान बन कर आत्म-हित में तत्पर बन जा, इसी में तेरा कल्याण है ।''

मित्र देव की यह बात सुनकर मेतार्य ने कहा, ``मित्र देव ! तुम मुझे प्रतिबोध देने के लिए आए और तुमने मुझे विषय-सेवन से रोका, यह बहुत ही अच्छा किया । परन्तु इसके लिए मेरी जो लोक में निंदा हुई है, वह मेरे हृदय में काँटे की तरह चुभती है, अतः तू किसी भी उपाय द्वारा मेरे ऊपर लगे कलंक को दूर कर दे और एक बार कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करा दे । लग्न जीवन के 12 वर्ष तक मुझे सांसारिक सुख भोगने दे, उसके बाद तुम जैसा कहोगे, वैसा मैं करने के लिए तैयार हो जाऊंगा ।''

देव ने सोचा, ``अभी यह प्रतिबोध पाए, ऐसी इसकी स्थिति नहीं है । भारीकर्मी होने के कारण यह जल्दी बोध पानेवाला नहीं है, अतः 12 वर्ष के बाद ही इसको प्रतिबोध देना होगा ।'' इस प्रकार विचार कर उस देव ने मेतार्य को एक ऐसा बकरा भेंट दिया जो रत्नों की लींडियाँ करता था ।

मेतार्य का पिता प्रतिदिन रत्नों से भरा थाल ले जाकर राजा को भेंट देने लगा और राजा के पास अपने पुत्र के लिए कन्या की मांग करने लगा !

श्रेणिकराजा उन रत्नों की भेंट स्वीकार करने लगा, परन्तु जब वह अपने पुत्र के लिए कन्या की याचना करता तो पास में बैठे मंत्री उसे राजसभा में से बाहर निकाल देते ।

एक बार अभयकुमार ने उस चांडाल को पूछा, ``तू ये रत्न कहाँ से लाता है ?''

उसने कहा, ``ये रत्न तो मुझे मेरे बकरे से मिलते हैं ।''

अभयकुमार ने यह बात पिता को कही । श्रेणिक राजा ने वह बकरा अपने महल में मँगाया तो वह बकरा वहाँ पर अत्यंत ही दुर्गंधीत विष्टा करने लगा ।

राजा ने वह बकरा उसे लौटा दिया ।

अभयकुमार ने कहा, ``यह बकरा इसी के घर पर रत्न प्रदान करता है, अतः यह अवश्य ही देवता अधिष्ठित होना चाहिए । यह व्यक्ति जाति से चांडाल लगता है, परन्तु कोई उत्तम पुरुष होना चाहिए, अन्यथा इसे देवता का सान्निध्य कैसे मिलता ?

चांडाल के देव-सान्निध्य की परीक्षा करने के लिए अभयकुमार ने उसे

कहा, ``महावीर प्रभु वैभारगिरि पर हैं, अतः वहाँ से यहाँ तक आने का जो विषममार्ग है, उसे तुम सुगम बना दो ।''

देव का सान्निध्य होने से उसने तुरंत ही वह मार्ग एकदम सरल व सुगम बना दिया ।

उसके बाद दूसरी परीक्षा के लिए अभयकुमार ने उससे कहा, ``यदि तू किले के समान ऊँचे समुद्र के प्रवाह में अपने पुत्र को स्नान करा देगा तो राजा अपनी पुत्री तुम्हारे पुत्र को अवश्य प्रदान करेगा ।''

अभयकुमार की यह शर्त सुनकर उस चांडाल ने देव की सहायता से वैसा ही करके बतला दिया ।

तत्पश्चात् अभयकुमार ने श्रेणिक महाराजा को समझाया । आखिर श्रेणिक अपनी पुत्री मेतार्य को देने के लिए तैयार हो गया ।

राजकन्या के साथ मेतार्य के पाणिग्रहण की बात सुनकर भय के कारण आठ कन्याओं के माता-पिता भी अपनी-अपनी कन्या मेतार्य को देने के लिए तैयार हो गए और एक शुभ दिन राजपुत्री और उन आठ श्रेष्ठी-कन्याओं के साथ मेतार्य का पाणिग्रहण हो गया ।

राजा ने रहने के लिए मेतार्य को एक महल प्रदान किया । वह मेतार्य उन कन्याओं के साथ आनंद-कल्लोल करने लगा । इस प्रकार बारह वर्ष बीत गए ।

मेतार्य ने 12 वर्ष तक भोग-सुखों का अनुभव किया । फिर वह देव उसे प्रतिबोध देने के लिए पुनः आया ।

उस देव ने मेतार्य को संसार की भयंकरता, भौतिक सुखों के कटु परिणाम और मोक्ष की उपादेयता समझाई । आखिर देव की बात मेतार्य के गले उतर गई और एक शुभ दिन संसार के समस्त सुखों को तिलांजलि देकर उसने भागवती-दीक्षा अंगीकार कर ली ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे रत्नत्रयी की आराधना-साधना में ओतप्रोत बन गए । श्रुतज्ञान की सुंदर आराधना के फलस्वरूप वे श्रुतपारगामी बने ।

एक दिन उन्होंने जिनकल्प को स्वीकार किया । वे उत्कृष्ट संयम धर्म की आराधना करते हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा करने लगे ।

एक बार वे मेतार्य मुनि गोचरी के लिए घूमते हुए एक सोनी के घर पधारे । उस समय वह सोनी सोने के जौ बना रहा था । श्रेणिक महाराजा का यह नियम था कि उन्हें जिस दिशा में प्रभु के विचरण का पता लगे उस दिशा में वे सोने के जौ से स्वस्तिक बना कर प्रभु की अद्‌भुत भक्ति करते थे ।

वह सोनी श्रेणिक राजा के लिए जो बना रहा था । मुनि के आगमन के साथ ही वह खड़ा हो गया और प्रसन्न होकर रसोड़े में गया । उसने अत्यंत ही सद्‌भाव पूर्वक मुनि को लड्डू बहोराए । इसी बीच एक क्रौंच पक्षी वहाँ आ गया और सोने के जौ को धान्य समझकर चुग गया । यह दृश्य मेतार्य मुनि ने देख लिया ।

तत्पश्चात् जैसे ही उस सोनी ने अपने सोने के जौ नहीं देखे, उसके आश्चर्य का पार न रहा । उसके दिल में यह शंका पैदा हो गई कि इस साधु ने ही मेरे जौ चुरा लिये हैं ।

महात्मा गोचरी बहोर कर उद्यान में चले गए । वह सोनी भी वहाँ पहुँच गया । उसने जाकर महात्मा को पूछा, ``मेरे जौ किसने लिये हैं ?''

महात्मा ने सोचा, ``यदि मैं क्रौंच पक्षी का नाम लूंगा तो यह धन का लोभी उस क्रौंच पक्षी को मार देगा । दूसरी ओर झूठ बोलने से मेरे व्रत का भंग होगा, अतः जो होना हो सो हो'' इस प्रकार का विचार कर उन्होंने मौन रहना ही मुनासिब समझा ।

अनेक बार पूछने पर भी जब महात्मा ने कुछ भी जवाब नहीं दिया तो उस सोनी को गुस्सा आ गया । महात्मा को कठोर सजा करने के लिए उसने आर्द्र चमड़ा लाकर महात्मा के मस्तक को अत्यंत ही कसकर बांध दिया । महात्मा उस कठोर परिषह को अत्यंत ही समतापूर्वक सहन करने लगे । सूर्य की धूप में जब वह चमड़ा सूखकर संकुचित होने लगा, तब उनको अत्यंत ही तीव्र पीड़ा होने लगी । उनकी आँखों के डोले बाहर आ गए । फिर भी उन महात्मा ने अपनी समता नहीं छोड़ी । वे उस मरणांत उपसर्ग में भी सोनी को दोषित मानने के बजाय अपने अशुभ कर्म के उदय का ही चिंतन

करने लगे । इसके परिणामस्वरूप वे क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो गए...और अल्प समय में ही घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान हो गया । उसी समय आयुष्य पूर्ण होने से वे मोक्ष में चले गए ।

इसी बीच किसी स्त्री ने काष्ठ की एक भारी नीचे गिराई । अचानक भारी के गिरने से उस क्रौंच पक्षी ने विष्टा कर वे सुवर्ण के जौ बाहर निकाल दिए ।

यह देखकर उस सोनी को अत्यंत ही पश्चात्ताप हुआ ।

उसने सोचा, मुनिहत्या के कारण श्रेणिक महाराजा मुझे मार डालेंगे । इस भय से उसने साधु-वेष स्वीकार कर लिया ।

उसके साधुवेष को जानकर राजा ने भी उसे मुक्त कर दिया । बाद में भावपूर्वक चारित्र का पालन कर वह भी मोक्ष में गया ।

मरणांत उपसर्ग में भी अपनी समता को लेश भी खंडित नहीं करने वाले मेतार्य मुनि को कोटि-कोटि वंदना ।

24-25-26.
सिंहगिरि-दश पूर्वधर वज्रस्वामीजी

इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर
वज्रस्वामीजी का नाम
अनेक अनेक विशेषताओं से भरा हुआ है-

(1) छह मास की उम्र में विरक्त बने ।

(2) तीन वर्ष की उम्र में पालने में झूलते-झूलते ग्यारह अंगों के ज्ञाता बने ।

(3) राजसभा में माता के प्रलोभनों से नहीं ललचाए ।

(4) देव-पिंड द्वारा देव-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए ।

(5) विवाह की इच्छुक रुक्मिणी को प्रतिबोध दिया ।

(6) देवताओं ने आकाशगामिनी विद्या और वैक्रिय लब्धि प्रदान की ।

(7) शासन-प्रभावना हेतु 20 लाख फूल लाए ।

(8) बौद्ध राजा को प्रतिबोध दिया ।

(9) वैभारगिरि पर अनशन स्वीकार किया ।

24-25-26. सिंहगिरि तथा युगप्रधान वज्रस्वामी

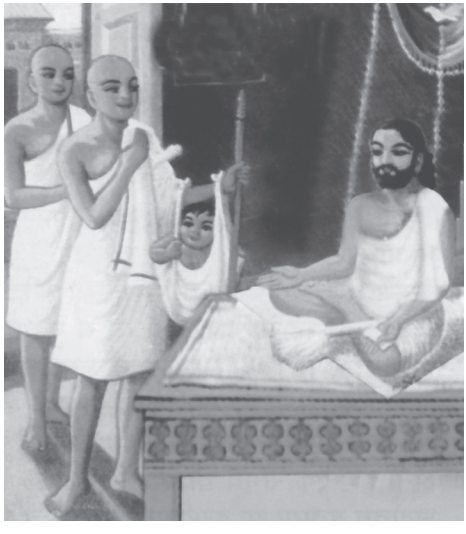

बालेऽपि विधातव्यो, धर्मो जैनः शिवप्रदः ।
भव्यजीवेन श्री वज्रकुमारेणेव सन्ततम् ।।

स्तुति

आजन्म वैरागी अनुपमज्ञानी दशपूरवधरा,
प्रतिबोधकर रुक्मिणि के, गिरिराज के उद्धारका,
श्री वज्रस्वामीजी करे, तब वैरीशाखा स्थापना,
प्रभुवीर पाट परम्परा को, भाव से करूं वंदना ।।

भगवान महावीर की पाट परंपरा में 13 वें पट्टधर के रूप में **पू. आचार्य सिंहगिरिसूरिजी** के पट्टधर **युगप्रधान पू. वज्रस्वामी** हुए । उनका जन्म वीर संवत् 496 में, दीक्षा वीर संवत् 504 में युगप्रधान पद वीर संवत् 548 में तथा स्वर्गवास वि.सं. 584 में हुआ था ।

अवंती देश !

तुंबवन नगर !!

उस नगर में **धन** श्रेष्ठी रहता था । वह अत्यंत ही न्यायप्रिय और पापभीरु था । उस धन श्रेष्ठी को धनगिरि नाम का इकलौता बेटा था । पूर्वभव की आराधना और सुसंस्कारों के फलस्वरूप बाल्यकाल से ही धनगिरि के मन में संसार के प्रति विरक्ति का भाव था ।

यौवन में काम-उन्माद की अधिक संभावना रहती है । बिहावने जंगलों को निर्भयता से पार करने में समर्थ नवयुवक भी यौवन के वन में जहाँ-तहाँ भटक जाता हैं । परन्तु विरल आत्माएँ ऐसी होती हैं जो यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर भी यौवन का उन्माद उनके अन्तर्मन को छू नहीं पाता है ।

काजल से भरी कोठरी में प्रवेश करने के बाद बेदाग बाहर निकलना कठिन है, उसी प्रकार यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद भोग सुखों से अलिप्त रहना, अत्यंत कठिन है ।

धनगिरि अलग ही माटी का इंसान था । उसके दिल में भौतिक सुखों का लेश भी आकर्षण नहीं था...उसे वैषयिक सुख अत्यंत ही तुच्छ प्रतीत होते थे ।

उसी नगरी में **धनपाल** नाम का सेठ रहता था । उसके **आर्यसमित** नाम का पुत्र और **सुनंदा** नाम की पुत्री थी । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही चंद्रमा की सोलह कलाओं की भाँति सुनन्दा का रूप सौंदर्य एकदम खिल उठा था ।

सुनंदा ने धनगिरि के बाह्य सौंदर्य को देखा और उसे अपने दिल में बसा लिया । उसने मनोमन धनगिरि के साथ शादी करने का संकल्प किया ।

सुनंदा धनगिरि को दिल से चाहती थी, परन्तु धनगिरि के मन में सुनंदा के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं था । उसके मन तो रूपवती नारी एक मात्र हाड़-मांस की पुतली ही थी ।

आखिर, नारी देह में है क्या ? साक्षात् रति की अवतार समान लगती विश्व-सुंदरी के देह पर से चमड़ी हटा दी जाये...तो उस ओर नजर डालने का भी मन नहीं होगा । कितना बीभत्स है यह देह ! जिसके भीतर हाड़-मांस-खून-चर्बी-मल-मूत्र आदि ही रहा हुआ है ।

धनगिरि के दिल में नारीदेह का थोड़ा भी आकर्षण नहीं था । उसका मन मुक्ति-वधू को पाने के लिए लालायित था । जिस संयम की साधना से मुक्ति-वधू का संगम हो सके, उसे पाने के लिए वह अत्यंत ही आतुर था ।

दीक्षा की प्रबल भावना होने पर भी पारिवारिक दबाव के आगे धनगिरि को झुकना पड़ा । अनिच्छा से भी उसे सुनंदा के साथ लग्न-ग्रंथि से जुड़ना पड़ा ।

लग्न जीवन की स्वीकृति के बाद भी उसके दिल में संयम का आकर्षण पूर्ववत् बना हुआ था । वह संयम ग्रहण के लिए सानुकूल संयोगों की प्राप्ति की प्रतीक्षा कर रहा था । कुछ समय व्यतीत हुआ...और सुनंदा गर्भवती बनी ।

अष्टापद महातीर्थ की यात्रा करते समय गौतम स्वामी भगवान ने जिस तिर्यक्जृंभक देव को प्रतिबोध दिया था...उस देव का आयुष्य पूरा हो गया । देवायु की समाप्ति के साथ ही उस देव का सुनंदा की कुक्षि में अवतरण हुआ । गर्भ में एक महान् आत्मा का अवतरण होने से सुनंदा ने एक सुंदर स्वप्न देखा । उसका देह खुशी से रोमांचित हो उठा...उसका हृदय प्रसन्नता से भर आया ।

एक महान् आत्मा का गर्भ में अवतरण होता है तब चारों ओर वातावरण में प्रसन्नता छा जाती है ।

धनगिरि ने सोचा, ``सुनंदा पुत्र के सहारे अपना जीवन निर्वाह आसानी से कर सकेगी'' इस प्रकार विचार कर उसने सुनंदा को कहा, ``प्रिये ! मेरा मन तो पहले से ही संयम लक्ष्मी को पाने के लिए अत्यंत उत्सुक था...यह बात मैंने पहले से ही स्पष्ट कर दी थी...अब तू गर्भवती बन चुकी है, भविष्य में तेरा पुत्र तुझे सहायक बन सकेगा । अतः तू मुझे दीक्षा के लिए अनुमति दे ।''

यद्यपि सुनंदा के लिए पति के प्रेमपाश के बंधन को तोड़ना अत्यंत कठिन था...परन्तु धनगिरि ने लग्न-जीवन की स्वीकृति के पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी...अतः उसे बोलने के लिए कोई अवकाश नहीं था । अनिच्छा होते हुए भी उसे मूक सहमति प्रदान करनी पड़ी ।

...बस, सहमति मिलते ही धनगिरि, सिंहगिरि मुनि के पास पहुँच गया । जर्जरित धागे की भाँति मोहपाश के बंधन को तोड़कर उसने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली । सुनंदा के भाई आर्यसमित ने भी सिंहगिरि के पास जाकर दीक्षा ले ली !

वह युग था परमार्थ का, छोटे-छोटे निमित्तों को पाकर अथवा जिनवाणी का अमृत पान करने वाले नव युवा भी भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर चारित्र धर्म को स्वीकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाते थे ।

सुनंदा सुखपूर्वक अपना गर्भ वहन करने लगी । गर्भस्थ शिशु को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे...उसका वह पूरा-पूरा ध्यान रखने लगी । समय व्यतीत हुआ...और एक शुभ दिन सुनंदा ने अत्यंत ही तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया । सुनंदा के आनंद का पार न रहा । **सुनंदा की सखियों ने उसे पुत्र-जन्म की बधाई दी ।**

खुशहाली के माहौल में किसी सखी ने बात करते हुए कहा, ``अरे ! इस बच्चे के पिता ने दीक्षा नहीं ली होती तो यह पुत्र-जन्मोत्सव और भी अच्छा होता ।''

नवजात शिशु के कान में ये शब्द गये और इन शब्दों ने उसके मन पर जादुई असर किया । इन शब्दों के श्रवण के साथ ही उसकी अन्तश्चेतना जागृत हो उठी ।

पूर्व के देवभव में गणधर गौतमस्वामी के मुखारविंद से पुंडरीक-कंडरीक अध्ययन के माध्यम से जिस मोक्षमार्ग का श्रवण किया था...उन संस्कारों के फलस्वरूप नवजात शिशु के हृदय में वैराग्य भाव का बीजारोपण हो गया । उसके परिणामस्वरूप वह चारित्र धर्म अंगीकार करने के लिए उत्सुक हो गया । वह बालक मन-ही-मन सोचने लगा, ``अहो ! मेरा परम सौभाग्य है कि मेरे पिता ने भागवती दीक्षा स्वीकार की है । संयम के बिना इस संसार से आत्मा का निस्तार नहीं है...अतः मुझे भी यह संयम अवश्य स्वीकार करना चाहिए ।...परन्तु मैं अपनी माँ की इकलौती संतान होने के कारण वह मुझे अनुमति कैसे देगी ?''

वह छोटा सा बालक चारित्र धर्म की स्वीकृति के लिए अपनी माँ की अनुमति पाने का उपाय सोचने लगा । आखिर सोचते-सोचते उसे एक उपाय हाथ लग गया ।

``माँ को मुझसे कंटाला आ जाय तो वह मुझे दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर सकेगी'' इस प्रकार विचार कर उस नवजात शिशु ने माँ को कंटाला पैदा कराने के लिए निष्कारण ही रोना चालू किया । नवजात शिशु के

रुदन को जानकर माँ ने उसे चुप करने के लिए अनेक उपाय किए...परन्तु यह कोई वेदना-जन्य रुदन नहीं था...यहाँ तो रोने का मात्र बहाना था ।

यदि सकारण रुदन होता तो योग्य समाधान द्वारा उसे रोका जा सकता था । सोये हुए को जगाया जा सकता है परन्तु जो सोने का बहाना कर रहा हो, उसे जगाना शक्य नहीं है ।

नवजात शिशु के रुदन के पीछे कोई शारीरिक पीड़ा थी नहीं...अतः सुनंदा ज्यों-ज्यों उस शिशु को शांत करने का प्रयास करती, त्यों-त्यों वह शिशु और अधिक रुदन करता । इस प्रकार सतत रुदन के द्वारा वह न तो माता को खाने देता...और न सोने देता । सुनंदा किसी भी काम से जुड़ी होती, उसी समय वह बालक जोर-जोर से रुदन कर माँ के कार्य में विक्षेप डालने की कोशिश करता । बालक के सतत रुदन के कारण माँ सुनंदा हैरान-परेशान हो गई ।

इस प्रकार छह मास का दीर्घ समय व्यतीत हो गया...और आचार्य सिंहगिरि अपने परिवार के साथ तुंबवन नगर में पधारे । नगरवासियों ने गुरुदेव का भावभीना स्वागत किया । गोचरी के समय जब धनगिरि मुनि गोचरी के लिए जाने लगे, तब किसी पक्षी के कलरव को सुनकर गुरुदेव ने धनगिरि मुनिवर को कहा, ***''हे मुनिवर ! आज गोचरी में सचित्त या अचित्त जो भी भिक्षा मिले, उसे ग्रहण कर लेना ।''***

धनगिरि मुनि ने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य की । यद्यपि जैन मुनि अपनी भिक्षा में अचित्त व कल्प्य पदार्थ ही बहोरते हैं, फिर भी गुरुदेव ने जब सचित्त या अचित्त कुछ भी लेने को कहा...उस समय धनगिरि मुनि ने किसी प्रकार का तर्क नहीं किया । वे जानते थे कि **गीतार्थ गुरुदेव जो कुछ भी आज्ञा देते हैं, उसके पीछे परमार्थ की भावना रही होती है ।**

अपने गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर धनगिरि मुनिवर, आर्यसमित मुनि के साथ गोचरी के लिए नगर में निकल पड़े ।...भिक्षा के लिए आगे बढ़ते हुए वे सुनंदा के भवन में आ गए...और उन्होंने जोर से **'धर्मलाभ'** कहा ।

'धर्मलाभ' की ध्वनि सुनते ही सुनंदा की सखियाँ भी वहाँ आ गईं ।

सुनंदा ने कहा, ''मैं इस पुत्र के रुदन के कारण अत्यंत कंटाल गई हूँ...अतः आप इसे ग्रहण करें । आपके पास रहकर यह सुखी रहता हो तो उससे मुझे खुशी होगी ।''

धनगिरि ने कहा, **``इस पुत्र को ग्रहण करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है...परन्तु स्त्रियों के वचन का कोई भरोसा नहीं है । वे जो आज बोलती हैं...कल वापस बदल जाती हैं अतः इस विवाद का अंत लाने के लिए किसी को गवाही करना जरूरी है ।''**

उसी समय सुनंदा ने कहा, ``ये आर्यसमित मुनि और ये मेरी सखियाँ साक्षी रहेंगे ।''

सुनंदा की यह बात सुनकर धनगिरि मुनि ने अपनी झोली फैलाई और उसी समय सुनंदा ने अपना छह महीने का पुत्र धनगिरि की झोली में डाल दिया ।

धनगिरि ने सोचा, ``अहो ! गुरुदेव कितने ज्ञानी हैं ! सचित्त भिक्षा के लिए जो सम्मति दी, उसका यही रहस्य था कि आज भिक्षा में इस बालक की प्राप्ति होगी ।''

धनगिरि मुनि अपनी झोली में बालक को उठाकर अपने गुरुदेव के पास पधारे । बालक के अतिभार को वहन करने के कारण धनगिरि मुनि का हाथ, एकदम नम चुका था...भारी वजन को उठाकर आए धनगिरि को देखते ही सिंहगिरि आचार्य सम्मुख गए और उन्होंने अपने दोनों हाथों से उस झोली को उठा ली । झोली के अतिभार को देखकर गुरूदेव बोले, **``अहो ! यह वज्र की भाँति क्या लाये हो ?''**

उसी समय सिंहगिरि ने अपने आसन पर से उस बालक को देखा...गुरुदेव के मुख से निकले **'वज्र'** शब्द के कारण उस बालक का नाम **'वज्र'** रखा गया ।

सिंहगिरि ने वह बालक साध्वीजी भगवंत को सौंप दिया । साध्वीजी भगवंत के उपाश्रय में श्राविकाएँ उस बालक का अच्छी तरह लालन-पालन करने लगीं । वे श्राविकाएँ अत्यंत ही प्रेम और वात्सल्य से बालक की अच्छी तरह से संभाल लेने लगीं ।

रात्रि के समय में जब साध्वीजी भगवंत ग्यारह अंगों का स्वाध्याय करतीं थीं...तब यह बालक **'वज्र'** साध्वीजी भगवंत के मुख से स्वाध्याय की उन गाथाओं को अत्यंत ही ध्यान पूर्वक सुनता था...पूर्व जन्म की आराधना और तीव्र ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण, बालक वज्र को वे सारी गाथाएँ कंठस्थ हो जातीं । इस प्रकार मात्र **तीन वर्ष की वय में ही बालक वज्र ग्यारह अंग के ज्ञाता बन गया ।**

सुनंदा की हार

संसार के संबंध स्वार्थ से भरे हुए हैं । सांसारिक संबंधों में हमें जहाँ-तहाँ स्वार्थ की बदबू दिखाई देती है ।

सुनंदा को जब इस बात का पता चला कि उसका बालक साध्वीजी के उपाश्रय में रहा हुआ है और वह एकदम शांत हो चुका है, वह साध्वीजी के पास आ पहुँची और अपने बालक को ले जाने के लिए आग्रह करने लगी ।

जिस सुनंदा ने रोते हुए बालक का स्वेच्छा से त्याग किया था...आज वही सुनंदा चुप हुए उस बालक वज्र को पुनः अपने अधिकार में लेने के लिए साध्वीजी म. के पास आग्रह करने लगी ।

साध्वीजी भगवंत ने कहा, ``इस बालक पर हमारा कोई अधिकार नहीं है...यह तो गुरुदेव की अमानत है अतः पूज्य आचार्य गुरुदेव की अनुमति बिना यह बालक हम तुम्हें सौंप नहीं सकते हैं ।''

कुछ समय बाद आर्य सिंहगिरि अपने परिवार के साथ पुनः उस नगर में पधारे । सुनंदा धनगिरि मुनि के पास पहुँची और अपने पुत्र को ले जाने के लिए आग्रह करने लगी ।

धनगिरि ने समझाते हुए उसे कहा, ``यह बालक मैंने अपनी इच्छा या बलात्कार से ग्रहण नहीं किया है, अनेक की साक्षी में तुमने ही यह बालक मुझे सौंपा है...अतः इसे वापस लेने के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए । **सज्जन पुरुषों का वचन तो पत्थर की लकीर की भाँति होता है ।''**

बहुत कुछ समझाने के बाद भी सुनंदा ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा । तत्पश्चात् संघ के अग्रणी श्रावकों ने उसे समझाने की कोशिश की...फिर भी वह नहीं मानी । वह अपनी जिद् पर अटल रही...इतना ही नहीं, अपने पुत्र को पाने के लिए वह राजदरबार में जा पहुँची । उसने जाकर राजा को शिकायत की ।

सुनंदा की बात सुनकर राजा भी अचरज में पड़ गया । वह सोचने लगा, **'जैन साधु कभी भी अदत्त का ग्रहण नहीं करते हैं, तो इस घटना के पीछे रहे रहस्य को जानना चाहिए ।'** सुनंदा की शिकायत के बाद धनगिरि आदि मुनियों ने भी जाकर राजा को वास्तविकता समझाई । राजा सोच में पड़ गये ।

आखिर सोच-विचार कर राजा ने धनगिरि मुनि और सुनंदा को समाधान देते हुए कहा, ``कल तुम दोनों अपने परिवार के साथ राजसभा में उपस्थित रहना और इस बालक को भी उपस्थित रखना ।''

बस, दूसरे दिन बालक वज्र के न्याय को पाने के लिए सुनंदा अपनी सखियों के साथ बालक के योग्य खिलौने व भोजन सामग्री लेकर राज-सभा में उपस्थित हो गई । धनगिरि मुनि भी दूसरे दिन अपने साथी मुनियों के साथ वहाँ उपस्थित हो गए ।

दोनों पक्ष आमने-सामने बैठ गए । न्याय के लिए राजा बीच में बैठ गया । ठीक समय पर राजा ने न्याय करते हुए कहा, ``बालक वज्र को सभा के बीच में उपस्थित किया जाय...वह जिस ओर जाना चाहे, उस ओर जा सकेगा ।''

उसी समय सुनंदा ने कहा, ``यह बालक इन साधुओं के साथ लंबे समय से परिचित है, अतः इसे पहले मैं बुलाऊंगी ।''

राजा ने इस बात में अपनी सहमति प्रदान की । राजा की ओर से सहमति मिलते ही सुनंदा अपने पुत्र को आकर्षित करने के लिए मिठाई और खिलौने आदि बताने लगी...परन्तु वह वज्र उन खिलौनें तथा खाने-पीने की सामग्री से लेश भी आकर्षित नहीं हुआ ।

सुनंदा ने कहा, ``बेटा ! तू मेरे पास आ जा । तेरे पिता तो दीक्षा लेकर मुझे छोड़कर चले गए है...अब तो तू ही मेरे लिए आधार-स्तम्भ है । बेटा ! तेरे बिना भविष्य में मेरा कौन सहारा है ? मैंने तुझे 9 मास तक गर्भ में वहन किया है, अतः तू मेरे पास आकर अपने ऋण के भार से मुक्त बन ! मैं तेरे लिए खाने-पीने-खेलने की खूब सामग्री लेकर आई हूँ ।''

माता के आग्रह भरे इन वचनों को सुनकर वज्र सोचने लगा, ***''अहो ! लोक में माता-पिता को तीर्थरूप कहा गया है, यह बात सत्य है, किंतु वे तो इसी लोक में सुख देनेवाले हैं...परन्तु गुरू और संघ तो परलोक में भी सुखदायी हैं...और यह संघ तो तीर्थंकरों के लिए भी आदर पात्र है...अतः संघ की आराधना में माँ की आराधना का समावेश हो जाता है...भूतकाल में संसार में भटकती हुई इस आत्मा की अनंत माताएँ हो चुकी हैं । इस आत्मा ने समुद्र के जल से भी अधिक माँ का दूध पिया है...यह संघ तो मोक्षसुख प्रदान करने वाला है अतः इसकी आराधना करूंगा तो अल्पभवों में ही मेरी***

आत्मा का कल्याण हो सकेगा'' इस प्रकार विचार कर बालक वज्र अपने स्थान पर ऐसे ही खड़ा रहा ।

कुछ देर बाद धनगिरि मुनि ने रजोहरण बताते हुए कहा, ``हे बालक वज्र ! **यदि तू धर्म को भजना चाहता है तो कर्म रूपी रज को साफ करने में समर्थ इस रजोहरण को धारण कर । कर्म के बंधन से ग्रस्त जीव को अन्य सामग्री तो हर भव में सुलभ है किंतु कर्म का उच्छेद करने में समर्थ इस धर्म की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है ।''**

अपने उपकारी गुरु भगवंतों के इन वचनों को सुनकर बालक वज्र एकदम खुश हो गया ।

उसी समय संघ ने रजोहरण और मुखवस्त्रिका रखते हुए कहा, ``हे वज्र ! यदि तुझे संयम ग्रहण करने की इच्छा हो तो इस रजोहरण को ग्रहण कर, अन्यथा माता ने जो वस्तुएँ प्रदान की हैं, उन्हें ग्रहण कर ।''

वज्र ने सोचा, ``माता की अपेक्षा श्रीसंघ मेरे लिए विशेष आदरणीय है ।'' इस प्रकार विचार कर उसने वह रजोहरण अपने हाथ में ले लिया और उसे मस्तक पर धारण कर नाचने लगा ।

उसके बाद वह बालक वज्र पिता–मुनि की गोद में जाकर बैठ गया । उसी समय मंगल वाद्ययंत्रों की ध्वनि से आकाश-मंडल गूंज उठा ।

राजा ने संघ व गुरुजनों का आदर सत्कार किया । सुनंदा ने सोचा, ``अहो ! मेरा यह पुत्र दीक्षा ले लेगा । पहले भी मेरे भाई व पति ने दीक्षा अंगीकार की है, अतः अब मैं अकेली घर पर रहकर क्या करूंगी ? मैं भी उसी मार्ग को स्वीकार करती हूँ ।'' इस प्रकार विचार कर उसने भी सिंहगिरि आचार्य भगवंत के पास जाकर भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

चारित्र प्रभाव

छह वर्ष की लघुवय में बालक वज्र को भागवती दीक्षा प्रदान की गई । क्रमशः वज्रमुनि आठ वर्ष के हुए ।

एक बार वज्रमुनि को साथ में लेकर आचार्य भगवंत ने अवंती की ओर विहार प्रारंभ किया । विहार दरम्यान अचानक वर्षा होने लगी । उस समय सभी साधु यक्षमंडप में आ गए । उस समय वज्रमुनि के सत्त्व की परीक्षा करने के लिए उनके पूर्वभव का मित्र तिर्यक् जृंभक देव वहाँ पर आया और सार्थवाह का रूप धारण कर छावनी डालकर वहाँ पर रहा ।

अप्काय व वायुकाय की विराधना के भय से वे साधु उस यक्ष मंडप में रहकर आराधना करने लगे । इसी बीच उस सार्थवाह ने आकर गुरुदेव को कहा, ``हे प्रभो ! मुझ पर कृपा कर आप अपने साधु को भिक्षा के लिए हमारे तंबू में भेजें ।''

गुरुदेव ने बाहर नजर की, तब पता चला कि वर्षा बंद हो चुकी है । आचार्य भगवंत ने वज्रमुनि को भिक्षा के लिए भेजा । उसी समय वज्रमुनि की परीक्षा के लिए उस देव ने सूक्ष्म जल बूंदों की वृष्टि प्रारंभ की । तत्काल वज्रमुनि वहीं पर रुक गए । कुछ देर बाद उस देव ने जलबिंदुओं का संहरण कर लिया । तत्पश्चात् वज्रमुनि तंबू में पधारे ।

वज्रमुनि ने अपने श्रुतज्ञान का उपयोग लगाकर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का निरीक्षण किया और वे सोचने लगे, ***''अहो ! इसके पैर भूमि को स्पर्श नहीं कर रहे हैं...इसके नेत्र भी स्थिर हैं तथा यह जो अन्न बहोरा रहा है, वह अन्न भी इस क्षेत्र में सुलभ नहीं है ।''*** इन बातों का विचार करते हुए वज्रमुनि ने निर्णय किया कि सचमुच यह तो **देव-पिंड** होना चाहिए और देव पिंड साधु के लिए **अकल्प्य** कहा गया है । इस प्रकार निर्णय कर वज्र मुनि ने कुछ भी बहोरने से इन्कार कर दिया ।

बालक वज्रमुनि के इस उत्कृष्ट सत्त्व बल को देखकर वह देव प्रसन्न हो गया । उसने वज्रमुनि को **वैक्रियलब्धि** प्रदान की ।

◆ दूसरी बार पुनः किसी देव ने वज्रमुनि की परीक्षा की । उस परीक्षा में उस देव ने वणिक् का रूप किया और घेबर का दान करने लगा...परन्तु वज्रमुनि पुनः उस वणिक् के देवस्वरूप को पहिचान गये ।

वज्रमुनि ने वह देव-पिंड लेने से इन्कार कर दिया । परिणामस्वरूप उस देव ने वज्रमुनि को **आकाशगामिनी विद्या** प्रदान की ।

ग्यारह अंगों के ज्ञाता

बाल्यवय में ही वज्रमुनि ग्यारह अंगों के ज्ञाता बने थे । परन्तु उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं किया । अन्य किसी भी मुनि को वज्रमुनि की विद्वत्ता का कोई परिचय नहीं था ।... अतः जब वज्रमुनि प्राथमिक–प्रारंभिक सूत्रों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, तब स्थविर मुनि, वज्रमुनि

को अध्ययन के लिए प्रेरणा देते हुए कहते, **``वज्रमुनि ! यह लघुवय अध्ययन की वय है । इस वय में अध्ययन करोगे तो तुम्हें विशेष लाभ होगा । इस वय में अध्ययन की उपेक्षा करना उचित नहीं है ।''**

अन्य मुनियों को कहाँ पता था कि ये वज्रमुनि वय में बाल होते हुए भी श्रुत के पारगामी हैं । ... यद्यपि वज्रमुनि अत्यंत गंभीर थे, परंतु एक छोटी सी एक घटना ने गुरूदेव की भ्रांति दूर कर दी और उन्हें ख्याल आ गया कि वज्रमुनि तो महाज्ञानी है ।

एक बार अन्य सभी मुनि गोचरी के लिए बाहर गये हुए थे । गुरूदेव सिंहगिरि स्थंडिल भूमि गये हुए थे । उस समय वसति (बस्ती) में वज्रमुनि अकेले थे ।

कुतूहलवश वज्रमुनि ने सभी मुनियों की उपधि मंडलाकार स्थापित कर दी और स्वयं गुरू की भाँति (वाचनाचार्य बनकर) बीच में बैठकर ग्यारह अंग के गंभीर सूत्रों पर प्रभावशाली ढंग से वाचना देने लगे । थोड़ी देर बाद सिंहगिरि वसति के निकट आ गए । उन्हें दूर से वज्रमुनि की वाचना के शब्द सुनाई दिए ।

वे सोचने लगे, ``अहो ! क्या सभी मुनि बाहर से आ गए हैं और वज्र उन्हें वाचना दे रहा है ?'' गुरूदेव ने बंद द्वार के छिद्र में से झाँककर देखा- उन्होंने अकेले वज्रमुनि को अंगगत पदार्थों पर वाचना देते हुए देखा । उन्हें अत्यंत ही आश्चर्य हुआ । ``अहो ! यह बाल मुनि ग्यारह अंगों का ज्ञाता है ? परन्तु आश्चर्य है कि अभी तक इसने अपने ज्ञान का कभी प्रदर्शन नहीं किया । अहो ! इसकी गंभीरता कितनी है ?''

**``यदि मैं उपाश्रय में अचानक प्रवेश करूंगा तो यह शर्मिंदा हो जाएगा''** इस प्रकार विचार कर सिंहगिरि गुरूदेव ने द्वार पर आकर जोर से ``निसीहि-निसीहि-निसीहि'' कहा । अपने गुरुदेव के इन वचनों को सुनकर वज्र मुनि ने गुरूदेव के आगमन को पहिचान लिया । तत्क्षण उन्होंने सारी उपधि नियत स्थान पर रख दी । तत्काल गुरूदेव के सम्मुख आकर वे गुरुदेव की चरणरज दूर करने लगे । उसके बाद गुरूदेव को योग्य आसन पर बिठाकर उनका पाद प्रक्षालन करने लगे ।

ज्ञान के साथ ही वज्रमुनि की गंभीरता देखकर सिंहगिरि गुरूदेव

अत्यंत प्रसन्न हुए । तत्पश्चात् अन्य मुनियों को उनकी ज्ञान की गरिमा का ख्याल कराने के लिए अपने विनीत शिष्यों को बुलाकर कहा, ``मैं चार दिन के लिए आसपास के गाँवों में विहार करना चाहता हूँ ।''

शिष्यों ने कहा, ``गुरूदेव ! हम भी आपके साथ चलेंगे ।''

गुरूदेव ने कहा, ``आधा–कर्मी आदि गोचरी संबंधी दोषों की संभावना होने के कारण सभी का साथ चलना उचित नहीं है ।''

शिष्यों ने कहा, ``भगवंत ! तो फिर हमें वाचना कौन देगा ?''

गुरूदेव ने कहा, ``यह वज्रमुनि तुम्हें वाचना देगा ।''

शिष्यों ने गुरूदेव के इस वचन को तत्काल **'तहत्ति'** कहकर स्वीकार लिया...परन्तु उन्होंने लेश भी तर्क नहीं किया कि यह बालक वज्र हमें क्या वाचना देगा ।

''अहो ! ज्ञानी गुरूदेव के वे शिष्य भी कितने विनीत और समर्पित होंगे । लेश भी तर्क-वितर्क किये बिना उन्होंने गुरूदेव के वचन को 'तहत्ति' कहकर स्वीकार कर लिया ।

सिंहगिरि गुरूदेव के विहार करने के बाद वे सभी मुनिवर बाल वज्रमुनि के पास ग्यारह अंग-गत सूत्रों की वाचना लेने लगे । वज्रमुनि अपनी वाक् प्रतिभा के द्वारा इस प्रकार सरल विधि से अंगगत पदार्थों को समझाने लगे कि अल्प बुद्धिवाले शिष्य भी अच्छी तरह से सूत्रों के रहस्यों को समझने लग गए ।

कुछ दिनों के बाद जब गुरूदेव लौटे, तब उन्होंने पूछा, ``अध्ययन कैसा चल रहा है ?''

सभी मुनियों ने कहा, ``आपकी कृपा से हमारा अध्ययन सुखपूर्वक चल रहा है । अब हमेशा के लिए वज्र मुनि ही हमारे लिए 'वाचनाचार्य' हो ।''

शिष्य मुनियों के इन शब्दों को सुनकर सिंहगिरि ने कहा, **''इसकी अद्भुत गुणगरिमा और ज्ञान को बतलाने के लिए ही मैंने यहाँ से विहार किया था ।''**

उसके बाद वज्रमुनि ने भी तपश्चर्यादि विधिपूर्वक गुरूदेव के पास से वाचना ग्रहण की और गुरूदेव के पास जितना ज्ञान था, वह ज्ञान ग्रहण कर लिया ।

महान् ज्ञानी

आर्य सिंहगिरि अपने परिवार के साथ विहार करते हुए आगे बढ़ रहे थे । इधर अवंती नगर में दशपूर्वधर महर्षि भद्रगुप्तसूरिजी म. बिराजमान थे । आर्य सिंहगिरि ने सोचा, ``वज्रमुनि का क्षयोपशम अत्यंत तीव्र है, यह वज्र पूर्वों का अभ्यास करने में समर्थ है । तत्र बिराजमान भद्रगुप्तसूरिजी दशपूर्वों के ज्ञाता हैं । यह वज्र, भद्रगुप्तसूरिजी म. के पास ज्ञानार्जन कर सकता है ।'' इस प्रकार विचार कर आर्य सिंहगिरि ने वज्रमुनि को भद्रगुप्तसूरिजी म. के पास जाकर पूर्वों का अभ्यास करने के लिए आज्ञा प्रदान की ।

गुर्वाज्ञा स्वीकार कर अन्य मुनियों के साथ वज्रमुनि ने अवंती की ओर अपनी विहार-यात्रा प्रारंभ की । क्रमशः आगे बढ़ते हुए वज्रमुनि उज्जयिनी नगरी के बाहर पहुँच गए ।

इधर प्रभात समय में आचार्य भद्रगुप्तसूरिजी म. अपने शिष्यों को कहने लगे, **``आज मैंने रात्रि में एक सुंदर स्वप्न देखा । मेरे हाथ में रहा दूध का पात्र कोई पी गया और उसने तृप्ति का अनुभव किया ।** इस स्वप्न के आधार पर मैं अनुमान करता हूँ कि आज किसी बुद्धिशाली साधु का आगमन होना चाहिए, जो मेरे पास में रहे दश पूर्वों का ज्ञान ग्रहण कर सकेगा । अहो ! आज किसी योग्य पात्र की प्राप्ति होगी और मेरे दश पूर्व का संग्रह सफल-सार्थक बनेगा ।''

आचार्य भगवंत अपने शिष्यों के साथ यह वार्तालाप कर रहे थे, तभी वज्रमुनि ने वसति में प्रवेश किया । स्वप्न में दृष्ट आकृति-प्रकृति के अनुसार ही वज्रमुनि को देखकर भद्रगुप्तसूरिजी म. एकदम प्रसन्न हो गए । उसी समय आचार्य भगवंत ने कहा, ``मुनिवर ! तुम कुशल हो न ! तुम्हारी विहार-यात्रा कुशलता पूर्वक चल रही है न ! तुम्हारे गुरुदेव सकुशल हैं न ! इस बार अचानक अवंती में आने का विशेष प्रयोजन ?''

``हे भगवन् ! आपश्री ने पहले ही मेरी कुशलता पूछी...यह सब आपश्री का प्रसाद है । आपश्री की असीम कृपा से कुशल मंगल है । पूज्यपाद गुरुदेवश्री भी सकुशल हैं और उन्होंने दशपूर्वों के अध्ययन के लिए मुझे आपश्री के पास भेजा है ।''

वज्रमुनि की यह बात सुनकर आचार्य भगवंत एकदम खुश हो गए...और

उन्होंने शुभदिन शुभमुहूर्त में ज्ञानदान प्रारंभ किया । वज्रमुनि विनयपूर्वक अध्ययन करने लगे...इसके परिणामस्वरूप अल्पकाल में ही वे वज्रमुनि दशपूर्वों के ज्ञाता बन गए ।

तत्पश्चात् भद्रगुप्तसूरिजी म. की अनुज्ञा लेकर वज्रमुनि ने दशपुर नगर की ओर प्रयाण प्रारंभ किया । क्रमशः आगे बढ़ते हुए वज्रमुनि दशपुर नगर में पहुँचे । वहाँ पर पूर्व भव के मित्र जृंभक देवता ने मिलकर वज्रमुनि के दशपूर्व की ज्ञानप्राप्ति का भव्य महोत्सव किया । गुरूदेव ने योग्य जानकर उन्हें आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया । तत्पश्चात् सिंहगिरि गुरूदेव ने अनशन-व्रत स्वीकार किया और अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर स्वर्ग में गए ।

शत्रुंजय का तेरहवां उद्धार

विक्रम संवत् 108में वज्रस्वामी की निश्रा में जावडशा ने शत्रुंजय महातीर्थ का तेरहवाँ उद्धार कराया था ।

सौराष्ट्र देश !

मधुमती नगरी (आज का महुवा गाँव) में अत्यंत ही धर्म परायण और धर्म श्रद्धालु भावडशा सेठ रहते थे । उनकी धर्मपत्नी का नाम **भावलादेवी** था । राजदरबार में सेठ का खूब मान सन्मान था । लक्ष्मीदेवी की पूरी महेर थी । आनंद और उत्साह के साथ उनके दिन व्यतीत हो रहे थे ।

परन्तु जीवन में एक अमंगल घडी का आगमन हुआ और लक्ष्मीदेवी ने घर में से विदाई ली । कुछ ही समय में सारी स्थिति बदल गई । भावडशा एकदम निर्धन हो गए । ऐसी स्थिति में भी भावडशा ने अपना धर्म नहीं खोया । उनका सत्त्व वैसा ही बना रहा । धर्मतत्त्व के प्रति उनके अन्तर्मन में जो श्रद्धा और आस्था थी, उसमें लेश भी कमी नहीं आई । त्रिकाल प्रभु पूजा और उभयकाल प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ वे उतने ही उत्साह और उल्लास के साथ करने लगे । धन गया लेकिन उन्होनें धर्म को जाने नहीं दिया ।

एक दिन दो महात्मा विहार करते हुए मधुमती पधारें । वे दोनों महात्मा भिक्षा के लिए भावडशा के घर आए । भावडशा की धर्मपत्नी भावला-देवी ने खुब आदर-बहुमान के साथ महात्मा को गोचरी बहोराई । गोचरी बहोराने के बाद भावलादेवी ने महात्मा को पूछ लिया `हे प्रभो ! मेरे घर में लक्ष्मीदेवी का पुनरागमन कब होगा ?'

यद्यपि इस प्रकार के प्रश्न साधु भगवंतों को पूछना उचित नहीं हैं...और कदाचित् अज्ञानतादि के कारण किसी श्रावक ने पूछ लिया हो तो भी निर्ग्रंथ गुरु भगवंत उसका कोई जवाब नहीं देते है अथवा जवाब टाल देते है । परंतु इसमें भी एक अपवाद हैं...गीतार्थ गुरु भगवंत भावी लाभालाभ को देखकर उसका समुचित जवाब दे सकते हैं ।

प्रश्न को सुनकर गीतार्थ मुनिवर ने भावलादेवी को जवाब देते हुए कहा, `आज कोई व्यक्ति घोड़ी बेचने के लिए आए तो तुम वह घोड़ी खरीद लेना...उस घोड़ी के आगमन के बाद तुम्हारे घर में धन की अभिवृद्धि होगी !'

पूज्य गुरु भगवंत जानते थे कि इसी के पुत्र के हाथों से जैन शासन के पवित्र शत्रुंजय महातीर्थ का जीर्णोद्धार होनेवाला है । इसीलिए आगे चलकर बोले, **`धन की प्राप्ति के साथ तुम्हें पुत्र-प्राप्ति होगी और वो ही पुत्र शत्रुंजय महातीर्थ का जीर्णोद्धार करेगा ।'**

इतना कहकर मुनि भगवंत वहां से चले गए । उपकारी गुरू भगवंत के श्रीमुख से अपने भावी शुभ को जानकर भावडशा और भावलादेवी ने उसी समय सुकन की गांठ बांध ली ।

भोजन के बाद भावडशा बाजार में गए । वहां पर उन्होंने कामधेनु के समान सुकनवंती घोडी को देखा । घोड़ी को देखते ही भावडशा को मुनि का वचन याद आ गया । यद्यपि उसके पास कोई विशेष संपत्ति नहीं थी, फिर भी कुछ उधार रकम लेकर भावड़ाशा ने वह घोड़ी खरीद ली । कुछ समय व्यतीत होने के बाद उस घोड़ी ने एक अश्वरत्न को जन्म दिया । वह घोड़ा जब तीन वर्ष का हुआ, तब तपन राजा ने तीन लाख रुपए देकर वह घोड़ा खरीद लिया । सेठ की गरीबी दूर हो गई । उनके अन्तर्मन में धर्म श्रद्धा खूब बढ़ गई ।

उस धन से सेठ ने दूसरी घोड़ियाँ खरीदी । इसके फलस्वरुप उसके पास 108 अश्वरत्न तैयार हो गए ।

भावडशा ने एक शुभ दिन वे सारे घोड़े विक्रमराजा को भेंट दिए । उन घोड़ों को देखकर राजा खुश हो गया । प्रसन्न होकर उसने भावडशा को महुवा (मधुमती) सहित बारह गांव भेंट दिए ।

भावडशा ने मधुमती नगरी में प्रवेश किया और उसी शुभदिन शुभ

मुहूर्त में भावला देवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया । देवतुल्य उस पुत्र का **जावडशा** नाम रखा गया ।

दूज के चांद की तरह वह जावडशा दिन दुना और रात चौगुना बढ़ने लगा । देखते ही देखते उसने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । शस्त्र व शास्त्रकला में वह निपूण बन गया । एक शुभ दिन अत्यंत ही रूपवान् और गुणवान् सुशीला नाम की कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ ।

इधर एक दिन अत्यंत ही समाधिपूर्वक भावडशा ने इस दुनिया से चिर विदाई ली । परिवार की समस्त जवाबदारी जावडशा के कंधों पर आ गई । नेक और ईमानदारी के साथ जावडशा अपनी जवाबदारियों को वहन करने लगे । **पिता की याद में जावडशा ने मधुमती में एक नूतन जिनमंदिर का निर्माण कराया ।**

दुषमकाल के प्रभाव से मुगल लोगों का भारत में आगमन हुआ । सौराष्ट्र आदि देशों पर आक्रमण कर वे अपार धन संपत्ति व स्त्री-पुरुषों का अपहरण कर उन्हें अपने देश में ले जाने लगें । दुर्भाग्य से जावडशा उन यवनों के जाल में फंस गया । वे यवन जावडशा को अपने देश ले गए । बुद्धि, बल और अपनी होशियारी से जावडशा मुगलों की कैद में से मुक्त हो गया और बादशाह का सलाहकार बन गया । वहां पर भी उसने महावीर प्रभु के चैत्य का निर्माण कराया !

कुछ समय बाद उस यवनदेश में जैन मुनियों का आगमन हुआ । उन मुनियों ने शत्रुंजय महातीर्थ की महिमा का गान किया और कहा कि इस पंचमकाल में जावडशा इस तीर्थ का उद्धार करेगा ।

मुनियों के मुख से शत्रुंजय महातीर्थ के उद्धारक के रूप में अपना नाम सुनकर जावडशा ने पूछा, `क्या वह जावड मैं ही हूँ या अन्य कोई होगा ?'

मुनियों ने कहा, **`पुंडरीक गिरि के अधिष्टायक हिंसक बन गए है । पचास योजन के क्षेत्र को उज्जड बना दिया है । यदि कोई व्यक्ति उस हद में प्रवेश करता हैं तो मिथ्यात्वी बना कपर्दी यक्ष उसे मार डालता है । युगादिदेव की प्रतिमा भी अपूज रह गई हैं अतः ऐसी विकट परिस्थिति में इस तीर्थ के उद्धार का लाभ आपको प्राप्त हो रहा है । चक्रेश्वरी देवी को प्रसन्न कर आदिनाथ प्रभु के बिंब को प्राप्त कर लो ।'**

मुनियों के मुख से इन बातों को सुनकर जावडशा का हृदय हर्ष और शोक की मिश्रित अनुभूति करने लगा । शत्रुंजय महातीर्थ की हुई दुर्दशा का उसके मन में अत्यंत ही खेद था तो दूसरी ओर उस तीर्थ के उद्धार का परम सौभाग्य उसे प्राप्त होनेवाला है, इस बात की उसे खुशी भी थी । जावडशा जागृत हो गए । अपने परिवार के साथ वे मधुमती लौट आए । यहां आने के बाद उन्होंने चक्रेश्वरी देवी का ध्यान प्रारंभ किया ।

एक मास के उपवास के बाद प्रकाश पुंज फैलाती हुई चक्रेश्वरी देवी प्रगट हुई और बोली, **'वत्स ! तेरे सत्त्व को धन्यवाद है । तक्षशिला नगरी में जाकर वहां के राजा जगन्मल्ल को बात करना । बाहुबली के द्वारा निर्मित धर्मचक्र के आगे रहे जिनबिंब को तुम देख सकोगे । वह बिंब अत्यंत ही चमत्कारी है ।'** इतना कहकर देवी अदृश्य हो गई ।

देवी के आदेश एवं सहायता के वचन को प्राप्तकर जावडशा तक्षशिला में गए और वहां के राजा जगन्मल्ल को भेंट धरकर मधुर वचनों से प्रसन्न किया । धर्मचक्र में से ऋषभदेव प्रभु की प्रतिमा लेकर आए । बीच मार्ग में मिथ्यादृष्टि देवताओं ने अनेक उपद्रव किए । परंतु सत्त्वशाली जावडशा उन उपद्रवों से लेश भी परास्त नहीं हुए । इस प्रकार क्रमशः आगे बढते हुए एक शुभ दिन रथ में आकर आदिनाथ प्रभु की प्रतिमा के साथ मधुमती में प्रवेश किया !

कुछ समय पूर्व जावडशा ने व्यापार के लिए अपने सामूहिक वाहन चीन आदि देशों में भेजे थें, परंतु वायु अनुकूल नहीं होने के कारण वे वाहन सुवर्ण द्वीप में चले गए थें, वहां से अपार सुवर्ण संपत्ति से भरे हुए वे वाहन उसी दिन समुद्र तट पर आ गए !

प्रभुजी के नगर प्रवेश के शुभ दिन जावडशा को एक साथ दो समाचार मिले-

(1) उद्यानपाल ने आकर समाचार दिए कि पूज्यपाद वज्रस्वामीजी अपने शिष्यवृंद के साथ नगर बाहर पधारे हैं ।

(2) समुद्रतट से आकर एक भाई ने समाचार दिए कि आपके सभी वाहन अमाप सुवर्ण लेकर सुरक्षित रूप से वापस लौट आए है ।

एक क्षण के लिए तो जावडशा भी विचार मग्न हो गए-**'मैं पहले कहां जाऊं ? आए हुए सुवर्ण को पाने के लिए समुद्र तट पर जाऊं या पूज्य गुरुदेव के दर्शन-वंदन के लिए नगर बाहर जाऊं ?'**

एक ओर लौकिक नश्वर धन-संपत्ति-दूसरी और लोकोत्तर गुण-संपत्ति ! आखिर सोचते हुए जावडशा ने निर्णय लिया कि मैं पहले गुरुदेव के पास ही जाऊंगा, **'क्योंकि बाह्य धन-संपत्ति का योग तो आत्मा के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता हैं, जबकि लोकोत्तर ऐसे संत महात्मा का मिलन तो एकांततः आत्मोद्धार के लिए होगा ।'** इस प्रकार विचारकर जावडशा अपने विशाल परिवार के साथ नगर बाहर आ गए ।

अपने उपकारी गुरुदेव के दर्शन कर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए । उन्होंने अत्यंत ही भावपूर्वक गुरूदेव को वंदना की ।

उसी समय आकाश मार्ग में से एक देव का आगमन हुआ । गुरूदेव के चरणों में भावपूर्वक वंदना करके बोला, 'हे गुरूदेव ! आपके उपकार को मैं कभी भूल नहीं सकता । आपका मुझ पर असीम उपकार है । गत भव में मैं शराब का व्यसनी था, उस समय आपने उपदेश देकर मुझे उस व्यसन से मुक्त किया था...परंतु एकबार शराब की तीव्र आसक्ति के कारण महल के ऊपरी भाग में बैठकर शराब पीने के लिए तैयार हो गया था...उसी समय किसी पक्षी द्वारा भक्षण किए जा रहे सांप का जहर उस शराब में गिरा ! मुझे इसका पता नहीं होने से मैंनें वह शराब पी ली । मुझे सांप का जहर चढ़ने लगा ! मुझे अपनी भूल का ख्याल आ गया । अहो ! मैंने अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दी..मुझे अपने पाप का तीव्र पश्चात्ताप हुआ । पाप के तीव्र पश्चात्ताप और नवकार महामंत्र के स्मरण के फल स्वरूप मैं मरकर यक्ष निकाय में उत्पन्न हुआ । मेरा नाम कपर्दी यक्ष है । मेरे अधीन एक लाख यक्ष है । हे प्रभो ! आप मुझे आज्ञा प्रदान करे, मैं आपकी क्या सेवा करुं ?'

इतना कहकर वह कपर्दी यक्ष वज्रस्वामी के चरणों में बैठ गया ।

उसी समय वज्रस्वामी ने जावडशा को संबोधित करते हुए सिद्धगिरि का माहात्म्य समझाया और कहा, 'हे पुण्यशाली ! तू इस महातीर्थ की यात्रा कर और इस तीर्थ का उद्धार कर ! तेरे इस कार्य में मैं, कपर्दी यक्ष और तेरा भाग्य सहायता करेगा ।'

गुरूदेव के मुख से शत्रुंजय के माहात्म्य को सुनकर जावडशा एकदम खुश हो गए । उनके हृदय में आनंद की सीमा नहीं रही !

गुरूदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर उसने तत्काल सिद्धगिरि की ओर जाने का संकल्प किया और उसकी तैयारी प्रारंभ कर दी ।

संघ प्रयाण के पहले दिन किसी दुष्टदेव ने संघपति की सती स्त्री जयमती के शरीर में ज्वर पैदा किया...परंतु वज्रस्वामीजी की दृष्टि मात्र से वह रोग उपशांत हो गया । उसके बाद ज्यों-ज्यों संघ आगे बढता गया, त्यों-त्यों दुष्ट देवों द्वारा अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगे परंतु नवीन कपर्दी यक्ष उन सब उपद्रवों को अपनी शक्ति द्वारा दूर करने लगा । इस प्रकार क्रमशः आगे बढता हुआ वह संघ आदिपुर पहुँच गया । उस समय किसी दुष्ट देव ने वृक्ष के पत्तों की तरह गिरिराज को कंपित किया ! वज्रस्वामी ने शांति कर्म कर उस गिरिराज को पुनः निश्चल किया !!

पूज्य वज्रस्वामी ने शुभ मुहूर्त प्रदान किया । उस शुभ मुहूर्त में वह संघ जिनप्रतिमा को लेकर क्रमशः गिरिराज पर चढा । मिथ्यात्वी देवों ने अपने उपद्रव चालू रखें ! परंतु नूतन कपर्दी यक्ष ने उन सब उपद्रवों को दूर किया । इस प्रकार संघ गिरिराज के शिखर पर पहुँचा । परंतु दुष्ट देवों ने वहां पर हड्डी, मांस, चर्बी, रक्त, केश आदि बिखेरकर गिरिराज को अपवित्र कर दिया । उस समय जावडशा ने अपने नौकरों को आदेश दिया और शत्रुंजय महानदी से जल मंगवाकर उस गिरिराज को पुनः पवित्र करा दिया ।

जावडशा ने गिरिराज पर रहे ध्वस्त बने जिनमंदिरों को देखा । उसे अत्यंत ही खेद हुआ । रात्रि में सारा संघ निद्राधीन हुआ, तभी दुष्ट देव ने उस जिन प्रतिमा को पर्वत पर से नीचे उतार दी ! प्रातःकाल होने पर जैसे ही जावडशा को इस बात का पता चला, उसे अत्यंत ही खेद हुआ ।

वज्रस्वामी ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाया और कहा कि यह प्रतिमा नीचे उतार दी गई है । जावडशा पुनः उस प्रतिमा को ऊपर ले आए । रात्रि में उस मिथ्यात्वी देव ने उस प्रतिमा को पुनः नीचे ला दी ! दिन में वह प्रतिमा शत्रुंजय के शिखर पर और रात्रि में वह प्रतिमा नीचे आ जाती थी ! इस प्रकार इक्कीस दिन तक यह क्रम चलता रहा ।

उसके बाद वज्रस्वामी ने रात्रि में जावडशा और कपर्दी यक्ष को बुलाकर कहा, **'हे कपर्दी ! तू शक्तिमान हैं तो अब अपनी शक्ति का प्रयोग बता !'**

उसके बाद जावडशा को कहा, `हे जावड ! तेरे दिल में आदिनाथ प्रभु के प्रति अपूर्व भक्ति है । अतः तुम अपनी धर्मपत्नी सुशीलादेवी के साथ रथ के पहियों के नीचे सो जाओ । वे मिथ्यात्वी देव समर्थ होने पर भी तुम्हारे

इस पराक्रम के आगे टिक नहीं सकेंगें । उस समय सारा संघ मेरे साथ कायोत्सर्ग ध्यान में रहेगा ।'

गुरू भगवंत के मुख से इन वचनों को सुनकर जावडशा तुरंत तैयार हो गया ।

दूसरे दिन आदिनाथ प्रभु की प्रतिमा को ऊपर चढाने के बाद जावडशा और उसकी पत्नी रथ के पहियों के नीचे सो गए । वज्रस्वामी और सारा संघ कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर हो गया ।

रात्रि के समय में दुष्ट देवों ने भयंकर उपद्रव चालू किए । परंतु उनका कुछ भी नहीं चला । आखिर जावडशा की जीत हुई ।

प्रातःकाल होने पर उस प्रतिमा को पर्वत के शिखर पर ही सभी ने देखा । सभी के उत्साह-उल्लास का पार नहीं था ।

मंगल वाद्य यंत्रों के साथ उस प्रतिमा को जिनमंदिर में प्रवेश कराया गया । मंदिर में रही सभी अशुद्धि आशातनाओं को दूर किया गया ।

उस समय पहले के मिथ्यात्वी कपर्दी यक्ष ने भयंकर उपद्रव मचाना चालू किया । नए कपर्दी यक्ष ने उसका प्रतिकार किया । **आखिर वह पुराना कपर्दी यक्ष वहां से भाग गया और सौराष्ट्र के दक्षिण समुद्र किनारे पर चंद्रप्रभास तीर्थ में चला गया और वहां उसने दूसरा नाम धारण किया ।**

इधर नूतन जिनबिंब की खूब उत्साह के साथ प्रतिष्ठा विधि संपन्न हुई ।

उस समय मंदिर की ध्वजा चढाने के लिए जावडशा अपनी पत्नी के साथ मंदिर के शिखर पर चढे । मंदिर की ध्वजा चढाने के बाद जावडशा सोचने लगे, **'अहो ! आज मेरा कैसा अहोभाग्य ! इस तीर्थ के जीर्णोद्धार का लाभ मुझे प्राप्त हुआ । मेरा जन्म सफल हो गया । कपर्दी यक्ष ने मुझे सहायता की । वज्रस्वामी जैसे महान् गुरुदेव प्राप्त हुए ! अब मैं संसार का त्याग कर जिनेश्वर के ध्यान में लीन बनकर सर्व कर्मों को खपा दूँ !'** इस प्रकार जावडशा और उसकी पत्नी शुभ ध्यान की धारा में लीन बने हुए थे । तभी उनका हृदय बंद हो गया । उनका आयुष्य वहीं समाप्त हो गया । वे समाधि मृत्यु प्राप्त कर चौथे देवलोक में देव बने । उसी समय तीर्थ के रक्षक उत्तम देवताओं ने उन दोनों के मृतदेह को उठाकर क्षीर सागर में डाल दिया !

इधर जावडशा के पुत्र जाजनाग ने जब अपने माता-पिता को नहीं

देखा तो उसे अत्यंत ही खेद हुआ । उसके बाद चक्रेश्वरी देवी ने मधुर वचनों से उसे शांत किया और तीर्थ भक्ति के प्रभाव से तुम्हारे माता-पिता समाधि मृत्यु को प्राप्तकर चौथे देवलोक में देव बने हैं, इत्यादि बातें कही ! जाजनाग का शोक दूर हुआ । उसके बाद जाजनाग संघ लेकर गिरनार पर्वत पर गया ।

इस प्रकार विक्रम संवत् 108 में जावडशा ने शत्रुंजय महातीर्थ का 13वाँ उद्धार किया ।

रुक्मिणी को प्रतिबोध

पृथ्वीतल पर विचरते हुए वज्र स्वामी अपनी प्रवचन लब्धि से भव्य जीवों को प्रतिबोध देने लगे । 500 शिष्यों के गुरू पद पर प्रतिष्ठित वज्रस्वामी आचार्य भगवंत जहाँ भी जाते, वहाँ अद्भुत शासन प्रभावना होती । अनेक भव्यात्माएँ देशविरति और सर्वविरति धर्म को स्वीकार करती थीं ।

इधर पाटलीपुत्रनगर में धन-धान्य से समृद्ध एक सेठ रहता था, उस सेठ की पुत्री का नाम **रुक्मिणी** था । उस नगर में वज्रस्वामी की साध्वियाँ श्राविकाओं के आगे धर्मोपदेश देती थी ! धर्मोपदेश के अन्तर्गत वे वज्रस्वामी के रूप, लावण्य, सौभाग्य आदि गुणों का वर्णन करती थीं । वज्रस्वामी के रूप-लावण्य आदि गुणों को सुनकर उस रुक्मिणी ने निश्चय कर लिया कि इस जीवन में वज्रस्वामी के साथ ही विवाह करना है ।

रुक्मिणी के इस संकल्प को जानकर साध्वीजी भगवंत ने उसे समझाते हुए कहा, ``रुक्मिणी ! तुम्हारा यह संकल्प उचित नहीं है । जैन मुनि तो स्त्री के सर्वथा त्यागी होते हैं । उनके साथ पाणि-ग्रहण करने का तेरा संकल्प कभी भी साकार नहीं हो सकेगा ।''

रुक्मिणी ने कहा, ``मैं अपना प्रयत्न करूंगी । प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिली तो मैं भी दीक्षा अंगीकार कर लूंगी ।''

वज्रस्वामी अपने विशाल परिवार के साथ विहार करते हुए पाटलीपुत्र नगर में पधारे । वहाँ के राजा ने भव्य महोत्सव पूर्वक आचार्य भगवंत का नगर-प्रवेश कराया ।

अनेक साधुओं के रूप में समानता होने से राजा वज्रस्वामी को पहिचान नहीं पाया । अन्य साधुओं के द्वारा वज्रस्वामी का परिचय प्राप्त होने

पर राजा ने अत्यंत ही भावपूर्वक वज्रस्वामी को वंदन-प्रणाम किया । तत्पश्चात् वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना सुनी ।

वज्रस्वामी के आगमन को सुनकर रुक्मिणी ने लज्जा का परित्याग कर अपने पिता को कहा, **''मैं इस जीवन में एक मात्र वज्र के साथ ही लग्न करना चाहती हूँ, यदि मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होगी तो मैं मृत्यु को वर लूंगी ।''**

पुत्री की यह बात सुनकर धनावह श्रेष्ठी, दिव्य आभरणों व अलंकारों से अलंकृत अपनी पुत्री को लेकर वज्रस्वामी के पास आया । लोक-मुख से वज्रस्वामी के अद्‌भुत रूप, लावण्य आदि गुणों का वर्णन सुनकर धनावह-श्रेष्ठी अत्यंत खुश हो गया और सोचने लगा, ``अहो ! मेरी पुत्री धन्य है जो इस प्रकार के श्रेष्ठ व रूपवान् वर को वरना चाहती है ।''

तत्पश्चात् धनावह श्रेष्ठी ने वज्रस्वामी को वंदन-नमस्कार किया...और धर्मोपदेश सुनने के बाद वह हाथ जोड़कर विनती करते हुए बोला, ``मेरी यह पुत्री आप में आसक्त है, अतः इसके साथ पाणि-ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें । इस कन्या के पाणि-ग्रहण के प्रसंग में मैं एक करोड़ सुवर्ण प्रदान करूंगा ।''

धनावह सेठ के इन शब्दों को सुनकर वज्रस्वामी ने कहा, ***''संसार के भोग-सुख तो नदी के जलतरंग तथा हाथी के कान की भाँति अत्यंत ही चपल हैं । संसार के भोग-सुख तो पुण्य रूपी लक्ष्मी में राग पैदा करानेवाले हैं । स्त्री और लक्ष्मी का दान खूब सोच-विचार करके देना चाहिए । मेरा शरीर तो हाड़-मांस-रुधिर व चर्बी आदि से पूरा-पूरा भरा हुआ है उसमें आसक्त होना तो सिर्फ मूर्खता है ।***

``यदि तुम्हारी पुत्री योग्य वर को वरना चाहती है तो वह संयम रूपी वर के साथ पाणिग्रहण करे, जो देवों को भी दुर्लभ है और जिसके आगे सभी सद्‌गुण किंकर समान हैं । रूप और लक्ष्मी भी जिसकी दासी है...सभी क्रियाएँ भी जिसके आगे तुच्छ हैं । जिसमें किसी प्रकार का दूषण नहीं है...और जिसकी भक्ति से मोक्ष भी सुलभता से प्राप्त हो सकता है ।''

''इस संसार में जीवन के साथ मृत्यु का भय जुड़ा हुआ है-यौवन के साथ वृद्धावस्था का भय लगा हुआ है । देह के सौंदर्य के साथ रोग का भय जुड़ा हुआ है । अंजलि में रहा जल जिस प्रकार प्रतिक्षण कम होता जाता है...उसी प्रकार अपना आयुष्य भी प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है ।''

वज्रस्वामी के वैराग्य सभर उपदेशों को सुनकर रुक्मिणी का मोह रूपी ज्वर शांत हो गया और लग्न के लिए आई हुई रुक्मिणी ने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली । वज्रस्वामी की वाणी सुनकर अनेक भव्यात्माएँ भी जिनधर्म के प्रति आदर वाली बनीं ।

संघरक्षा

वज्रस्वामी ने **आचारांग सूत्र** के **महापरिज्ञा अध्ययन** में से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया ।...परन्तु भविष्य में सभी प्राणी अल्प सत्त्ववाले होंगे, यह जानकर उन्होंने वह विद्या किसी साधु को प्रदान नहीं की ।

एक बार वज्रस्वामी विहार करते हुए उत्तर दिशा की ओर आगे बढ़े । वहाँ पर भयंकर अकाल पड़ा था । भयंकर दुष्काल के कारण संघ की स्थिति अत्यंत ही दयनीय थी ।

संघ ने वज्रस्वामी को विनती करते हुए कहा, ``दुष्काल के कारण हमारी स्थिति अत्यंत ही खराब है । दुष्काल के साम्राज्य में पुनः पुनः भोजन करने पर भी तृप्ति नहीं होती है । भिक्षुओं के भय से श्रेष्ठीजन भी अपना द्वार नहीं खोलते हैं । क्रय-विक्रय का व्यवहार भी दुर्लभ हो गया है । विहार करके आए हुए साधुओं के लिए शुद्ध अन्न की प्राप्ति दुर्लभ हो गई है । इस संघ का उद्धार करने में आप ही समर्थ हो ।''

संघ की इस दयनीय स्थिति का वर्णन सुनकर वज्रस्वामी ने सोचा, **``सामर्थ्य होने पर भी यदि संघ का रक्षण न किया जाय तो वह व्यक्ति दुर्गतिगामी बनता है, यह संघ तो तीर्थंकरों को भी पूज्य है ।''** इस प्रकार विचार कर वज्रस्वामी ने अपनी लब्धि के बल से चक्रवर्ती के चर्मरत्न की भाँति एक लंबा पट्ट बिछाया और उस पर पूरे संघ को उठाकर आकाशगामिनी विद्या के बल से आकाश में उड़ने लगे । इसी बीच कोई शय्यातर किसी काम के लिए अन्यत्र गया हुआ था । वापस लौटते समय वज्रस्वामी को संघ के साथ उड़ते हुए देखकर वह बोला, ``हे प्रभो ! मैं आपका शय्यातर था...अभी हम साधर्मिक हैं तो मुझे ऐसे स्थान में अकेले छोड़कर क्यों जाते हो ?''

इस प्रकार शय्यातर की इस बात को सुनकर वज्रस्वामी ने सूत्रार्थ का स्मरण किया...**``जो साधर्मिक; स्वाध्याय, चारित्र व धर्म की प्रभावना में तत्पर हों उन्हें मुनि अवश्य तारें ।''** आगम के इस पाठ को याद कर

वज्रस्वामी ने उस श्रावक को भी अपने विद्या पट्ट में ले लिया। उसके बाद वज्रस्वामी सकलसंघ के साथ सुकाल प्रदेश की ओर आगे बढ़ने लगे।

उस पट्ट को लेकर वज्रस्वामी महापुरी नगरी में पधारे...जहाँ सुकाल होने से संघ के सभी सदस्य सुखी बनें।

शासन प्रभावना

महापुरी नगरी का राजा और वहाँ की प्रजा बौद्धधर्मी थीं। इस कारण जैन और बौद्धों के बीच में परस्पर वाद होता रहता था। जब पर्युषण महापर्व आए, तब प्रजाजनों ने जाकर राजा को निवेदन किया, ``हे राजन्! जैनों का वार्षिक पर्व आया हुआ है, अतः आप माली लोगों के पास से सभी फूल अपने मंदिरों में मंगवा दें। जैनों को फूल नहीं मिलने से उनका अभिमान दूर हो जाएगा।''

प्रजाजनों की यह बात सुनकर राजा ने सभी मालियों को यह आज्ञा कर दी। परिणामस्वरूप जैनों को प्रभु भक्ति के लिए कुछ भी फूल नहीं मिल पाए।

लोगों ने जाकर वज्रस्वामी को बात करते हुए कहा, **``तीर्थ की उन्नति के लिए साधु भी हमेशा प्रयत्नशील होते हैं, अतः आपको भी शासन की उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न करना चाहिए।''**

लोगों की यह बात सुनकर आकाशगामिनी विद्या के बल से वज्रस्वामी माहेश्वरी वन में गए। उस वन में धनगिरि का मित्र तड़ित् नाम का माली था। वज्रस्वामी के आगमन को देखकर वह खुश हो गया और बोला, ``आपके दर्शन कर आज मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ...मेरे योग्य सेवा कार्य फरमाएँ।''

वज्रस्वामी ने कहा, ``कल हमारा वार्षिक पर्व है, अतः उसके लिए महापुरी नगरी में प्रभु-भक्ति के लिए पुष्प चाहिए।'' यह सुनकर उस माली ने 20 लाख पुष्प प्रदान किए। उन्हें लेकर वे लघु हिमवंत पर्वत पर गए और वहाँ शाश्वत जिन प्रतिमाओं को वंदन कर वहाँ के देवता के पास से तथा बीच मार्ग में हुताशन यक्ष के वन देवता के पास से फूल लिये। इन सब फूलों को लेकर वे महापुरी नगरी में पधारे और वहाँ पर भव्यातिभव्य प्रभु भक्ति का महोत्सव किया।

वज्रस्वामी के इस प्रभाव को देखकर बौद्धराजा भी अत्यंत ही प्रभावित

(27) नंदिषेणमुनि-पृष्ठ नं. 168

(28) वैयावच्ची-नंदिषेण-पृष्ठ नं. 175

श्री नंदिषेण की सज्झाय

साधुजजी न जइए रे परघर एकला रे, नारीनो कवण विश्वास,
नंदिषेण गणिका वचने रह्या रे, बार वरस घरवास साo ।।१।।
सुकुलीनी वर कामिनी पांचशे रे, समस्थ श्रेणिक वात,
प्रति बुझ्यो वचने जिनराजनां रे, व्रतनी काढी रे वात साo ।।२।।
भोग करम पोते विण भोगवे रे, न होवे छुटक बार,
वात करे छे शासन देवता रे, लीधो संजम बार. साo ।।३।।
कंचन कोमल काया शोषवी रे, विरस निरस आहार,
संवेगी मुनिवर शिर सेहरो रे, बहु बुद्धि अक्कल भंडार साo ।।४।।
वेश्या घर पहोंच्या अणजाणतो रे, धर्मलाभ दीये जाम,
धर्मलाभनुं काम इहां नहि रे, अर्थलाभनुं काम. साo ।।५।।
बोल खमी न शक्या गरवे चड्या रे, खेंच्युं तरणुं रे नेव,
दीठुं घर सारु अस्थे भर्युं रे, जाणे प्रत्यक्ष देव. साo ।।६।।
हाव भाव विभ्रम वसे आदरी रे, वेश्या शुं घरवास,
पण दिन प्रति दश दश बुझवी रे, मूके प्रभुजीनी पास. साo ।।७।।
एक दिवस नव तो आवी मल्या रे, दसमो न बुझे कोय,
आसंगायत हास्य मिषे कहे रे, पोते दशमा रे होय. साo ।।८।।
नंदिषेण फरी संयम लीये रे, विषय थकी मन वाळ,
चूकीने पण जे पाछा वळे रे, ते विरला इणे काळ. साo ।।९।।
व्रत अकलंक जो राखवा खप करो रे, तो इण जुठे संसार,
कहे **जिन हर्ष** कहे तुं एकलो रे, परघर गमन निवार. साo ।।१०।।

हुआ । राजा, प्रजाजनों ने जैन धर्म को स्वीकार किया । जैन शासन की अद्भुत प्रभावना हुई ।

अनशन स्वीकार

अपने चरण कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए वज्रस्वामी अपने उपदेश द्वारा अनेक भव्यजीवों पर उपकार करने लगे । वे वज्रस्वामी क्रमशः विहार करते हुए दक्षिण पथ में पधारे । वहाँ एक बार उन्हें श्लेष्म की तकलीफ हुई । शिष्यों के आग्रह से उन्होंने सूंठ का टुकडा लिया और उसे कान पर रख दिया । वे औषध के रूप में सूंठ का टुकड़ा वापरना भूल गए । प्रतिक्रमण समय मुहपत्ति की प्रतिलेखना करते समय जब वह सूंठ का टुकड़ा नीचे गिरा-तब वे सोचने लगे, ``अहो ! लगता है अब मेरा आयुष्य स्वल्प ही है ।''

अपने आयुष्य की अल्पता जानकर वज्रस्वामी ने अनशन करने का निश्चय किया ।

उस समय 12 वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा । वज्रस्वामी ने अपने शिष्य वज्रसेन आदि को अन्यत्र विहार की आज्ञा दी । भयंकर दुष्काल के कारण भिक्षा की दुर्लभता देखकर वज्रसेन मुनि ने कहा, ``मैं विद्या के बल से (विद्या पिंड) भिक्षा लाकर तुम्हारा पोषण करूँगा और यदि विद्यापिंड पसंद न हो तो अनशन व्रत स्वीकार करना चाहिए ।'' वज्रसेन मुनि की यह बात सुनकर सभी 500 शिष्य भी अनशन व्रत स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए ।

एक छोटे से बालमुनि को किसी बहाने से छोड़कर वज्रस्वामी अपने 500 शिष्यों के साथ पर्वत पर चढ़ने लगे । उस समय बालमुनि ने सोचा, ``यदि मैं भी पर्वत पर चढूंगा तो अपने गुरूदेव को अप्रीति होगी'', इस प्रकार विचार कर पर्वत के निम्न भाग में ही बालमुनि ने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत स्वीकार कर लिया । मक्खन के पिंड की तरह बालमुनि का कोमल देह गल गया और समाधि मृत्यु प्राप्त कर वे देवलोक में चले गए । बालमुनि के अपूर्व सत्त्व से प्रसन्न हुए देवताओं ने आकर उनका महोत्सव किया ।

जब अन्य मुनियों को बालमुनि के अद्भुत पराक्रम का पता चला तो वे और भी अधिक वैराग्य वाले हुए और सभी ने अनशन व्रत स्वीकार लिया ।

वज्रस्वामी को चलित करने के लिए किसी मिथ्यादृष्टि देवी ने आकर उपसर्ग करने प्रारंभ किए। परन्तु वज्रस्वामी लेश भी चलित नहीं हुए। आखिर देवी की अप्रीति को जानकर वज्रस्वामी अन्य स्थान पर गये और वहाँ पर क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग कर अनशन कर लिया। अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर वे स्वर्ग में गए। इन्द्र ने आकर उस स्थान पर तीर्थ की स्थापना की।

वज्रस्वामी के स्वर्गगमन के बाद सौधर्मइन्द्र ने आकर रथ में बैठकर उस पर्वत को प्रदक्षिणा दी, उसके बाद वह पर्वत रथावर्तगिरि के नाम से प्रख्यात हुआ। पंचमंगल महाश्रुत स्कंध जो स्वतंत्र आगम के रूप में था, उसे वज्रस्वामी ने मूलसूत्र के साथ जोड़ दिया।

वज्रस्वामी के स्वर्ग गमन के बाद दसवें पूर्व, चौथे संघयण और संस्थान का विच्छेद हो गया।

27.प्रवचन लब्धिधारक नंदिषेण मुनि

◆ वीर प्रभु की एक ही देशना को सुनकर जो संयम के लिए उत्कंठित बने थे ।

◆ देव-वाणी की उपेक्षा करके भी जिन्होंने चारित्रधर्म को स्वीकार किया था और कठोरतम संयमसाधना की थी ।

धर्मलाभ के बदले वेश्या के कथनानुसार अपनी लब्धि का प्रयोग करनेवाले नंदिषेण मुनि का पतन हुआ ।

परंतु हाँ,

भीतर की आत्मजागृति के कारण वे प्रतिदिन अपनी प्रवचन-लब्धि द्वारा 10 व्यक्तियों को प्रतिबोध देते थे ।

इस प्रकार 12 वर्ष तक 43200 व्यक्तियों को
धर्मबोध देकर एक छोटे से निमित्त को पाकर
स्वयं जागृत हो गए,
और पुनः
निर्मल संयमसाधना कर
आत्मकल्याण के पथ पर
आगे बढ़ गए ।

27. नंदिषेण मुनि

कुर्वाणोग्रं तपो नित्यं, दुष्टं कर्मापि निर्मितम् ।
जीवो भिनत्ति तत्कालं, नन्दिषेण मुनीशवत् ।।

मुखप्रिय ब्राह्मण को यज्ञ आदि कर्मकांड कराने का अत्यंत ही शौक था । यज्ञ आदि में अपनी संपत्ति का व्यय करने में उसे अत्यंत ही रुचि थी । यज्ञ की समाप्ति के बाद वह अनेक ब्राह्मणों, पंडितों एवं संन्यासियों को भोजन कराता था ।

एक बार उसने एक विशाल परिमाण में यज्ञ का आयोजन किया । उस यज्ञ के लिए उसने अनेक ब्राह्मणों को आमंत्रित किया । यज्ञ में पधारे सैकड़ों लोगों की भोजनव्यवस्था का कार्यभार उसने अपने कुशल नौकर **भीम** को सौंपा ।

यद्यपि भीम सम्यग्दृष्टि था, परंतु उसकी आर्थिक स्थिति अत्यंत ही कमजोर थी, इसी कारण उसने मुखप्रिय ब्राह्मण के घर नौकरी स्वीकार की थी ।

यज्ञ में भोजन-व्यवस्था की जवाबदारी स्वीकार करने के पूर्व भीम ने मुखप्रिय को कहा, ``मैं आपके आदेशानुसार जवाबदारी वहन करूंगा, परंतु मेरी एक शर्त है कि आमंत्रित ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के बाद जो भी भोजन-सामग्री बचेगी, उस पर मेरा अधिकार रहेगा ।''

धन-धान्य से समृद्ध मुखप्रिय ब्राह्मण को यह शर्त स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं थी, अतः उसने तुरंत ही हाँ भर दी ।

निश्चित समय पर यज्ञ का मंगल प्रारंभ हुआ । यज्ञ की समाप्ति के बाद भोजन की समुचित व्यवस्था भीम ने सँभाल ली थी । सभी आगंतुक अतिथियों

ने सुस्वाद भोजन ग्रहण किया । तत्पश्चात् जो भी भोजन सामग्री बची, वह सभी सामग्री भीम अपने घर ले गया ।

घर आने के बाद उसने पंच-महाव्रतधारी गुरु भगवंतों को गोचरी के लिए आमंत्रण दिया और बड़े ही आदर के साथ उसने अनेक साधुओं को (सुपात्र में) दान देकर अपूर्व पुण्य उपार्जित किया । उसके बाद जो भी भोजन बचा, वह भोजन उसने संन्यासी तथा दीन-दुःखी आदि गरीबों को दान में दे दिया ।

दानधर्म के सुकृत के फलस्वरूप वह भीम मरकर देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ और देवलोक के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर मगध सम्राट् श्रेणिक महाराजा के पुत्र के रूप में पैदा हुआ और उसका **'नंदिषेण'** नामकरण किया गया ।

विशिष्ट पुण्योदय के फलस्वरूप नंदिषेण को अद्भुत रूप-संपदा प्राप्त हुई । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही पूर्णिमा के चंद्र की भाँति उसका रूप-सौंदर्य खिल उठा ।

रूप-संपदा के साथ-साथ नंदिषेण बुद्धिनिधान भी था । अनेक राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ । संसार के भौतिक सुखों के भोग में उसके दिन बीतने लगे । समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा...और एक दिन...मंगल प्रभात में राजगृही नगर के बाह्य उद्यान में चरम तीर्थपति भगवान् महावीर परमात्मा का आगमन हुआ । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की।

समवसरण के मध्य में विराजमान महावीर प्रभु ने मेघ-गंभीर ध्वनि से अपनी धर्मदेशना प्रारंभ की ।

प्रभु की एक ही भवनिस्तारिणी धर्मदेशना के श्रवण के साथ ही मोह की गहरी नींद में सोई हुई नंदिषेण की आत्मा एकदम जाग उठी । परमात्मा की देशनाश्रवण के साथ ही उसके दिल में सम्यग् ज्ञान का दीप प्रज्वलित हो उठा । उसके अन्तर्मन से मोह का अंधकार दूर हो गया ।

सम्यग् ज्ञान के दिव्य प्रकाश में उसे संसार के समस्त भौतिक सुख दुःख रूप प्रतीत होने लगे । देवांगना जैसी रूपवती स्त्रियों में भी उसे

बीभत्सता के दर्शन होने लगे । भव्य महल भी उसे जेल रूप प्रतीत होने लगा । मनुष्यजीवन की दुर्लभता और संयम द्वारा ही उस जीवन की सफलता के साक्षात् दर्शन होने लगे ।

देशना श्रवण कर नंदिषेण अपने घर लौटा, परंतु उसका हृदय आमूलचूल बदल चुका था । अत्यंत विनम्र बनकर वह अपने माता-पिता के पास संयम हेतु अनुमति प्रदान करने के लिए प्रार्थना करने लगा । माता-पिता ने उसे संयम की कठोरता समझाई...परंतु मुक्ति के अभिलाषी बने नंदिषेण को संयम का मार्ग अत्यंत ही सुकर लगा ।

पत्नियों के करुण कल्पांत रुदन की भी उपेक्षा कर एक दिन नंदिषेण महाभिनिष्क्रमण के पंथ पर गतिमान बनने के लिए तैयार हो गया ।

ज्योंही नंदिषेण त्याग के पंथ की ओर जाने के लिए तैयार हुआ, त्योंही आकाश में देववाणी हुई-**''नंदिषेण ! अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी हैं, अतः संयम लेने के लिए जल्दबाजी मत करो ।''**

परंतु नंदिषेण के मन पर देववाणी का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, उसने तो मनोमन संयम लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया था, अतः देववाणी की उपेक्षा करके भी वह प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच गया ।

महावीर प्रभु ने भी उसकी वैसी ही भवितव्यता को जानकर चारित्र धर्म प्रदान किया ।

चारित्रधर्म के स्वीकार के साथ ही नंदिषेण ने रत्नत्रयी की उत्कृष्ट आराधना प्रारंभ कर दी । कठोर तप और स्वाध्याय की साधना में नंदिषेण मुनि आकंठ डूब गए । स्वाध्याय-साधना में निमग्न नंदिषेण मुनि दस पूर्व के ज्ञाता बने । कठोर तप साधना के फलस्वरूप वे अनेक लब्धियों के स्वामी बन गए ।

कुकर्म और कुसंस्कारों को नष्ट करने के लिए कठोर संयमजीवन जीने लगे ।...परंतु एक दिन निकाचित बँधे हुए वे भोगावली कर्म उदय में आने लगे और उन कर्मों के उदय के फलस्वरूप नंदिषेण मुनि का स्थिर मन चंचल बनने लगा । विषयों से विरक्त बने उनके मन में भौतिक विषयसुखों का आकर्षण पैदा होने लगा ।

अपने मन में हो रहे इस आकस्मिक परिवर्तन को नंदिषेण मुनि भी

कुछ समझ नहीं सके । उन कुविचारों को रोकने के लिए वे अनेकविध प्रयत्न करने लगे । परंतु वे सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए । **``रोग बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की''** जैसी उनकी स्थिति हो गई ।

अपने कुविचारों को क्रियान्वित होने से रोकने के लिए एक-दो बार नंदिषेण मुनि ने आत्मघात के भी प्रयास किए, परन्तु उन प्रयासों में भी उन्हें सफलता नहीं मिली और एक दिन उनके जीवन में वह पतन की पल आ ही गई ।

एक दिन नंदिषेण मुनि अट्ठम तप के पारणे हेतु गोचरी के लिए निकले हुए थे । अनाभोग से वे एक वेश्या के घर में चले गए । घर में प्रवेश करते ही उन्होंने जोर से `धर्मलाभ' कहा ।

नंदिषेण मुनि के मुखारविंद से `धर्मलाभ' की इस ध्वनि को सुनते ही वेश्या अपने खंड में से बाहर आ गई । उस वेश्या ने नंदिषेण मुनि के अदभुत रूप के दर्शन किये...तत्पश्चात् वह बोली, **``मुनिवर ! यहाँ धर्मलाभ नहीं, अर्थलाभ की आवश्यकता है । जो अर्थलाभ करा सके, उसी का आगमन यहाँ सफल है, अन्यथा यहाँ आना निरर्थक ही है ।''**

वेश्या के इन वचनों से नंदिषेण मुनि के अहंकार को एक अपूर्व चोट लगी ।

एक ओर नंदिषेण मुनि के भोगावली कर्म उदय में आकर अपना प्रभाव दिखाने के लिए तैयार हो चुके थे...इसी के फलस्वरूप वे सोचने लगे, ``क्या यह स्त्री मुझे इतना शक्तिहीन समझती है ? इसे मेरी लब्धियों का कोई पता नहीं है, इसी कारण अभिमान में `अर्थलाभ' की बात कर रही है । वह मुझे कायर समझती है । जैनमुनि के पास अर्थलाभ देने की कहाँ शक्ति है ?''

``बस, अभी इसके अभिमान को तोड़ देता हूँ'' इस प्रकार विचार कर तत्क्षण नंदिषेण मुनि ने घास का एक तिनका अपने हाथ में लिया और उसके दो टुकड़े कर दिये ।

परंतु यह क्या ! देखते-ही-देखते साढ़े बारह करोड़ सोना मोहर की वृष्टि हो गई । वेश्या के आश्चर्य का पार न रहा । मात्र धर्मलाभ की ध्वनि सुनाने वाले जैनमुनि इस प्रकार धन की वर्षा भी कर सकते हैं-यह जानकर वेश्या आश्चर्यमुग्ध हो गई ।

तुरंत ही वेश्या ने जाकर मुख्य द्वार बंद कर दिया और नंदिषेण मुनि को आजिजी करती हुई बोली, ``मुनिवर ! धन, वैभव और यौवन के स्वामी होने पर भी आप अपनी काया को क्यों गला रहे हो ? यह तप-त्याग की साधना तो वृद्धावस्था में भी हो सकेगी...यह उम्र तो भोग-विलास के लिए है । मैं आपके चरणों की दासी हूँ...आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें ।''

भोगावली कर्मों ने अपना चमत्कार दिखलाना प्रारंभ कर दिया था । त्यागी और तपस्वी नंदिषेण मुनि ने अपने देह पर से साधु के वस्त्र उतार दिये और उन्होंने भोगी के वस्त्र धारण कर लिये । परंतु उसी समय नंदिषेण ने संकल्प किया-**``यहाँ आने वाले व्यक्तियों को मैं प्रतिदिन प्रतिबोध करूंगा और कम-से-कम जब तक दस व्यक्ति प्रतिबोध प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा ।''**

नंदिषेण की इस प्रतिज्ञा को सुनकर वेश्या स्तब्ध रह गई । मेरे साथ भोगों में आसक्त बनकर ये नंदिषेण दस व्यक्तियों को त्याग के पथ पर रवाना करेंगे ? यह कैसी विचित्र बात है ?... परन्तु इसमें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि ``जो मुनि घास के तिनके को तोड़कर सोना मोहर की वृष्टि करा सकते हों, उनके लिए विषय-लंपटों को प्रतिबोध देना कोई बड़ी बात नहीं हो सकती है ।'' इस प्रकार विचार कर वेश्या ने नंदिषेण मुनि की शर्त स्वीकार कर ली ।

यौवन वय, सानुकूल संयोग, स्वादिष्ट भोजन, वेश्या की इच्छानुकूल प्रवृत्ति आदि-आदि के कारण नंदिषेण वेश्या के भोग-वैभव में एकदम डूब गए...परंतु उस डुबकी के साथ भी वे अपनी प्रतिज्ञा का अखंड रूप से पालन करने लगे ।

प्रतिदिन जो भी व्यक्ति वेश्या के वहाँ आते थे, उन्हें वे अपनी मधुर-गंभीर वाणी के द्वारा प्रतिबोध करने का प्रयास करते थे, इस प्रकार प्रतिदिन वे कम-से-कम दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देने लगे और उन्हें भगवान महावीर के त्याग मार्ग का उपासक बनाने लगे ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा । देखते-ही-देखते वेश्या के यहाँ रहते हुए नंदिषेण मुनि को 12 वर्ष बीत गये । उन 12 वर्षों में उन्होंने अनेक

(29) कृतपुण्य शेठ-
पृष्ठ नं. 178

(30) सुकोशल मुनि
पृष्ठ नं. 188

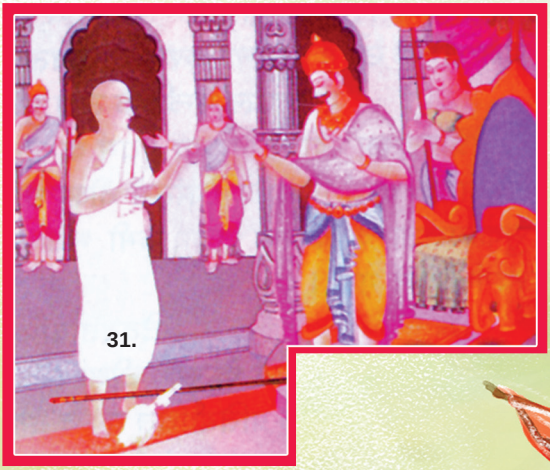

(31) पुंडरीक मुनि
पृष्ठ नं. 193

पापात्माओं के पापों का प्रक्षालन कर उन्हें प्रभु महावीर के त्यागमार्ग का पथिक व रसिक बना दिया था ।

एक दिन नंदिषेण मुनि 9 व्यक्तियों को प्रतिबोध कर चुके थे, परंतु 10वाँ व्यक्ति अनेक युक्तियाँ बतलाने पर भी प्रतिबोध नहीं पा रहा था ।

मध्याह्न का समय हो चुका था । वेश्या नंदिषेण को दो बार भोजन के लिए आमंत्रण दे चुकी थी । गर्मागर्म भोजन तैयार था, किंतु अभी नंदिषेण 10वें व्यक्ति को प्रतिबोध देने में लगे हुए थे । 10वाँ व्यक्ति किसी भी प्रकार से प्रतिबोध नहीं पा रहा था ।

आखिर वेश्या को भी कंटाला आ गया और उसने नंदिषेण को कह दिया, **``दसवें आप ही सही ।''**

वेश्या के इन शब्दों को सुनते ही नंदिषेण की सुषुप्त आत्मा जागृत हो गई । नंदिषेण सोचने लगे, ``अहो ! आज मेरी संगिनी ने मुझे ठीक जगाया । आज तक मैं अन्य को जगाता था, किंतु मैं सोया हुआ था...अहो ! इसने मेरी सुषुप्त चेतना को जागृत कर मेरे ऊपर महान् उपकार किया है । आज तक मेरी स्थिति **'दीए तले अँधेरे'** जैसी थी । दीपक सबको प्रकाश देता है, किंतु उसके तल-भाग में तो अंधेरा ही होता है ।''

बस, इस प्रकार त्यागपथ पर जाने का पुनः दृढ़ निर्धारण कर नंदिषेण तत्क्षण खड़े हो गए और अंदर आकर वेश्या से बोले, ``आज 10वाँ मैं ही हूँ...अब मैं चलता हूँ ।'' इस प्रकार कहकर वे भोगी के वस्त्रों को उतारकर पुनः साधु का वेष धारण करने लगे ।

वेश्या यह दृश्य देखकर स्तब्ध हो गई । उसे यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि 12 वर्षों से मेरे जीवन-साथी बने नंदिषेण मुझे एक ही क्षण में छोड़कर इस प्रकार त्याग के पथ पर चले जाएंगे ।

अब तक नंदिषेण मुनि के भोगावली कर्म भी क्षीण हो चुके थे...साधु वेष का परिधान कर पुनः वे प्रभु महावीर के चरणों में जा पहुँचे ।...और पुनः आत्मशुद्धिपूर्वक चारित्र धर्म को निरतिचार पालन कर ऊर्ध्वगामी बने ।

28. वैयावच्ची-नंदिषेण

❑ ***वैयावच्च एक अप्रतिपाती गुण है ।***
ज्ञान, ध्यान, तप आदि अन्य योग सरल हैं,
परंतु
वैयावच्च की साधना सबसे कठिन है ।

❑ नंदिषेण मुनि ने वैयावच्च गुण को अपने जीवन में
इस प्रकार आत्मसात् किया था कि
जिसके फलस्वरूप
दैविक-परीक्षा में भी वे
पूर्ण उत्तीर्ण हुए थे
और
इतिहास के स्वर्णिम-पृष्ठों पर
सुप्रसिद्ध बने थे ।

28. वैयावच्ची नंदिषेणमुनि

वैयावृत्यं वितन्वानः साधूनां वरभावतः ।
बध्नाति तनुमान् नन्दिषेणवत् कर्म सुन्दरम् ।।

वसुदेव का रूप अत्यन्त अद्‌भुत था । इसका कारण उन्होंने पूर्व भव में निदान किया था ।

पूर्वभव में वसुदेव का नाम नन्दिषेण था । जन्म के साथ ही नन्दिषेण के माता-पिता मर चुके थे । वह अत्यन्त ही कुरूप था । उसके मामा ने उसे पाल-पोस कर बड़ा किया । धीरे-धीरे नन्दिषेण ने यौवन में प्रवेश किया । उसके मामा ने उसे आश्वासन दिया कि वह अपनी किसी कन्या का लग्न उसके साथ करा देगा । कुछ समय बाद उसके मामा ने अपनी पुत्री से नन्दिषेण के साथ लग्न करने की बात की तो रोषायमान बनी उसकी पुत्री ने कहा, ``आप मेरा उसके साथ लग्न करायेंगे तो मैं आत्महत्या करके मर जाऊंगी ।''

नन्दिषेण को इस बात का पता चला, वह अपने भाग्य को कोसने लगा...और आत्महत्या के लिए पर्वत के शिखरभाग पर चढ़ गया, तभी पास ही कायोत्सर्ग ध्यान में रहे मुनि ने उसे आत्महत्या से बचाया और सद्धर्म का उपदेश दिया ।

मुनिवचनों से प्रतिबोध पाकर नन्दिषेण ने दीक्षा स्वीकार की । दीक्षा स्वीकार करने के बाद नन्दिषेण मुनि उग्र कोटि का तप करने लगे...और धीरे-धीरे अपने सेवाभाव गुण के कारण **'वैयावच्ची नन्दिषेण'** के रूप में जगत् में प्रसिद्ध हो गए ।

एक बार इन्द्र महाराजा ने नन्दिषेण मुनि के वैयावच्च गुण की प्रशंसा की । इन्द्र के मुख से नन्दिषेण मुनि की प्रशंसा सुनकर दो देवों के मन में नन्दिषेण मुनि की परीक्षा करने की भावना जागी ।

एक देव ने उद्यान में जाकर ग्लान मुनि का वेष किया और दूसरे ने स्वस्थ साधु का वेष किया । नन्दिषेण मुनि छट्ठ के पारणे, नगर में से गोचरी बहोरकर वापरने की तैयारी कर रहे थे, तभी आगन्तुक (देव) साधु ने आकर कहा-``अरे ! आपको गोचरी वापरते हुए शर्म नहीं आती है ? इधर उद्यान में ग्लान मुनि पीड़ा से कराह रहे हैं...और आप मस्ती से गोचरी करने बैठे हो, सेवा तो कुछ करनी नहीं है...और वैयावच्ची का खिताब लेकर घूमना है ।''

आगन्तुक मुनि की बात सुनकर नन्दिषेण मुनि ने तुरन्त ही गोचरी वापरना बन्द कर दिया और अत्यन्त नम्रता से बोले-``मुनिवर ! मुझे क्षमा करें...चलो, मैं साथ चलता हूँ, कहाँ हैं वे ग्लान मुनिवर ?''

मुनि ने कहा-``वे तो उद्यान में हैं और विसूचिका की बीमारी से ग्रस्त हैं ।''

नन्दिषेण ने कहा-``अच्छा ! तो मैं नगर से पानी बहोर कर ले आता हूँ ।''

नन्दिषेण मुनि पानी बहोरने के लिए गए, परन्तु उस देव ने अपने मायाजाल से सर्वत्र शुद्ध जल को अशुद्ध बना दिया । बड़ी कठिनाई से काफी समय के बाद नन्दिषेण मुनि पानी लेकर आए ।

तभी देव मुनि ने कहा-``अहो ! पानी लाने में इतनी देर ! चलो, अब जल्दी उद्यान में चलें ।''

नन्दिषेण मुनि, उस मुनि के साथ उद्यान में पहुँचे और ग्लान मुनि की सेवा शुश्रूषा करने लगे ।

नन्दिषेण मुनि ने कहा-``इन्हें गाँव में ले जाया जाय तो योग्य औषधोपचार सरलता से हो सकेगा ।''

साथी मुनि ने कहा-``इनकी चलने की तो शक्ति नहीं है और गाँव में ले जाने की बात करते हो ?''

नन्दिषेण मुनि ने कहा-``मैं इन्हें अपने कंधों पर उठा लेता हूँ ।''

बस, उस देव मुनि ने हाँ भर दी । नन्दिषेण ने ग्लान मुनि को अपने कन्धों पर उठाया और वे गाँव की ओर चलने लगे ।

बीच मार्ग में उस ग्लान मुनि ने शौच कर नन्दिषेण मुनि के शरीर को बिगाड़ दिया । फिर भी नन्दिषेण मुनि लेश भी घृणा किये बिना आगे बढ़ने लगे । बीच मार्ग में ग्लान मुनि उन्हें बार-बार टोकने लगे । फिर भी अत्यन्त समता की मूर्ति नन्दिषेण के मन में, ग्लान मुनि के प्रति लेश भी दुर्भाव पैदा नहीं हुआ और वे उनकी कुशलता की चिन्ता करने लगे ।

नन्दिषेण मुनि के अद्‌भुत सेवागुण को देखकर दोनों मुनियों ने अपना मूल रूप प्रगट किया । नन्दिषेण मुनि की भावपूर्वक स्तुति करके वे देव अपने स्थान पर चले गए ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा । नन्दिषेण मुनि मृत्युशय्या पर लेटे हुए थे । उनके मन में अत्यन्त ही समाधि थी...परन्तु अन्तिम समय में अचानक उन्हें अपने बचपन की याद आ गई । **``अहो ! मेरी कुरूप अवस्था के कारण मुझे कोई नहीं चाहता था तो अब इस धर्म के प्रभाव से आगामी जन्म में मैं स्त्री वल्लभ बनूँ ।''** बस, इसी निदान के कारण वे वसुदेव (कृष्ण के पिता) बने । और उस भव में वे 72000 स्त्रियों के पति बने ।

29. कृतपुण्य शेठ (कयवन्ना शेठ)

दानादिकं वृषं कुर्वन् शश्वत् भव्यजनः स्फुटम् ।
कृतपुण्य इवाप्नोति, परत्रेह सुखश्रियम् ।।

मगधदेश !

राजगृही नगरी !

श्रेणिक महाराजा न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे । उसी नगरी में अमाप संपत्ति का मालिक **धनेश्वर** नाम का शेठ रहता था । उस शेठ के शीलव्रत से अलंकृत **सुभद्रा** नाम की पत्नी थी ।

धर्म-आराधना में काफी समय बीतने के बाद एक शुभ दिन धनेश्वर शेठ और सुभद्रा शेठानी को एक तेजस्वी पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई । शेठ के आनंद का पार न रहा । शेठ ने खूब उत्साह-उल्लास के साथ पुत्रजन्म का महोत्सव मनाया ! कुछ समय बाद **'कृतपुण्य'** इस प्रकार बालक का नामकरण किया गया । धीरे-धीरे बालक बड़ा होने लगा । वह बालक सभी कलाओं में निपुण बना ।

यौवन वय प्राप्त होने पर **श्रीद** श्रेष्ठी की **धन्या** नाम की पुत्री के साथ कृतपुण्य का पाणिग्रहण हुआ ।

लग्नजीवन को स्वीकार करने पर भी कृतपुण्य का सांसारिक विषय-सुखों में कोई आकर्षण नहीं था । उसे साधु-पुरुषों का सत्संग खूब पसंद था । कृतपुण्य के विरक्त जीवन को देख माता-पिता को चिंता सताने लगी, **''यदि इसने दीक्षा अंगीकार करली तो हमारी क्या दशा होगी ?''**

इस प्रकार विचार कर माता-पिता ने ही कृतपुण्य को **अनंगसेना** नाम की वेश्या के वहाँ रखने का विचार किया । उसके संग से कृतपुण्य के जीवन

में भी बदलाव आने लगा । वेश्या के संग से उसकी विचारधारा ही बदल गई । त्याग के बदले वह भी भोगों का उपासक बन गया ।

कृतपुण्य के माता-पिता भी कृतपुण्य के भोग के लिए अनंगसेना वेश्या को धन-संपत्ति भेजते रहते थे । इस प्रकार अनंगसेना वेश्या के वहाँ रहते हुए कृतपुण्य के 12 साल बीत गये । वेश्या में आसक्त बना कृतपुण्य अपने माता-पिता को भी भूल गया ।

समय बीतने पर कृतपुण्य के माता-पिता का भी स्वर्गवास हो गया ।

बारह वर्ष तक वेश्या के यहाँ निवास करने के कारण कृतपुण्य के माता-पिता की सारी संपत्ति भी समाप्त हो गई थी ।

एक बार अनंगसेना वेश्या ने धन लाने के लिए अपनी दासी कृतपुण्य के घर पर भेजी । वह दासी कृतपुण्य के घर गई । दासी ने जाकर कृतपुण्य की पत्नी धन्या को कहा, ``तुम्हारे पति ने तुम्हारी कुशलता पुछवाई है और धन लाने के लिए मुझे भेजा है ।''

धन्या ने कहा, ``पति की कुशलता को जानकर मैं प्रसन्न हूँ । पति की आज्ञा को मैं शिरोधार्य करती हूँ । परंतु मैं क्या करूँ ? मेरे दुर्भाग्य से मेरे सास-श्वसुर का स्वर्गवास हो चुका है । पुत्रस्नेह से धन भेजते-भेजते हमारी हालत अब बहुत ही खराब हो चुकी है । अब भेजने के लिए कुछ भी धन बचा नहीं है । फिर भी मेरे पिता के द्वारा दिया गया एक आभूषण बचा है । वह तुम ले जाकर मेरे पति को खुश करना ।''

वेश्या की वह दासी उस आभूषण को लेकर अनंगसेना के पास गई ।

उसी दासी ने कृतपुण्य के घर की स्थिति का सारा वर्णन किया, जिसे जानकर अनंगसेना ने दासी को कहा, ``अब किसी भी उपाय से कृतपुण्य को यहाँ से निकाल देना चाहिए ।''

वेश्या के आदेश से वह दासी कृतपुण्य के सामने धूल आदि फेंकने लगी ।

कृतपुण्य ने धूल फेंकने का कारण पूछा । दासी ने कहा-``वेश्या का यही तो व्यवसाय है, जब तक कामुक की ओर से धन मिलता है, तभी तक वह उसे अपने पास रखती है ।''

दासी की इन बातों को सुनकर कृतपुण्य ने सोचा, **'मन, वचन और**

काया के व्यवहार में जिसकी समानता नहीं है ऐसी वेश्या किसी के सुख के लिए कैसे हो सकती है ?'

धन की इच्छा से जो कोढ़ी को भी कामदेव के समान मानती है और जो कृत्रिम स्नेह बताती है ऐसी वेश्या का त्याग करना ही हितकारी है ।

मांसाहार, मदिरापान करनेवाली तथा अनेक पुरुषों के मुख का चुंबन करनेवाली वेश्या का कौन समझदार प्राणी चुंबन करेगा ?

आखिर तिरस्कृत बने कृतपुण्य ने वेश्या का घर छोड़ दिया । कृतपुण्य अपने घर की ओर आगे बढ़ा । कृतपुण्य ने अपने घर की दुर्दशा देखी, उसके दुःख का पार न रहा ।

वर्षों बाद धन्या ने अपने घर आए पति को देखा । उसके हर्ष का पार न रहा । उसने अपने पति का भावभीना सत्कार किया । धन्या ने भोजन-सामग्री तैयार की और आदरपूर्वक पति को भोजन कराया ।

स्नानादि से निवृत्त होकर जिनेश्वर भगवंत की पूजा-भक्ति कर कृतपुण्य ने भोजन किया ।

धन्या ने अपने घर की सारी स्थिति का वर्णन कृतपुण्य को किया ।

कृतपुण्य को अपनी भूल का खूब पश्चात्ताप हुआ । उसने सोचा, ``अहो ! मैं कितना दुर्भागी हूँ ? मैं अपने माता-पिता को भी सुख न दे सका ।''

``माता-पिता को शोक-संताप देनेवाले अनेक पुत्रों से भी क्या फायदा ? कुल के लिए आलंबन बननेवाला एक पुत्र भी श्रेष्ठ है ।

``जिस प्रकार इक्षु व केले के वृक्ष पर फल लगते हैं और उसी समय वृक्ष का नाश होता है, उसी प्रकार दुष्पुत्र से भी कुल का ही नाश होता है ।''

कृतपुण्य ने कहा- ``अहो ! मैंने पिता के द्वारा संचित धन का भी नाश कर दिया, मेरे जैसे पुत्र को धिक्कार हो ।''

कृतपुण्य की इन बातों को सुनकर उसकी पत्नी ने कहा, ``हे स्वामिन् ! जो बीत चुका, उसकी आप चिंता न करो । हर व्यक्ति का भविष्य निश्चित होता है, अतः आप निरर्थक चिंता न करें ।

''बुद्धिमान पुरुष वो ही कहलाता है जो भूतकाल का शोक नहीं करता है और भविष्य की चिंता नहीं करता है । जहाँ कर्म की ही प्रधानता है, वहाँ शुभग्रह भी क्या कर सकते हैं ?''

पत्नी के इन मधुर वचनों को सुनकर कृतपुण्य को खूब आश्वासन मिला । धीरे-धीरे समय बीतने लगा और एक दिन धन्या गर्भवती बनी !

कृतपुण्य ने अपने दिल की बात करते हुए अपनी पत्नी को कहा- ``मेरे जैसा कोई पापी नहीं है, मेरे होते हुए भी माता-पिता दुःखी होकर मरण की शरण हो गए । मैंने अपना सारा धन भी गँवा दिया । धन के अभाव में अब व्यापार करना भी शक्य नहीं है ।''

``बीज के अभाव में खेती संभव नहीं है, उसी प्रकार मूल धन के अभाव में नया व्यापार शक्य नहीं है ।''

पति की इन दर्दभरी बातों को सुनकर पत्नी ने कहा, ``मेरे पास एक हजार दीनारें हैं, आप उन्हें ग्रहण करें और योग्य व्यापार करें ।''

पत्नी की सलाह से कृतपुण्य ने व्यापार हेतु विदेश जाने का निश्चय किया । उसी दिन उस नगर में एक समृद्ध सार्थवाह आया हुआ था, कृतपुण्य ने उस सार्थ के साथ जाने का निश्चय किया ।

2.

इधर उसी नगर में धनदेव नाम का व्यापारी रहता था । उसकी पत्नी का नाम **रूपवती** था और उनके **जिनदत्त** नाम का पुत्र था । चार श्रेष्ठी-पुत्रियों के साथ में जिनदत्त का पाणिग्रहण हुआ था । धनदेव की मृत्यु हो चुकी थी, उससे अचानक जिनदत्त का भी स्वास्थ्य खराब हो गया और अचानक उसकी भी मृत्यु हो गई ।

अपने पुत्र जिनदत्त की मृत्यु के बाद रूपवती ने सोचा, `मेरे पति की तो मृत्यु हो चुकी है, अब यदि मेरे पुत्र की भी मृत्यु की बात का पता राजा को चलेगा तो वह हमारा सारा धन ले लेगा ।' इस प्रकार विचार कर रूपवती ने अपनी पुत्रवधुओं को कहा, ``यदि तुम्हारे पति की मृत्यु की बात का पता राजा को लगेगा तो वह अपना सारा धन हड़प लेगा, अतः तुम्हें रुदन नहीं करना है । गुप्त रूप से पति के शव को जमीन में गाड़ देना होगा । अन्य पति के संग द्वारा जब तक तुम्हें पुत्र पैदा न हो, तब तक इस बात को गुप्त ही रखना होगा ।''

अपने भावी हित का विचार कर चारों पुत्रवधुओं ने सास की बात स्वीकार कर ली । इधर कृतपुण्य व्यापार के उद्देश्य से विदेश जाने की भावना से नगर के बाहर देवकुल में रात्रिविश्राम के लिए आया हुआ था ।

योगानुयोग रूपवती की चारों पुत्रवधुएँ रात्रि में उसी देवकुल में आईं ।

रूपवती की आज्ञा से रात्रि में सोए हुए कृतपुण्य को पलंग सहित उठा लिया गया और उसे रूपवती अपने घर ले आई ।

प्रातःकाल होने पर जैसे ही कृतपुण्य नींद में से जागृत हुआ-

रूपवती ने उसे स्नेह से पुकारते हुए कहा, ``हे वत्स ! तू अपनी माता को छोड़ इतने दिन कहाँ चला गया था ? मैं तेरी माता हूँ । तेरे जन्म के साथ ही किसी पापी ने तेरा अपहरण कर लिया था ।''

इतना कहकर वह रूपवती बोली ``तुम्हारे बड़े भाई की मृत्यु हो चुकी है, अतः इस सारी संपत्ति का तू ही मालिक है । अब तुझे यहीं रहना है कहीं भी जाना नहीं है । ये सभी पुत्रवधुएँ तुम्हारी हैं ।''

रूपवती की इन बातों को सुनकर कृतपुण्य ने सोचा- ``क्या मैं कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ । अथवा मेरे भाग्य से ही यह सारी संपत्ति प्राप्त हुई है तो क्यों न उसका उपभोग करूँ ?'' इस प्रकार विचारकर कृतपुण्य ने कहा, ``हे माताजी ! मैं सब कुछ भूल गया था । पुण्यकर्म के उदय से अब मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूँ । अब मैं कहीं नहीं जाऊंगा । हे माताजी ! यहाँ रहते हुए मैं तुम्हारी सब आज्ञाओं का पालन करूंगा ।''

उन चार पुत्रवधुओं के साथ दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए उसने बारह वर्ष व्यतीत किये । इन वर्षों में उन पुत्रवधुओं को 1-1 पुत्र की प्राप्ति हुई ।

संसार स्वार्थ से भरा हुआ है, जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, तब तक संबंध रखा जाता है । स्वार्थ पूरा होने के साथ निकट के व्यक्ति को भी भुला दिया जाता है ।

रूपवती की पुत्रवधुओं को कृतपुण्य से 1-1 पुत्र प्राप्त हो चुका था ।

धन का वारिस प्राप्त हो चुका था, अब रूपवती ने सोचा, ``इस कृतपुण्य की क्या जरूरत है ?'' इस प्रकार सोचकर रूपवती ने अपनी पुत्र-वधुओं को कहा, ``इस कृतपुण्य को जिस देवगृह में से उठाकर लाए थे, वापस उसे उसी जगह पलंग सहित छोड़ दिया जाय ।''

सास की बात पुत्रवधुओं को पसंद नहीं पड़ी । उनके हृदय में तो कृतपुण्य के प्रति उतना ही प्रेम था । परंतु सास के आगे कुछ भी बोलने की उनमें हिम्मत नहीं थी, अतः सास की आज्ञा को शिरोधार्य किए बिना छुटकारा नहीं था ।

पुत्रवधुओं ने सास को विनती करते हुए कहा, ``हे माताजी ! अपने यहाँ आए हुए मेहमान को खाली हाथ विदाई देना उचित नहीं है, अतः आपकी सहमति हो तो उन्हें भाता दिया जाय !''

सास ने कहा, ``जैसी तुम्हारी इच्छा !''

कृतपुण्य के प्रति गाढ़ राग होने से उन पुत्रवधुओं ने कृतपुण्य को आर्थिक मदद करने के ध्येय से कुछ मोदक तैयार कराए और उन मोदकों के अंदर ही अमूल्य मणिरत्न छिपा दिये ।

जिस समय रात्रि में कृतपुण्य पलंग पर आराम से निद्राधीन बना हुआ था, उसी रात्रि में पलंग सहित कृतपुण्य को उठाकर देवमंदिर में छोड़ दिया गया । चारों पुत्रवधुएँ भी अपने पति को छोड़ने के लिए वहाँ आई थीं । पलंग के पास ही मोदक की थैली छोड़कर विरह-वेदना का अनुभव करती हुई वे अपने भवन में लौट आईं ।

卐 卐 卐 卐 卐 卐

12 वर्ष पूर्व जो सार्थ व्यापार के लिए विदेश जा रहा था, वह सार्थ योगानुयोग उसी दिन उस नगर में आ गया । सार्थवाह ने पहले के स्थान पर ही अपने डेरे तंबू डाले थे ।

सार्थ के आगमन को सुनकर कृतपुण्य की पहली पत्नी धन्या ने सोचा, `इस सार्थ के साथ मेरा पति भी आया होगा ।' इस प्रकार विचारकर वह अपने पति को लेने के लिए उसी यक्ष मंदिर में गई । वहाँ पर उसका पति उसी पलंग पर सोया हुआ था ।

प्रातःकाल होने पर कृतपुण्य जाग्रत हुआ और उसने अपनी आँखों के सामने अपनी पत्नी धन्या को देखा । एक-दूसरे के मिलन से दोनों खुश हो गए । धन्या अपने पति को अपने घर ले आई ।

धन्या ने कहा, ``आप क्या कमाकर लाए हो ?''

कृतपुण्य ने कहा- पूर्व के पापोदय के कारण मैंने कुछ भी नहीं कमाया है ।

धन्या ने बहुमानपूर्वक अपने पति को भोजन कराया । उसने पति के आगे पुत्र-उत्पत्ति की बात की ।

लज्जा के कारण कृतपुण्य ने कुछ भी अन्य बातें नहीं कीं ।

कृतपुण्य और धन्या का ग्यारह वर्ष का पुत्र शाला से घर आकर माँ को कहने लगा ``मुझे खूब भूख लगी है, मुझे कुछ खाने को दो ।''

उसी समय कृतपुण्य के साथ भाते में आए चार लड्डुओं में से एक लड्डू माँ ने अपने बेटे को खाने के लिए दे दिया ।

घर के बाहर दूर जाकर वह बच्चा लड्डू खाने लगा । लड्डू को तोड़ने पर उसमें से एक मणि निकला । उसने मणि को अपनी जेब में डाला और लड्डू खा गया ।

वह बालक उस मणि को लेकर कंदोई की दुकान पर गया । उसने कंदोई को मणि देकर कुछ मिठाई खरीद ली ।

कंदोई ने वह मणि पानी में डाला तो वह पानी दो भागों में बँट गया ।

कंदोई ने सोचा, `अहो ! यह तो अत्यंत ही मूल्यवान जलकांत मणि है ।' उसने उस मणि को अपने घर में छिपा दिया ।

इधर श्रेणिक महाराजा का पट्टहस्ती जलपान के लिए किसी सरोवर में गया, उसी समय किसी जलचर प्राणी ने उस हाथी को पकड़ लिया ।

अनेक-अनेक उपाय करने पर भी महावत उस हाथी को जल में से बाहर नहीं निकाल पाया । आखिर श्रेणिक महाराजा ने अभयकुमार से बात की ।

अभयकुमार ने सोचा, ``किसी के पास जलकांत मणि हो तो उस हाथी को बचाया जा सकता है ।''

जलकांत मणि की शोध के लिए अभयकुमार ने नगर में ढिंढोरा पिटवाया, ``यदि कोई जलकांत मणि देगा तो राजा उसे आधा राज्य और अपनी पुत्री प्रदान करेगा ।''

उस कंदोई ने जब यह पटह सुना तो वह खुश हो गया ।

कंदोई ने राजा का वह पटह स्वीकार किया । राजपुरुष कंदोई को राजा के पास ले गए । कंदोई ने वह जलकांत मणि राजा को प्रदान किया । राजा अपने परिवारजनों के साथ उस सरोवर के पास आया । जलकांतमणि के प्रभाव से सेचनक हाथी जलचर-प्राणी के बंधन से मुक्त हो गया ! सेचनक हाथी पर आरूढ़ होकर राजा ने नगर में प्रवेश किया ।

राजा ने उस कंदोई का सम्मान किया । उसके बाद राजा ने अभयकुमार को एकांत में कहा- ``इस कंदोई को अपनी राजपुत्री मनोरमा कैसे दी जाय ?''

अभयकुमार ने कहा, ``आप खेद न करें । इस रत्न का जो सच्चा मालिक होगा, उसका मैं पता लगाऊंगा । ऐसा बहुमूल्य रत्न कंदोई के घर नहीं हो सकता है ।

``चक्रवर्ती का रत्न चक्रवर्ती के घर में ही हो सकता है, अन्य किसी के घर में नहीं । उसी प्रकार ऐसा जलकांत मणि भी पुण्यशाली को छोड़ अन्य के घर में कैसे रह सकता है ।''

सत्य की शोध के लिए अभयकुमार ने उस कंदोई को बुलाया । अभयकुमार ने उसका सम्मान किया, फिर पूछा ``यह रत्न तुझे कहाँ से मिला है ?''

उसने कहा, ``यह तो मेरे घर में था ।''

मंत्री अभयकुमार की आज्ञा से उसे कठोर सजा की गई । मंत्री ने पुनः पूछा, ``सच कहो, यह रत्न कहाँ से आया ?''

मौत के भय से कंदोई ने रत्नप्राप्ति का सारा वृत्तांत मंत्री को कह दिया ।

सत्य का पता चलने पर राजा ने अपनी पुत्री मनोरमा का पाणिग्रहण कृतपुण्य के साथ कराया और उसे आधा राज्य भी प्रदान किया । उस कंदोई को भी कंदोई कुल में उत्पन्न कोई कन्या दे दी गई ।

एक बार कृतपुण्य ने अभयकुमार को कहा, ``इसी नगर में चार पुत्रों सहित चार पत्नियाँ हैं, परंतु उनके घर का मुझे पता नहीं है ।''

अभयकुमार ने कहा, ``तुम जिस घर में बारह साल रहे, उस घर का भी तुम्हें पता नहीं है । अहो ! कैसी तुम्हारी चतुराई है ?''

कृतपुण्य ने कहा, ``मैं पलंग पर सोया हुआ था, तभी मुझे उठाकर ले जाया गया और बारह साल के बाद पलंग पर सोई हुई स्थिति में ही यहाँ लाकर मुझे छोड़ दिया गया, अतः मेरे उस घर का मुझे पता नहीं है ।''

अभयकुमार ने कहा, ``तुम्हारी पत्नियाँ और तुम्हारे पुत्र तुम्हें पहिचानते हैं ?''

कृतपुण्य ने कहा, ``वे मुझे अच्छी तरह से पहिचानते हैं ।''

अभयकुमार ने कहा, ``मैं युक्ति द्वारा उनका पता लगा दूंगा ।''

अभयकुमार ने दो द्वारवाला एक महल बनवाया, जिसके एक द्वार से महल में प्रवेश होता है और दूसरे द्वार से उसमें से बाहर निकल सकते हैं ।

अभयकुमार ने उस महल के भीतर कृतपुण्य के देह व रूपरंग तुल्य एक यक्ष प्रतिमा बनवाई और उसे योग्य जगह में स्थापित की ।

उसके बाद अभयकुमार ने नगर में घोषणा कराई **``पुत्रोंवाली जो-जो स्त्री पाँच-पाँच मोदक के साथ इस महल में प्रवेश कर यक्ष की पूजा कर दूसरे द्वार से बाहर निकलेगी, उसके कुल की वृद्धि होगी, अन्यथा उस कुल का नाश हो सकता है, अतः पुत्रवाली सभी स्त्रियाँ आगामी चतुर्दशी के दिन अवश्य आ जाएँ ।''**

अभयकुमार की आज्ञा होते ही चतुर्दशी के दिन नगर की सभी बालवत्सा स्त्रियाँ उस महल में आने लगीं और यक्ष की पूजा करने लगीं ।

इस बीच कृतपुण्य की वे चारों स्त्रियाँ भी अपने पुत्रों के साथ वहाँ आईं । जैसे ही उन पुत्रों ने अपने पिता कृतपुण्य की आकृति देखी, वे बालक ``पिताजी ! पिताजी !'' कहकर बोलने लगे ।

उसी समय वहाँ पर छिपकर रहे हुए कृतपुण्य ने अभयकुमार को अपनी चारों पत्नियों और पुत्रों का संकेत किया । अभयकुमार ने उनका पता शोध लिया ।

अभयकुमार ने उन पुत्रों व पुत्रवधुओं का कृतपुण्य के साथ पुनः संबंध करा दिया । कृतपुण्य के कुल छह पत्नियाँ हो चुकी थीं । अनंगसेना वेश्या ने भी कृतपुण्य को पति के रूप में स्वीकार किया । इस प्रकार कृतपुण्य 7 स्त्रियों के साथ सांसारिक भोग-सुखों का अनुभव करने लगा ।

एक बार महावीर प्रभु पृथ्वीतल को पावन करते हुए वैभारगिरि पर पधारे । कृतपुण्य भी प्रभुवीर की देशना सुनने के लिए अपने परिवार सहित वैभारगिरि पर आया और उसने वहाँ एकाग्र चित्त से प्रभु की धर्मदेशना सुनी ।

देशना के अंत में कृतपुण्य ने हाथ जोड़कर वीर प्रभु को कहा, **``हे प्रभो ! किस कर्म के उदय से मुझे अंतर-अंतर से इस जीवन में संपत्ति प्राप्त हुई ?''**

प्रभु ने कहा, **``पूर्व भव में तू श्रीपुरनगर में गोवाल का पुत्र था ।''** तुम्हारी माँ की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी ।

एक बार किसी उत्सव प्रसंग में घर-घर में खीर के भोजन को देखकर उस गोवाल पुत्र ने अपने घर आकर माँ के पास खीर की मांग की ।

माँ ने कहा, **``बेटा ! घर में खाने की कोई सामग्री नहीं है तो मैं तेरे को खीर कहाँ से खिलाऊँ ?''**

अपने बेटे की दयनीय स्थिति को देखकर बेटे के साथ वह माँ भी रोने लगी । उसको रोती हुई देखकर उसकी पड़ोसी स्त्रियों ने उसे चावल, दूध और शक्कर की मदद की । उन वस्तुओं को प्राप्त कर उसने खीर बनाई । खीर तैयार कर वह पड़ोसी के घर चली गई । घर में वह अकेला बालक ही था । उसी समय मास क्षमण के दो तपस्वी महात्मा उसके घर पधारे । उस समय उस बालक ने उन कृश अंगवाले महात्मा को खूब भावपूर्वक गोचरी वहोरने के लिए विनती की । खीर का एक भाग महात्मा को बहोराकर पुनः उसने सोचा, **''इतनीसी खीर से इनका क्या होगा ?''** इस प्रकार विचार कर उसने पुनः थोड़ी खीर बहोराई, फिर वापस विचारकर तीसरी बार खीर वहोराई ।

इस प्रकार उसने महात्मा को तीन बार टुकड़े-टुकड़े में खीर बहोराई ।

महात्मा के चले जाने के बाद माँ घर में आई और उसने अपने बेटे को खाने के लिए शेष खीर प्रदान की ।

प्रभु ने कहा, **''वह बालक ही मरकर तुम कृतपुण्य शेठ बने हो । महात्मा को थोड़े-थोड़े अंतर से खीर वहोराने के कारण तुम्हें थोड़े-थोड़े अंतर में समृद्धि की प्राप्ति हुई ।''**

अपने पूर्वभव को जानने से कृतपुण्य को इस विषम संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव पैदा हुआ ।

अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर की सारी जवाबदारी सौंपकर और सात क्षेत्रों में धन का सद्व्यय कर कृतपुण्य ने प्रभु के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

निर्मल चारित्र धर्म का पालन कर कृतपुण्य मुनि ने देव भव को प्राप्त किया । देवभव के आयुष्य को पूर्णकर वे मोक्ष प्राप्त करेंगे ।

30. क्षमामूर्ति सुकोशल मुनि

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद
सिर्फ अन्तर्मुहूर्त में ही
अजरामर मोक्षपद प्राप्त करनेवाले
अंतकृत केवली कहलाते हैं ।

इस भव की माता ही मरकर
व्याघ्री बनी और उसने
अपने ही पुत्र मुनि के ऊपर
मरणांत उपसर्ग किया !

भयंकर उपसर्ग में भी
समता और समाधि भाव के
अपूर्व साधक सुकोशल मुनि ने
केवलज्ञान प्राप्त किया और
चंद क्षणों में ही अपने
आयुष्य को पूर्णकर
शाश्वत-अजरामर-मोक्ष पद के
भोक्ता बन गए ।

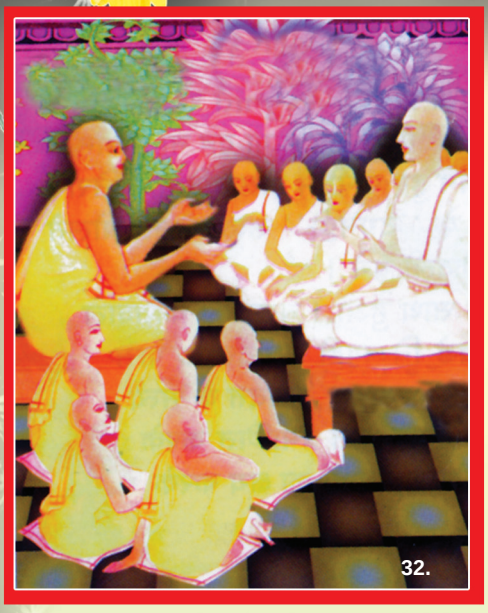

(32) केशी गणधर-
पृष्ठ नं. 198

(33-34) सुदर्शन शेठ-
पृष्ठ नं. 211

सुदर्शन शेठ की सज्झाय

शीळरतन जतने धरो रे लोल, जेहथी सहु सुख थाय रे. सलुणा,
शेठ सुदर्शननी परे रे लो, संकट सहु मीट जाय रे. स० १
अंगदेश चंपापुरी रे लो, दधिवाहन भूपाळ रे, स०
अभया प्रमुख अंतेउरी रे लो, सुंदर लहे सुकुमार रे स० २
शेठ सुदर्शन तिहां वसे रे लो, नारी मनोरमा कंत रे स०
काम समो रूपे करी रे लो, व्रतधारी गुणवंत रे स० ३
अभयाराणी अेकदा रे लोल, केळवी कूड मंडाण रे स०
काउस्सग्ग करता शेठजी रे लो, अणाव्या निज ठाण रे स०४
उपसर्ग कीधा आकरां रे लोल, पण नवि चूक्या तेह रे स०
आळ अलीक दीयो तीणे रे लोल, नृप नवि सद्दहे अेह रे स० ५
शेठ भणी पूछे इशो रे लो, कहो अे कवण वृत्तांत रे स०
शेठ मुखे बोले नहीं रे लो, रुठ्यो भूप अत्यंत रे स० ६
मारण हुकम कीयो तदा रे लो, कीधी विटंबना भूर रे, स०
तस घरणी काउस्सग्ग रही रे लो, कष्टने करवा दूर रे स० ७
शासन सुरी सानिध्य करी रे लो, प्रगट्यो पुण्य पंडुर रे, स०
शूळी सिंहासन थयुं रे लो, शील प्रभाव सनूर रे स० ८
राजा बहु आदर करी रे लो, पहुंचाव्यो निज गेह रे, स०
सब अपराध खमावीआ रे लो, व्याप्यो सुजस अछेह रे स० ९
अनुक्रमे संयम आदर्यो रे लो, सार्या आतम काम रे, स०
केवल लही मुगते गया रे लो, शेठ सुदर्शन स्वाम रे स० १०
मगध देश पाटलीपुरी रे लो, वांदे श्री मुनि भाण रे, स०
अमृत धर्म संयोगथी रे लो, शिष्य ***क्षमाकल्याण*** रे. स० ११

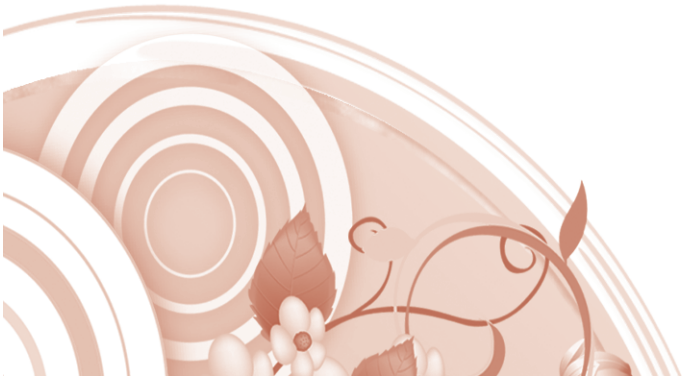

उपसर्गान् कृतान् व्याघ्रसिंहादिभिः शरीरवान् ।
सहमानः शिवं याति, सुकोशलमुनीन्द्रवत् ।।

पुरन्दर अयोध्या के राजा बने । उसने न्याय और नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया । पुरन्दर के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम **कीर्तिधर** रखा गया ।

धीरे-धीरे कीर्तिधर युवा हुआ । पुरन्दर राजा राज्य की प्रवृत्ति से निवृत्त होना चाहते थे । एक शुभ दिन उन्होंने पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं ने संसार से महाभिनिष्क्रमण कर संयम-जीवन स्वीकार लिया ।

कीर्तिधर अयोध्या की राजधुरा को वहन करने लगे । कीर्तिधर महाराजा की महारानी का नाम था **सहदेवी** । कीर्तिधर एक महान् तत्त्वज्ञ पुरुष थे । वे अपने पूर्वजों के महान् आदर्शों को अच्छी तरह से जानते थे ।

एक दिन नगर बाहर उद्यान में किसी महात्मा का आगमन हुआ । कीर्तिधर महाराजा भी गुरुदेव की भवनिर्वेदिनी देशना-श्रवण के लिए उनके सान्निध्य में पहुँच गये ।

संसार की अनित्यता बताने वाली उस देशना का पान कर कीर्तिधर का मन वैराग्य रंग से रंजित हो गया ।

कीर्तिधर महाराजा महल में आये और महारानी से बोले,-``गुरुदेव की वैराग्यप्रद देशना का श्रवण कर मेरा मन संयम ग्रहण करने के लिए उत्सुक बना है । हे देवी! मेरे इस संयम-मार्ग में तू बाधक तो नहीं बनेगी ?''

कीर्तिधर महाराजा की यह बात सुनकर सहदेवी का हृदय काँप उठा ।

कीर्तिधर महाराजा संसार-सुख से विरक्त बन चुके थे । उनके जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में वैराग्य की झलक दिखाई दे रही थी ।

एक दिन महारानी सहदेवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया । परन्तु पुत्र का मोह भी कीर्तिधर को संसार से बाँध न सका । राजकुमार का नाम **सुकोशल** रखा गया ।

एक शुभ दिन बालक सुकोशल का राज्याभिषेक कर दिया गया और कीर्तिधर राजा से राजर्षि बन गये । उन्होंने त्याग के महा-पथ का अनुसरण किया ।

कीर्तिधर की दीक्षा के बाद सहदेवी की जिम्मेदारी बढ़ गई । राज्य का व्यवस्थित संचालन करना और सुकोशल के जीवन का निर्माण करना अब उनके जिम्मे आ पड़ा ।

धीरे-धीरे सुकोशल बड़ा होने लगा ।

सहदेवी के हृदय में सुकोशल के प्रति अत्यन्त गाढ़ राग था, अतः वह उसे संसार के सुखों में लिप्त रखना चाहती थी । उसने कभी कीर्तिधर की दीक्षा की बात अपने पुत्र को नहीं कही ।

सुकोशल ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । एक सुयोग्य राजकुमारी के साथ उसका लग्न हो गया ।

एक दिन राजमाता सहदेवी अपने महल के झरोखे में बैठकर नगर का दृश्य निहार रही थी, उसी समय उसकी दृष्टि दूर-सुदूर नगर-प्रवेश के मार्ग पर पड़ी । उसने देखा, कीर्तिधर मुनि अयोध्या में भिक्षा के लिए आ रहे हैं ।

मुनि के आगमन को देखते ही सहदेवी के मन में अनेक विकल्प पैदा हो गये । वह सोचने लगी, `यदि ये इस नगर में प्रवेश करेंगे और मेरा बेटा सुकोशल इनके पास जाएगा तो अवश्य ही इनके संग से यह भी दीक्षित हो जाएगा...और पुत्र के दीक्षा लेते ही मेरा जीवन शून्य बन जायेगा ।'

अतः तत्क्षण उसने सैनिकों को आदेश दिया कि नगर में जितने भी याचक हैं, उन सबको नगर से बाहर निकाल दो ।

सैनिकों ने राजमाता की आज्ञा शिरोधार्य की और वे नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों की ओर चल पड़े । उन्हें सामने ही कीर्तिधर मुनि दिखाई दिये, परन्तु वे सैनिक उन्हें पहचान नहीं पाये । सैनिकों ने मुनि का अपमान किया और उन्हें नगरत्याग करने की आज्ञा दे दी ।

मुनि तो मान और अपमान में मध्यस्थ ही थे, अतः उनके मन पर इस अपमान का कोई असर नहीं हुआ और वे उसी क्षण नगर से निकल पड़े और नगर बाहर उद्यान में चले गये ।

इधर सुकोशल की धावमाता ने महामुनि के तिरस्कार के दृश्य को देखा । उसे देखते-देखते उसकी आँखों में आँसू आ गये ।

सुकोशल ने धावमाता की आँखें अश्रुपूर्ण देखीं, वह तुरन्त धावमाता के निकट गया और बोला, **'माँ ! तू रो क्यों रही है ?'**

धावमाता ने पिता महामुनि के तिरस्कार व बहिष्कार की बात कही, जिसे सुनकर सुकोशल का हृदय दुःख से भर आया ।

'ओहो ! जीवन में पहली बार पिता महामुनि के दर्शन होने जा रहे थे और उनका इस प्रकार अपमान और तिरस्कार !'

तुरन्त ही सुकोशल राजमहल में से निकल पड़ा और थोड़ी देर बाद वह पिता महामुनि के पास पहुँच गया ।

सुकोशल ने अत्यन्त भावपूर्वक महामुनि को वन्दना की और अत्यन्त रुदन करने लगा ।

महात्मा ने धर्मलाभ कहा और बोले, **''सुकोशल ! तू इतना शोक क्यों कर रहा है ?''**

''आपकी ही नगरी में आपका यह घोर अपमान ! कितना भयंकर अपराध मेरी माँ ने किया है ?''

महामुनि ने कहा, **''सुकोशल ! तत्त्वदृष्टि से तू विचार कर, इस दुनिया में अपनी आत्मा का कोई शत्रु नहीं है । वास्तव में, आत्मा ही आत्मा का शत्रु और मित्र है । आत्मा स्वयं के द्वारा किये हुए कर्मों का ही फल भोगती है ।''**

सुकोशल ने कहा, **''गुरुदेव ! मुझे भी मोक्ष-मार्ग प्रदान करो और मेरा भव से निस्तार करो ।''**

सहदेवी को ज्योंही पता लगा कि सुकोशल नगर बाहर अपने पिता मुनि के पास चला गया है, त्योंही उसका हृदय भय से काँप उठा । वह सुकोशल की पत्नी चित्रमाला के पास पहुँच गई और जाकर बोली-तू जल्दी ही नगर बाहर जा और किसी भी प्रकार से आग्रह कर सुकोशल को वापस अपने घर ले आ ।

चित्रमाला नगर-बाहर गई । सुकोशल को पुनः नगर में पधारने के लिए आग्रह करने लगी ।

सुकोशल ने चित्रमाला को संसार की वास्तविकता समझाई और कहा-तू अभी गर्भवती है, अतः पुत्र-जन्म के बाद उसका राज्याभिषेक करा देना ।

चित्रमाला ने अपने स्वामी की बात स्वीकार कर ली ।

सुकोशल राजा मुनिराज बन गये । सुकोशल की दीक्षा से सहदेवी अत्यन्त दुःखी हो गई । आर्त्तध्यान में मरकर वह जंगल में सियालिनी बनी ।

कीर्तिधर और सुकोशन मुनि त्याग और तप की साधना में निरन्तर आगे बढ़ने लगे ।

चातुर्मास का काल निकट आया । दोनों पिता-पुत्र मुनियों ने पर्वत की गुफा में चातुर्मास पूर्ण किया ।

चातुर्मास की समाप्ति के बाद दोनों मुनि गोचरी के लिए नगर की ओर जा रहे थे ।

इसी बीच उस सियालिनी ने सुकोशल मुनिराज पर आक्रमण किया । सुकोशल मुनि कायोत्सर्ग व आत्मध्यान में लीन बन गये ।

भौतिक देह के नाश के साथ ही कार्मण देह का भी नाश हो गया और वे मोक्ष के वासी बन गये ।

उसके बाद उस सियालिनी ने कीर्तिधर मुनि पर भी आक्रमण किया । कीर्तिधर मुनि भी शुक्लध्यान में आरूढ़ होकर मोक्ष में चले गये ।

31. भावचारित्री पुंडरीक मुनि

❑ **जैनशासन में भावधर्म की**
खूब-खूब महत्ता है ।

वर्षों तक कठोरतम द्रव्यचारित्र का
पालन किया हो परंतु भावशून्य
वह चारित्र भी आत्मा को
दुर्गति से बचा नहीं सकता है ।

❑ ***द्रव्य से संसारी हो परंतु***
मन संयम में रमता हो,
अल्प-काल का ही संयम पाला हो
परंतु परिणाम की धारा वृद्धिंगत हो तो
अल्प काल का चारित्र भी
आत्मा को ऊर्ध्वगामी बना देता है ।

❑ प्रस्तुत है
द्रव्य और भाव-चारित्र की महिमा को स्पष्ट करने वाले
पुंडरीक मुनि का चरित्र !
कंडरीक का 1000 वर्ष का चारित्र भी
भाव के अभाव में उसे नरक में ले गया ।

पुंडरीक का अल्प चारित्र भी
उसे 7 राजलोक ऊपर ले गया ।
अपने हृदय को ढंढोलने वाले
प्रस्तुत चरित्र का अवश्य स्वाध्याय करें ।

पुण्डरीकिणी नगरी में **महापद्म** राजा न्यायपूर्वक राज्य करता था । उसके दो पुत्र थे-**पुंडरीक** और **कंडरीक** । एक बार नगर में आचार्य भगवंत का आगमन हुआ । पूज्य आचार्य भगवंत की भवनिस्तारिणी वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना का श्रवण कर महापद्म राजा के दिल में वैराग्य भाव पैदा हो गया और एक दिन पुंडरीक को राज्य प्रदान कर उसने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली । कुछ ही दिनों के बाद पुंडरीक के दिल में भी संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हो गया और वह भी दीक्षा के लिए उत्सुक बन गया ।

पुंडरीक ने कंडरीक को कहा, ``बंधुवर ! इस संसार के बंधन से मुक्ति पाने के लिए मेरा दिल तड़प रहा है । तुम मुझे इस बंधन से मुक्ति के लिए अनुज्ञा प्रदान करो और इस राज्य को तुम स्वीकार करो ।''

पुंडरीक की बात सुनकर कंडरीक ने कहा, ***''बंधुवर ! आप संसार का त्याग कर दुःखमुक्त बनना चाहते हो तो मुझे इस संसार के कीचड़ में क्यों फँसाते हो ? आप अपना आत्मकल्याण करो और मैं इस संसार में डूबा रहूँ ? राज्य तो नरक की खान है, अतः मुझे राज्य स्वीकार्य नहीं है । मैं भी दीक्षा ग्रहण करूंगा ।''***

पुंडरीक ने कहा, ``बंधुवर ! मुझे इस संसार में रहने की लेश भी इच्छा नहीं है, इसीलिए मैं बंधन-मुक्त बनना चाहता हूँ ।''

``बड़े भैया ! मुझे भी इस संसार-सागर में डूबने की इच्छा नहीं है । राज्य के अधिकारी आप ही हो, अतः आप राज्य का पालन करो और मैं दीक्षा का पालन करूंगा ।''

आखिर कंडरीक के आग्रह को देखकर पुंडरीक ने उन्हें दीक्षा लेने के लिए सहमति दे दी ।

कंडरीक मुनि ने दीक्षा स्वीकार की और दीक्षा स्वीकार करने के बाद उग्रकोटि का तप करने लगे । तप की तीव्र साधना के द्वारा उन्होंने अपनी काया को कृश बना दिया ।

एक दिन पुंडरीक राजा अपने भाई मुनि को वंदन के लिए आया । भाईमुनि की अत्यंत कृश व रोगादियुक्त काया को देखकर उन्होंने गुरुदेव को विनती की, **'कंडरीक मुनि के द्रव्योपचार के लिए उन्हें नगर में भेजें ।'** पुंडरीक की अत्यंत भक्ति देखकर गुरुदेव ने कंडरीक मुनि को जाने की अनुमति दे दी । कंडरीक मुनि विहार करते हुए अपने भाई के राज्य में आए ।

पुंडरीक राजा ने अत्यंत ही भक्तिपूर्वक अपने भाई मुनि की सेवा-शुश्रूषा की सुंदर व्यवस्था की । औषधोपचार और अनुकूल भोजन से कुछ ही दिनों में कंडरीक मुनि का देह स्वस्थ हो गया ।

शरीर स्वस्थ हो जाने के बाद कंडरीक मुनि को स्वादिष्ट व अनुकूल भोजन में ऐसी आसक्ति हो गई कि वे वहाँ से विहार करने का विचार ही भूल गए ।

रसना की आसक्ति व गरिष्ठ भोजन के कारण उनके चारित्र के परिणाम धीरे-धीरे गिरने लगे । एक बार लोकलज्जा से उन्होंने वहाँ से विहार तो किया, परन्तु कुछ ही दिनों के बाद वे पुनः नगर-बाहर उद्यान में आ गए और सोचने लगे, ``अहो ! मैंने यह संयम स्वीकार कर गंभीर भूल की है । मेरा भाई तो राजमहलों में रहकर अनुपम सुख का अनुभव करता है और मैं यहाँ भयंकर दुःखों को सहन कर रहा हूँ, ..अब मुझे इस वेष में नहीं जाना है...अब तो भाई के आने पर उनसे राज्य की ही याचना करूंगा''...ऐसा सोचकर उन्होंने अपना रजोहरण और मुनिवेष वृक्ष की डाल पर रख दिया ।

थोड़ी ही देर बाद उद्यानपाल ने पुंडरीक महाराजा को समाचार दिये कि नगरबाहर उद्यान में कंडरीक मुनि पधारे हैं ।

कंडरीक मुनि के अचानक आगमन से पुंडरीक राजा को अत्यंत ही आश्चर्य हुआ और वह तुरंत ही राजभवन से नगरबाहर उद्यान में आ गया ।

पुंडरीक ने वृक्ष की डाल पर रहे रजोहरण और मुनिवेष को देखा । उसे बड़ा आश्चर्य हुआ ! त्यागी और तपस्वी मेरे भाई के जीवन में यह परिवर्तन कैसे ?

(35) प्रत्येकबुद्ध करकंडु-
पृष्ठ नं. 219

(36-37.) हल्ल-विहल्ल
पृष्ठ नं. 226

पुंडरीक राजा ने कंडरीक मुनि को संयम में स्थिर करने के लिए बहुत ही सुंदर उपदेश दिया । संयम-जीवन की दुर्लभता और उसके फायदे समझाए...परंतु वह उपदेश पत्थर पर पानी डालने की तरह एकदम निष्फल ही गया ।

कंडरीक मुनि ने कहा, ``पुंडरीक ! मैं इस संयम का पालन करने में असमर्थ हूँ...अतः तुम मुझे राज्य प्रदान करो ।''

पुंडरीक ने कहा, ``यदि आपकी यही इच्छा है तो यह राज्य तुम ग्रहण करो और मैं तुम्हारे इस वेष को धारण करूँ ।''

तत्काल दोनों ने वेष का परिवर्तन कर लिया । दोनों के दिलों में उत्साह समा नहीं रहा था ।

पुंडरीक का दिल तो कभी से संयम पाने के लिए लालायित था ही, कंडरीक ने सोचा- कि अब मैं संसार के भोग-सुखों को मन चाहे ढंग से आराम से भोग सकूंगा...अब मुझे किसी की रोक-टोक नहीं रहेगी । उसका मन प्रसन्न हो गया ।

नूतनमुनि पुंडरीक ने वन की ओर विहार किया और राजा का वेष धारण कर कंडरीक ने राजमहल की ओर कदम उठाया । राज्यसत्ता की प्राप्ति के लिए संयम का त्याग करने वाले कंडरीक राजा के प्रति किसी के दिल में बहुमान भाव नहीं जगा ।

रसना की तीव्र आसक्ति के कारण कंडरीक ने उस दिन खूब खाया-खूब खाया । भोजन करते समय मात्र रसना / जीभ / स्वाद का विचार किया, पेट का नहीं ।

उसके इस अतिभोजन की प्रवृत्ति के कारण कई सेवक हँसने लगे । उनके इस हास्य को देखकर कंडरीक राजा अत्यंत रोषायमान हो गया और सोचने लगा, ``जिन सेवकों ने मेरी मजाक की है, उन्हें मैं भयंकर सजा दूंगा ।''

भाग्ययोग से उसी रात्रि में कंडरीक राजा को विसूचिका (दस्त) का रोग हो गया । अनेक उपचार करने के बाद भी उसका रोग शांत नहीं हुआ ।

कंडरीक को अपने सेवकों पर अत्यंत गुस्सा आया । वह सोचने लगा,

''ये सब मुझे मारने का षड्यंत्र रच रहे हैं, अतः जब मैं नीरोग बनूंगा, तब मैं उन सबको घाणी में पीलकर खत्म कर दूंगा''...अत्यंत रौद्रध्यान में डूबे कंडरीक राजा की उसी रात्रि में मृत्यु हो गई और वह मरकर सातवीं नरक में पहुँच गया ।

हजार-हजार वर्ष तक कठोर संयमजीवन का पालन करने पर भी एक मात्र रसना की आसक्ति के कारण कंडरीक मुनि का पतन हो गया ।

कैसी भयंकर है यह रसना की आसक्ति !!

इधर पुंडरीक मुनि तीन दिन के बाद अपने गुरुदेव के पास पहुँचे । वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक दीक्षा अंगीकार की । तीन दिन के पारणे में नीरस आहार लेने से स्वास्थ्य बिगड़ गया, परन्तु अपूर्व समता और समाधि भाव के फलस्वरूप वे कालधर्म प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव बने । वहाँ से च्यवकर मानव भव प्राप्त कर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करेंगे ।

32. केशी गणधर

◆ भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा में हुए केशी गणधर
एक प्रभावक महापुरुष हुए हैं । वे गणधर अर्थात् गणनायक थे ।
`पार्श्व प्रभु के 10 गणधरों में से वे नहीं थे ।'
गणधर का अर्थ गणनायक आचार्य भी होता है ।

◆ अपनी प्रवचनलब्धि से उन्होंने नास्तिक ऐसे
प्रदेशी राजा को भी आस्तिक बनाकर मोक्षमार्ग का पथिक बना दिया था ।

◆ ***पार्श्वनाथ प्रभु की परंपरा में आए होने से***
केशी गणधर और भगवान महावीर के साधुओं की आचार-संहिता में
थोड़ा फर्क था,
परंतु गौतम स्वामी के साथ चर्चा-विचारणा कर
उन्होंने पूर्ण समाधान प्राप्त किया था ।

◆ अंत में
निर्मल संयमधर्म की साधना कर
उन्होंने
अजरामर-मोक्षपद प्राप्त किया था ।

अभिमानं त्यजन् जाति-कुलश्री लाभ संभवम् ।
केशिगच्छेशवन्मुक्तिसात् भाग जायतेऽङ्गवान् ।।

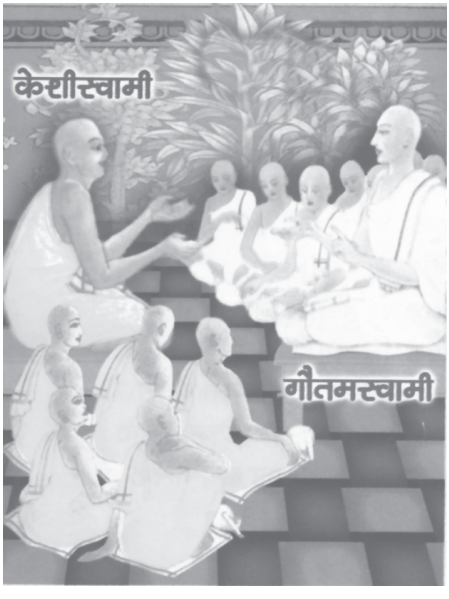

श्वेतांबिका नाम की नगरी में प्रदेशी नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा के `चित्र' नाम का सारथी था । एक बार चित्र सारथी किसी प्रयोजन से श्रावस्ती नगरी में आया । वहाँ पर उसने केशी गणधर के उपदेश को सुना । उस उपदेश को सुनकर वह जैनधर्म के प्रति खूब श्रद्धा और आस्थावाला बना । उसने श्रावक धर्म के उचित बारह व्रत स्वीकार किये ।

सच्चे धर्मी आत्मा के दिल में सदैव यह भावना रहती है कि वह अपने बाह्य उपकारी को भी धर्म में जोड़े ।

`चित्र' सारथी के दिल में भी यह मनोरथ पैदा हुआ कि प्रदेशी राजा भी जैनधर्म के उपासक बनें । परंतु प्रदेशी महाराजा को समझाना कोई आसान बात नहीं थी ।

वे बिल्कुल नास्तिक थे । आत्मा-परमात्मा की बातों में उन्हें लेश भी श्रद्धा नहीं थी ।

चित्र सारथी को चिंता सता रही थी कि महाराजा की उम्र बढ़ती जा रही है और जिनधर्म को पाए बिना ही उनकी अकालमृत्यु हो गई तो उनकी आत्मा की दुर्गति हो जाएगी ।

चित्र सारथी को खूब चिंता थी, मगर उसे कोई योग्य उपाय सूझ नहीं रहा था ।

सोचते-सोचते आखिर एक बात उसके दिमाग में आई कि ``यदि केशी गणधर भगवंत यहाँ पधारें और महाराजा उनकी वाणी का श्रवण करें तो

जरूर राजा का हृदय परिवर्तन हो सकता है ।'' इस प्रकार सोचकर एक दिन वह श्रावस्ती नगरी में केशी गणधर के चरणों में उपस्थित हो गया ।

केशी गणधर के चरणों में भावपूर्वक वंदना करके उसने अपने दिल की बात गुरुदेव को कही **''हे गुरुदेव ! आप यदि श्वेतांबिका नगरी में पधारेंगे तो महाराजा को अवश्य कुछ लाभ होगा ।''**

भावी लाभ को देखकर उस समय तो केशी गणधर ने इतना ही कहा, **''जैसी क्षेत्रस्पर्शना ।''**

पूज्य गुरुदेव के मुख से सानुकूल प्रतिभाव को जानकर चित्र सारथी खुश हो गया ।

उसने अपने नगर के बाहर उद्यानपाल को भी सूचना कर दी कि विहार करते हुए केशी गणधर भगवंत अपने शिष्य आदि परिवार के साथ यहाँ पधार जायें तो तुरंत ही मुझे सूचित करे ।

धीरे-धीरे समय व्यतीत हुआ और एक शुभ दिन चित्र सारथी की भावना साकार बनी ।

केशी गणधर भगवंत अपने शिष्य आदि परिवार के साथ विहार करते हुए श्वेतांबिका नगरी के बाहर उद्यान में पधारे ।

उद्यानपाल ने जाकर चित्र सारथी को समाचार दिये ।

केशी गणधर के आगमन को जानकर चित्र सारथी के हर्ष का पार न रहा । उसने सोचा, **''राजा को प्रतिबोध कराने की मेरी भावना अवश्य साकार बनेगी ।''**

नगरवासियों को ज्योंही केशी गणधर भगवंत के आगमन के समाचार मिले, त्योंही वे नगरवासी उद्यान में आकर केशी गणधर की धर्मदेशना का अमीपान करने लगे । अमृत समान अत्यंत ही मधुर धर्मदेशना को सुनकर लोगों के हर्ष का पार न रहा ।

केशी गणधर विशिष्टज्ञानी महामुनि थे । चित्र सारथी ने युक्ति की । एक दिन नए घोड़ों की परीक्षा के बहाने वन-भ्रमण कराकर चित्र सारथी महाराजा को उसी उद्यान के समीप ले आया ।

चित्र सारथी ने कहा, **''राजन् ! यह मृगवन है । थोड़ी देर के लिए**

घोड़ों को यहाँ विश्राम दें तो ज्यादा ठीक रहेगा । हरा घास चरने के कारण उनकी क्षुधा-तृप्ति भी होगी और उन्हें कुछ आराम भी मिल जाएगा ।''

चित्र सारथी की बात में तत्काल राजा ने हाँ भर दी ।

सारथी अपने रथ को उद्यान में ले आया । उसने घोड़ों को रथ से मुक्त कर दिया । राजा और सारथी भी विश्राम के लिए वृक्ष के नीचे बैठ गए ।

अचानक राजा की नजर केशी गणधर पर गई । उस समय केशी गणधर धर्मदेशना दे रहे थे । उन्हें देख राजा ने कहा, **''अरे ! यह जड़ मुंडित लोगों को क्या समझा रहा है ? और ये इतने सारे लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं ?''**

राजा ने चित्र को कहा- ``अरे ! जरा देख तो ! यह जोर-जोर से क्यों चिल्ला रहा है ? लोगों को क्या समझा रहा है ? इसकी आवाज से मुझे भी विघ्न Disturb हो रहा है ।''

राजा की बात सुनकर चित्र सारथी ने कहा, **''राजन् ! ये तो महान् ज्ञानी केशी गणधर लगते हैं । ये पार्श्व प्रभु की परंपरा में आए हुए संत महात्मा हैं । इन्हें उच्च कोटि का अवधिज्ञान हुआ है । आपकी इच्छा हो तो इनके पास चलें और अपनी शंकाओं का समाधान करें ।''**

सारथी की बात सुनकर राजा ने कहा, ``तुम्हारी भावना है तो वहाँ चलते हैं ।

(कुछ नजदीक आने पर) ``चित्र ! इनकी आवाज कितनी मीठी और गंभीर है ।''

कुछ ही क्षणों में राजा व सारथी केशी गणधर के सामने उपस्थित हो गए ।

राजा ने पूछा, **''क्या आपको उच्च कोटि का अवधिज्ञान हुआ है ?''**

केशी ने कहा, **''राजन् ! मुझे देखकर, क्या तुम्हें यह विचार आया था कि यह जड़ पुरुष लोगों को क्या समझा रहा है ? जोर-जोर से चिल्लाकर हमारी शांति का भंग क्यों कर रहा है ?''**

राजा ने कहा, **''सच्ची बात है । परंतु आपने मेरे विचारों को कैसे जान लिया ?''**

केशी ने कहा, **``जैनशासन में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान रूप पाँच ज्ञान कहे गए हैं, इनमें से चार ज्ञान मुझे प्राप्त हुए हैं । बस, मनःपर्यवज्ञान के बल से ही मैं तुम्हारे भीतर रहे विचारों को सरलता, सहजता से जान सका हूँ ।''**

इसके बाद अन्य सामान्य तत्त्वचर्चा के बाद राजा ने पूछा, ``आप देह और आत्मा को अलग-अलग मानते हो, परंतु यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है । मैं तो ऐसा ही मानता हूँ कि देह के नाश के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है ।

``मेरी इस मान्यता के पीछे एक कारण यह है कि मेरे दादा खूब अधार्मिक थे, वे प्रजा की अच्छी तरह से सँभाल नहीं रखते थे और निर्दोष लोगों को भी खूब हैरान करते रहते थे, आपके मत से तो वे मरकर नरक में जाने चाहिए ।

``दूसरी ओर मेरे दादा को मेरे प्रति खूब प्रेम था ! वे मेरी खूब चिंता करते थे, यदि वे सचमुच नरक में गए होते तो वहाँ से आकर मुझे अवश्य सावधान करते और मुझे पापकार्यों से बचाने की अवश्य प्रेरणा करते । उनकी मृत्यु को कई वर्ष बीत चुके हैं, परंतु वे आज तक कभी आए नहीं हैं, अतः मैं मानता हूँ कि मृत्यु के साथ ही आत्मा का नाश हो जाता है ।''

राजा के इस तर्क को सुनकर, केशी गणधर ने कहा, ``जो आत्मा इस जीवन में भयंकर पापकर्म करती है, वह मरकर अवश्य नरक में जाती है, परंतु नरक में गई हुई आत्मा चार कारणों से यहाँ नहीं आ पाती है ।

1. नरक के जीवों को 24 घंटे भयंकर से भयंकर वेदना होती है । मनुष्यलोक में जो पीड़ा है, उससे अनंतगुणी पीड़ा नरक के जीवों को होती है । जिस प्रकार अत्यंत दुःखियारे जीव को दूसरों का विचार नहीं आता है, उसी प्रकार अत्यंत वेदना से विह्वल होने के कारण नरक के जीव को भी यहाँ आने का विचार नहीं आता है ।

2. परमाधामी देवों की इतनी अधिक पराधीनता है कि नरक के जीव चाहने पर भी वहाँ से बाहर नहीं निकल सकते हैं । परमाधामी देव उन्हें सतत

भयंकर से भयंकर पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, इस कारण भी नरक के जीव यहाँ नहीं आ सकते हैं ।

3. नरक के जीवों को तीव्र अशातावेदनीय कर्म का भयंकर उदय होता है । भयंकर पापकर्मों के उदय के कारण उन्हें यह पीड़ा अवश्य भोगनी ही पड़ती है, अतः इस कारण भी वे नरक में से बाहर नहीं निकल पाते हैं ।

4. नरक के जीवों का निकाचित आयुष्य कर्म होता है । प्रतिपल मरणांत वेदना को सहन करते हुए भी उनकी कभी अकालमृत्यु नहीं होती है । भयंकर से भयंकर वेदना का भी उनके आयुष्य पर कोई उपघात नहीं लगता है । नरक के जीव सतत मौत चाहते हैं, परंतु पूर्ण आयुष्य के पहले उनकी मृत्यु नहीं होती है ।

तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण में मनुष्य व तिर्यंच गति के जीव आ सकते हैं, परंतु नारकियों को वहाँ आने का अवसर नहीं मिल पाता है ।

इससे सिद्ध होता है कि नरक के जीव यहाँ नहीं आ सकते हैं, उसका कारण उनकी पराधीनता है, न कि उनके अस्तित्व का अभाव है ।

केशी गणधर के मुख से इन वचनों को सुनकर राजा ने दूसरा प्रश्न किया, ``इस नगर में मेरी दादी रहती थी, जो खूब धर्मात्मा थी । दया, दान, परोपकार आदि प्रवृत्तियों में वह सतत लीन रहती थी । वह खूब धार्मिक और श्रमणोपासिका थी । उसके दिल में भी मेरे प्रति खूब अनुराग था ।

``आपके मत से तो वह मरकर देवगति में जानी चाहिए । उसकी मृत्यु को भी कई वर्ष बीत गए, परंतु वह भी कभी मुझे सावधान करने के लिए नहीं आई कि बेटा ! तू खूब ध्यान रखना, धर्म-कार्य में प्रमाद मत करना, क्योंकि धर्म करेगा तो सुखी होगा और पाप करेगा तो दुःखी होगा ।''

राजा की इस युक्ति को सुनकर केशी गणधर ने कहा, ``जो व्यक्ति इस जीवन में खूब सुंदर धर्म-आराधना करता है, वह मरकर देवगति प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं है, परंतु तुम्हारी दादी यहां पर नहीं आई, उसके पीछे भी कई कारण हैं ।

1. ``देवलोक में जन्म लेने के बाद देवता उन दिव्य सुखों में इतने अधिक मग्न बन जाते हैं कि उनको यहाँ की याद भी नहीं आती है । उन्हें मानवीय सुखों में कोई रुचि नहीं होती है ।

2. ``आयुष्य की समाप्ति के साथ मनुष्यभव के संबंध पूरे हो जाते हैं और देवलोक के देवताओं के साथ नए संबंध चालू हो जाते हैं । वे संबंध इतने सुखदायी होते हैं कि उन देवताओं को अपने पूर्वभव के संबंधों की याद भी नहीं आती है ।

3. ``उन दिव्य सुखों को भोगते हुए वे देवता ``थोड़ी देर बाद चला जाऊंगा । बस, अब वहीं जाना है ।'' इस प्रकार सोचते हुए उनका खूब लंबा समय व्यतीत हो जाता है और जब उन्हें यहाँ का ख्याल आता है, तब तक तो यहाँ कई पीढ़ियाँ बीत गई होती हैं ।

4. ``मनुष्यलोक में अत्यंत ही दुर्गंध है । यहाँ के दुर्गंधीत पुद्गल 400-500 योजन तक के वातावरण को दूषित कर देते हैं । दिव्य वातावरण में रहनेवाले उन देवताओं को यहाँ के दूषित वातावरण में आने का मन ही नहीं होता है ।

``हे राजन् ! स्वर्ग में से तुम्हारी दादी यहाँ पर नहीं आई, इसका कारण उन दिव्य सुखों की आसक्ति मात्र है, न कि उस देवगति का अभाव है ।''

इस उपदेश को सुनकर भी राजा को आत्मा के अस्तित्व के विषय में विश्वास नहीं आया । पुनः शंका करते हुए राजा ने कहा, ``एक बार गुनहगार चोर को मृत्युदंड की सजा की गई, फिर उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए, फिर भी कहीं भी आत्मा नाम का पदार्थ दिखाई नहीं दिया, इससे भी सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है ।

``एक बार एक चोर को कुंभी में बंद कर ऊपर से मजबूत ढक्कन लगा दिया । कुछ समय बाद देखा गया कि उस चोर की मृत्यु हो गई है, परंतु उस कुंभी में कहीं भी कोई छिद्र दिखाई नहीं दिया । यदि आत्मा नाम का स्वतंत्र पदार्थ होता तो उसके बाहर निकलने पर कहीं तो कोई छेद अवश्य होता । कोई छेद दिखाई नहीं देने से अनुमान करता हूँ कि आत्मा नाम का स्वतंत्र पदार्थ नहीं है ।

``एक बार एक चोर का जीवित अवस्था में वजन किया, फिर उसके मरने के तत्काल बाद वजन किया गया, परंतु दोनों बार के वजन में कहीं फर्क नहीं था, अतः आत्मा नाम का कोई पदार्थ अलग होता तो उस देह के वजन में कुछ-न-कुछ फर्क अवश्य पड़ता ।''

इन तीनों तर्कों को सुनकर केशी गणधर भगवंत ने राजा का समाधान करते हुए कहा, **``हे राजन् ! अरणि के काष्ठ में अग्नि होती है, परंतु उस काष्ठ के टुकड़े-टुकड़े करने पर भी कहीं भी अग्नि की प्राप्ति नहीं होती है ।**

``जिस प्रकार दूध में घी होने पर भी बाहर से दिखाई नहीं देता है । उसी प्रकार शरीर में आत्मा होने पर भी आत्मा बाहर से दिखाई नहीं देती है ।

``आत्मा अरूपी है, वह चर्मचक्षु से ग्राह्य नहीं है, अतः शरीर के टुकड़े करने पर भी बाहर से दिखाई न दे, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

``जिस प्रकार बंद कमरे में भेरी आदि की जोर से आवाज की जाय तो वह आवाज कमरे के बाहर भी सुनाई देती है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से बाहर निकले तो भी कहीं कोई छेद दिखाई न दे तो भी कोई आश्चर्य नहीं है ।

``शरीर जड़ पदार्थ है, पुद्गल रूप है, अतः उसमें वजन होता है, जबकि आत्मा तो अरूपी पदार्थ है, अतः उसमें बिल्कुल वजन नहीं होता है । आत्मा के बाहर निकलने से देह के वजन में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता है, क्योंकि आत्मा वजनवाली वस्तु नहीं है ।''

केशी गणधर के मुख से अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर प्रदेशी राजा के आनंद का पार न रहा । उसका हृदय प्रसन्नता से भर आया ।

वह केशी गणधर के चरणों में नतमस्तक हो गया ।

उसने अपनी मिथ्या मान्यता का त्याग कर दिया । तत्पश्चात् केशी गणधर के मुख से आत्मकल्याणकर सर्वविरति तथा देशविरति धर्म को समझने का प्रयत्न किया ।

सर्वविरतिधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ प्रदेशी राजा ने सम्यक्त्व सहित देशविरतिधर्म स्वीकार किया ।

प्रदेशी राजा पर्व-तिथि के दिनों में पौषध सहित उपवास तप की आराधना करने लगे ।

प्रदेशी राजा की यह आराधना सूर्यकांता महारानी को पसंद नहीं थी ।

...आखिर एक दिन उपवास के पारणे के प्रसंग पर सूर्यकांता महारानी ने प्रदेशी राजा को विषमिश्रित दूध का कटोरा पिला दिया ।

विषमिश्रित दूध पीने के साथ ही प्रदेशी राजा नीचे गिर पड़े ।

उस समय ``मेरे पाप का भंडाफोड़ न हो जाय'' इस भय से सूर्यकांता महारानी उनकी छाती पर चढ़ बैठी और अपने हाथों से ही उसने अपने पति का गला दबा दिया ।

अंतिम समय में भयंकर वेदना में भी प्रदेशी राजा अपने समभाव से च्युत नहीं हुए । उनके मन में सूर्यकांता महारानी के प्रति लेश भी द्वेष भाव उत्पन्न नहीं हुआ ।

``इस संसार में जीवात्मा अपने ही कर्म के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करता है, दूसरे प्राणी तो निमित्त मात्र हैं ।'' इस सत्य को उन्होंने अपने जीवन में इस प्रकार आत्मसात् किया कि अपनी ही प्राणप्रिया पत्नी की ओर से विष प्रदान करने पर भी वे अपने समता भाव को दृढ़तापूर्वक जीवंत रख सके ।

आखिर समाधिमरण प्राप्त कर वे पहले देवलोक में सूर्याभदेव बने ।

देव बनने के बाद प्रभु महावीर स्वामी के समवसरण में आकर अद्भुत-नृत्य किया ।

केशी गणधर और गौतम गणधर

एक बार श्री गौतम स्वामी भगवन्त अपने परिवार के साथ विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक उद्यान में पधारे ।

उसी समय पार्श्वनाथ प्रभु की परंपरा के श्रमण केशीकुमार भी अपने परिवार के साथ श्रावस्ती नगरी के निंदुक उद्यान में पधारे हुए थे ।

पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 250 वर्ष का अन्तर था । महावीर प्रभु के अस्तित्वकाल में पार्श्वनाथ की श्रमणपरम्परा भी विद्यमान थी । दोनों श्रमणपरम्पराओं का मूलभूत उद्देश्य एक होने पर भी दोनों की आचारसंहिता में थोड़ा सा अंतर था ।

उस समय गौतम स्वामी और केशीकुमार के श्रमणों ने परस्पर एक दूसरे को देखा और उनके मन में शंकाएँ पैदा हुईं कि समान लक्ष्य होने पर भी महाव्रत की संख्या, श्वेत व रंगीन वस्त्र, सचेलक व अचेलकपना आदि में भेद क्यों दिखाई दे रहा है ?

अपने शिष्यों की शंकाओं के निवारण के लिए केशीकुमार व इन्द्रभूति गौतम ने परस्पर मिलने का निश्चय किया ।

गौतमस्वामी, केशीकुमार से वय में छोटे थे, परन्तु ज्ञान में बड़े थे । केशीकुमार तीन ज्ञान के धारक थे और पार्श्व परम्परा के तत्कालीन नायक थे । गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक, प्रभु महावीर के प्रथम शिष्य व प्रथम गणधर थे ।

गौतम स्वामी का स्थान बड़ा होने पर भी वे नम्रता की साक्षात् मूर्ति थे । अतः वे स्वयं अपने शिष्यों के साथ केशीकुमार से मिलने के लिए निंदुकवन में पधारे । उनके आगमन को देख केशीकुमार प्रसन्न हो गए । उन्होंने गौतम स्वामी का हार्दिक स्वागत किया ।

अन्य औपचारिक विधि की समाप्ति के बाद केशीकुमार ने प्रश्न करते हुए कहा, **``हे महाभाग ! भगवान पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों का उपदेश दिया, जबकि भगवान महावीर ने पाँच महाव्रत बतलाए । 'निर्ग्रंथ मार्ग' समान होने पर भी इस परिवर्तन का कारण क्या ?''**

गौतम स्वामी ने केशीकुमार की शंका का समाधान करते हुए कहा, ``दोनों परंपराओं का लक्ष्य समान होने पर भी कालभेद से ही यह परिवर्तन किया गया है । प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव प्रभु के शासन के मुनि ऋजु और जड़ होते हैं, महावीर स्वामी के शासन के मुनि वक्र व जड़ प्रवृत्ति के होते हैं । तथा बीच के बाईस तीर्थंकरों के मुनि ऋजु व प्राज्ञ होते हैं । प्रथम तीर्थंकर के मुनियों को मार्ग का बोध कठिन होता है, जबकि पालन सुकर होता है । बाईस तीर्थंकरों के मुनियों को बोध व पालन दोनों सुकर होते हैं, जबकि महावीर स्वामी के मुनियों को बोध व पालन दोनों दुष्कर हैं ।

``ऋजु व प्राज्ञ होने के कारण पार्श्वनाथ के साधु अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत ही चौथे ब्रह्मचर्य व्रत का समावेश कर लेते थे, क्योंकि वे समझ सकते थे कि स्त्री भी एक परिग्रह ही है । परन्तु भगवान महावीर के साधु वक्र और जड़ होने के कारण उनके हित के लिए भगवान महावीर ने चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत अलग से बतलाया है । इस प्रकार बाह्य-दृष्टि से चार और पाँच महाव्रतों में संख्याभेद दिखाई देने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है ।''

प्रश्न का समाधान पाकर केशीकुमार मुनि प्रसन्न हो गए । उन्होंने

दूसरा प्रश्न किया, ``भगवान पार्श्वनाथ के साधुओं के लिए रंगीन वस्त्र, मूल्यवान वस्त्र आदि की भी छूट दी गई, जबकि महावीर स्वामी के साधुओं के लिए जीर्ण-शीर्ण, अल्प मूल्य वाले और श्वेत वस्त्रों का ही विधान क्यों ?''

गौतम स्वामी ने कहा, ``इस विधान के पीछे तो पूर्वोक्त कारण ही रहा हुआ है। पार्श्वनाथ संतानीय साधु ऋजु व प्राज्ञ होने के कारण वे मूल्यवान वस्त्रों के उपभोग में भी अनासक्त रह सकते थे, जबकि महावीर स्वामी के साधु वक्र व जड़ होने से आसक्ति की संभावना होने के कारण ही उनके लिए रंगीन, कीमती व उत्तम वस्त्रों के उपयोग का निषेध किया गया है।''

केशीकुमार बोले, **``महाभाग ! आप हजारों शत्रुओं के बीच खड़े हैं वे शत्रु आपको परास्त करने के लिए तत्पर हैं, फिर भी आपने उन शत्रुओं को कैसे जीत लिया ?''**

गौतम स्वामी ने कहा, ``जब मैंने एक शत्रु को जीता तो अन्य चार शत्रु जीत लिये गये। उन पाँचों को जीतने पर दूसरे पाँच हार गए...फिर मैंने उन हजारों दुश्मनों को भी जीत लिया।''

केशीकुमार ने पूछा, **``यह कैसे ?''**

इस बात का समाधान करते हुए गौतम स्वामी ने कहा, ``सर्वप्रथम मैं बाह्य भाव में डूबी अपनी आत्मा को वश में करता हूँ, आत्मा वश में होते ही क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय वश में हो जाते हैं। इन चारों पर विजय होने पर पाँच इन्द्रियों पर विजय पाना सरल हो जाता है...और फिर तो कोई भी दुश्मन सता नहीं सकता। आत्मविजय का यही मार्ग है।''

केशीकुमार-``इस दुनिया में कर्म के बन्धनों का पार नहीं है तो फिर आप उन बंधनों से कैसे मुक्त रह सकते हो ?''

गौतम स्वामी ने कहा, ``राग-द्वेष, मोह, परिग्रह, स्त्री तथा स्वजन की ओर आसक्ति ही भयंकर बंधन हैं। उन बंधनों को तोड़कर मैं आसानी से विकास-मार्ग में आगे बढ़ सकता हूँ।''

केशीकुमार-``हृदय की गहराई में एक लता पैदा होती है जिसके ऊपर विषैले फल लगते हैं। आप उस विषलता को कैसे उखाड़ देते हो ?''

गौतम-``हृदय की गहराई में आत्मघातक आशा-तृष्णा रूपी विषलता है । उसके फल मोक्ष की भावना को समाप्त कर देनेवाले होते हैं । उसी के प्रभाव से जीव का संसार बढ़ता है और आत्मा जन्म-मरण के चक्कर में निरंतर दु:खी होती रहती है । मैंने जिनेश्वर के शासन की आराधना द्वारा उस विषलता को मूल से उखाड़ दिया है, अतः मैं सुखपूर्वक रह सकता हूँ ।''

केशीकुमार-``हृदय की गहराई में सर्वनाशी अग्नि छुपी हुई है, जो जीव की सुख-शांति को भस्म कर सतत जलाती रहती है, वह कौन-सी अग्नि है और उसे कैसे शांत कर सकते हैं ?''

गौतम- ``जीव के साथ अनादि से जुड़े हुए कषाय ही वह अग्नि है । ज्ञान, शील और तप की जलधारा द्वारा वह अग्नि शांत हो जाती है और अंतर में सुख-शांति पैदा हो जाती है ।''

केशीकुमार-``मन रूपी घोड़ा साधक को उन्मार्ग की ओर ले जाता है, उसे आप कैसे रोक पाते हो ?''

गौतम- ``मन रूप चंचल घोड़े को मैं श्रुतज्ञान की लगाम द्वारा अंकुश में रखता हूँ, जिससे सारे तूफान शांत हो जाते हैं ।''

केशीकुमार-``संसार में बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से आत्मा सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाती है । आप इन गलत मार्गों से अपने आपको कैसे बचा पाते हो ?''

गौतम-``जिनेश्वर प्ररूपित मार्ग सच्चा मार्ग है और अन्य पाखंडियों के द्वारा बताए मार्ग गलत हैं । वे जीवात्मा को गलत दिशा में ले जाते हैं । श्रद्धापूर्वक जिनवचन का अनुसरण कर, मैं अपने आपको गलत मार्ग से बचा लेता हूँ ।''

केशीकुमार-``हे गौतम ! वृद्धावस्था और मृत्यु के तीव्र प्रवाह में बह रही आत्मा को कौन बचा सकता है ?''

गौतम-``जिस जीवात्मा को धर्म नाम के द्वीप का आलंबन मिलता है, वही जीवात्मा विनाशकारी प्रवाह से बच सकता है । धर्म ही सच्चा शरण व तरने का उपाय है ।''

केशीकुमार-``महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नाव विपरीत प्रवाह में तीव्र गति से भाग रही है, आप उसमें आरूढ़ हुए हैं तो फिर कैसे पार हो सकेंगे ?''

गौतम-``जो सछिद्र नौका है, वह अवश्य डुबोएगी परन्तु जो छिद्र रहित नौका है, वह अवश्य पार लगाएगी ।''

केशीकुमार-``वह नौका कौन-सी है ?''

गौतम-``शरीर नौका है व आत्मा नाविक है और संसार समुद्र है, जिसे महर्षिजन सहज ही तैरकर पार पहुँच जाते हैं ।''

केशीकुमार-``इस संसार में अधिकांश प्राणी अंधकार में डूबे हुए हैं, उन्हें प्रकाश देने वाला कौन ?''

गौतम-``जिन्होंने राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, वे वीतराग परमात्मा रूपी सूर्य ही विश्व को उद्योत करते हैं ।''

केशीकुमार-``शारीरिक व मानसिक पीड़ाओं से ग्रस्त प्राणियों के लिए क्षेम, शिव व बाधारहित स्थान कौन-सा है ?''

गौतम-``लोक के अग्रभाग में वह शाश्वत स्थान है, जहाँ आत्मा में जन्म, जरा, मृत्यु आदि की किसी प्रकार की वेदना नहीं है, परन्तु वहाँ पहुँचना दुष्कर है । रत्नत्रयी की निर्मल साधना द्वारा आत्मा वह स्थान प्राप्त कर सदा के लिए चिंतामुक्त बन सकती है ।''

गौतम स्वामी भगवन्त के मुख से इस प्रकार अपने प्रश्नों के समाधान सुनकर केशीकुमार अत्यन्त प्रसन्न हो गए । उन्होंने गौतम स्वामी को प्रणाम किया और उसके बाद अपने विशाल परिवार के साथ भगवान महावीर प्रभु के परिवार में सम्मिलित हो गए । संयमधर्म की निर्मल साधना कर अंत में उन्होंने मोक्षपद प्राप्त किया ।

33-34. शीलव्रतधारी सुदर्शन सेठ

नवकार मंत्र के प्रभाव से ही
एक गोवाल मरकर सुदर्शन सेठ बना !

❑ सुदर्शन सेठ बारहव्रतधारी श्रावक थे ।
कपिला दासी ने उन्हें
चारित्र-भ्रष्ट करने की कोशिश की तो
``मैं नपुंसक हूँ'' इस प्रकार झूठ बोलकर भी
उन्होंने अपने शीलव्रत का रक्षण कर लिया ।
❑ तत्पश्चात्
अभयारानी ने उन्हें
विचलित करने के लिए
भरसक प्रयत्न किये, परंतु
वे लेश भी विचलित नहीं हुए ।
अभयारानी ने उन्हें कलंकित किया,
राजा ने उन्हें
फांसी की सजा दी, परंतु
नवकारमंत्र एवं शीलधर्म के प्रभाव से
वह शूली भी सिंहासन में रूपांतरित हो गई ।
❑ प्राणों की भी परवाह किए बिना
अपने शीलधर्म का रक्षण करनेवाले
सुदर्शन जैसे विरले ही मिलेंगे ।
उनके जीवन को अपना आदर्श बनाकर
अपने जीवन को भी
शील से अलंकृत करने का प्रयत्न करें ।

पालयन् दर्शनं शुद्धं शीलं, च मुक्ति सौख्यदम् ।
मुक्तिं गच्छति भव्याङ्गी सुदर्शन इवादरात् ।।

जंबुद्वीप !

भरतक्षेत्र !!

चंपापुरीनगरी !!!

चंपापुरीनगरी में **दधिवाहन** राजा न्याय और नीति पूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करता था । राजा की मुख्य रानी का नाम **अभया** था । उसी नगर में **अर्हद्दास** श्रेष्ठी रहता था । अपने नाम के अनुरूप ही वह अरिहंत परमात्मा का परम भक्त था । जिनभक्ति और जिनाज्ञा-पालन में सदैव तत्पर रहता था । उसकी पत्नी का नाम **अर्हद्दासी** था ।

जिनधर्म का अच्छी तरह पालन करने के पुण्य प्रभाव से एक शुभ दिन अर्हद्दासी की कुक्षि में एक पुण्यशाली आत्मा का अवतरण हुआ । गर्भ के प्रभाव से माता को उत्तम दोहद पैदा हुए । अर्हद्दासी ने वे सारे दोहद पूर्ण किये ।

गर्भकाल व्यतीत हुआ...और एक शुभ दिन...शुभ मुहूर्त्त में अर्हद् दासी ने एक अत्यंत ही तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया । अर्हद्दासी भी जिनभक्ति में संलग्न थी...और सम्यक्त्व के परिपालन में तत्पर थी...अतः स्वजन वर्ग को सम्मान, दान के बाद उस बालक का नाम सुदर्शन रखा गया ।

धीरे-धीरे सुदर्शन बड़ा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ उसमें गुणों की भी वृद्धि होने लगी । बाल्यवय व्यतीत होने के साथ ही उसका विद्या-अध्ययन प्रारंभ हुआ । अल्पकाल में ही उसने अनेक विद्याएँ प्राप्त कर लीं । व्यावहारिक शिक्षण के साथ ही वह धर्मकला में अत्यंत ही निपुण बन गया ।

यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही उसका देह-सौंदर्य एकदम खिल उठा ।...और एक शुभ दिन श्रेष्ठी-कन्या **मनोरमा** के साथ उसका पाणिग्रहण हो गया ।

गृहस्थ जीवन को स्वीकार करने पर भी सुदर्शन का सम्यग्दर्शन उतना ही निर्मल था । संसार के भौतिक सुखों का परिभोग करते हुए भी वह भोग सुखों में आसक्त नहीं था ।

एक दिन सद्गुरु के समागम से अर्हद्दास ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । इसके परिणामस्वरूप परिवार की समस्त जवाबदारी सुदर्शन पर आ पड़ी ।

न्याय-नीति व सदाचार के पालन के कारण समाज में उसकी खूब इज्जत-प्रतिष्ठा थी ।

उसी नगर में एक **कपिल नाम** का पुरोहित रहता था । सुदर्शन सेठ के साथ उसकी मैत्री हो गई । **जिस प्रकार गंगानदी के संग से गटर का गंदा पानी भी पवित्र बन जाता है, उसी प्रकार सज्जन मित्र के समागम से सामान्य मानव भी महान् बन सकता है ।**

सुदर्शन सेठ के समागम से कपिल के दिल में भी तत्त्वरुचि उत्पन्न हुई । वह भी तत्त्व का जिज्ञासु और पिपासु बन गया । जब भी समय मिलता वह सुदर्शन सेठ के घर पहुँच जाता और सुदर्शन सेठ के साथ वार्ता विनोद करता । सुदर्शन सेठ उसे मोक्ष की उपादेयता और संसार की भयानकता समझाने की कोशिश करता ।

सुदर्शन सेठ के मुख से जिनेश्वर भगवंतों के द्वारा निर्दिष्ट शाश्वत सत्य व तथ्यों को सुनकर कपिल के दिल में सुदर्शन के प्रति खूब आदर-बहुमान भाव पैदा होने लगा ।

एक दिन कपिल पुरोहित की स्त्री ने उसे पूछ ही लिया, ``स्वामिन् ! दिन में आप अपना अधिकांश समय कहाँ व्यतीत करते हैं ?''

कपिल ने कहा, ``प्रिये ! अभी-अभी सुदर्शन सेठ के साथ मेरा परिचय हुआ है । उसी के साथ विचार-गोष्ठी करते हुए मैं अपना अधिकांश समय व्यतीत करता हूँ । वह रूप में कामदेव के समान है । उसकी वाणी में

बृहस्पति का वास है, वह सूर्य के समान अत्यंत तेजस्वी और चंद्र के समान अत्यंत ही सौम्य व शांत है । शील, सदाचार आदि गुणों से वह अत्यंत ही गुणवान प्रतीत होता है ।

अपने पति के मुख से सुदर्शन सेठ के रूप आदि गुणों की प्रशंसा सुनकर वह कपिला, सुदर्शन में अत्यंत ही अनुरागिणी बन गई ।

जिस प्रकार आकाश में ऊँचाई पर उड़ने पर भी गिद्ध की नजर तो श्मशान या जंगल में रहे किसी मुर्दे (मृत देह) पर ही होती है बस, इसी प्रकार कामी व्यक्ति भी हमेशा काम का पिपासु बना रहता है और काम के निमित्तों को पाते ही उसकी जागृति हो जाती है । जिस प्रकार ईंधन से अग्नि को तृप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार भोग द्वारा कामी व्यक्ति को तृप्ति नहीं होती है । संसार के भोग सुखों की विचित्रता है कि ज्यों-ज्यों उन सुखों का भोग किया जाता है, त्यों-त्यों भोग संबंधी भूख बढ़ती जाती है ।

यद्यपि कपिला विवाहिता नारी थी, परन्तु वह तृप्त नहीं थी, इसी कारण सुदर्शन सेठ के रूप-लावण्य आदि गुणों को सुनकर वह भोग की भिखारिन बन गई और किसी भी उपाय से सुदर्शन को अपने जाल में फँसाने के लिए तैयार हो गई ।

एक दिन की बात है । कपिल पुरोहित किसी प्रयोजनवश बाहर गाँव चला गया । घर पर कपिला अकेली थी । सुदर्शन सेठ को अपने जाल में फंसाने के लिए उसने जाल बिछाना प्रारंभ कर दिया ।

स्त्री जाति को माया का अवतार कहा गया है । कूट-कपट आदि करने में वह अत्यंत कुशल होती है ।

वह कपिला सुदर्शन सेठ के घर पहुँच गई और बोली, ``आज आपके मित्र ज्वर से पीड़ित हैं, अतः आपको मिलने के लिए नहीं आ पाए हैं, उन्होंने आपको याद किया है ।''

सुदर्शन सेठ, कपिला की कपटलीला को नहीं समझ पाए...वे पुरोहित के घर जाने के लिए तैयार हो गए ।

थोड़ी ही देर में सुदर्शन सेठ पुरोहित के घर पहुँच गया । घर के अंदर पहुँचने पर सुदर्शन ने कहा, ``कपिल ! कहाँ है ?''

कपिला ने कहा, ``वे अंदर के कमरे में हैं ।''

कपिला के कहने से सुदर्शन सेठ भी अंदर गया । तत्काल कपिला ने बाहर का द्वार बंद कर दिया और निर्लज्ज होकर सुदर्शन सेठ के पास काम-सुख की याचना करने लगी ।

कपिला की इस प्रार्थना को सुनकर सुदर्शन सेठ के आश्चर्य का पार न रहा । उसे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि कपिला इस प्रकार माया का आश्रय लेकर काम की प्रार्थना कर देगी ।

सुदर्शन सेठ ने सोचा, अब किसी भी उपाय से मुझे अपने शील का रक्षण करना होगा । इस प्रकार विचार कर सुदर्शन सेठ ने कहा, **``कपिला ! मैं तेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ, क्योंकि मैं नपुंसक हूँ ।''**

सुदर्शन सेठ के मुख से इन शब्दों को सुनने के साथ ही कपिला का मोह ज्वर उतर गया, उसने द्वार खोल दिया और तत्काल सुदर्शन उस द्वार में से बाहर निकल गया ।

सुदर्शन ने झूठ का आश्रय लेकर भी अपने शील का रक्षण कर लिया । इस घटना के बाद सुदर्शन ने अनावश्यक किसी के घर नहीं जाने का संकल्प कर लिया ।

वसंत ऋतु का आगमन हुआ ।

राजा और प्रजाजन आदि सभी नगर के बाहर उद्यान की शोभा देखने के लिए निकल पड़े ।

अभया रानी भी कपिला के साथ यान में बैठकर चलने लगी । इसी समय सुदर्शन सेठ की पत्नी मनोरमा भी अपने छह पुत्रों के साथ उद्यान की ओर आगे बढ़ने लगी ।

अद्‌भुत रूप और लावण्य से युक्त मनोरमा को देखकर कपिला ने अभया रानी को पूछा, ``यह कौन है और ये पुत्र किसके हैं ?''

अभया ने कहा, ``यह सुदर्शन सेठ की पत्नी है और ये सभी इसी के पुत्र हैं ।''

इस बात को सुनकर कपिला ने कहा, ``अरे ! ये सभी सुदर्शन सेठ के पुत्र कैसे ? मैंने उसकी परीक्षा की थी, वह तो अपने आपको नपुंसक कह रहा था ।''

``अरे कपिला ! वास्तव में तू उससे ठगी गई है । तुझे ठगने के लिए ही उसने ये शब्द कहे और तूने उसे सत्य मान लिया ।''

कपिला ने कहा, ``मैं तो उससे ठगी गई...परन्तु तू उसके साथ क्रीड़ा करे तो मैं मानूंगी कि तू बहुत होशियार है ।''

अभया ने कहा, ``मैं किसी भी उपाय से उसे वश में करूंगी ।''

सुदर्शन सेठ को अपने वश में करने के लिए वह अभया रानी सोचने लगी । उसे चिंतित देखकर पंडिता सखी ने कहा, ``सखी ! तू इतनी चिंतित क्यों है ?''

अभया ने कहा, ``मैं किसी भी उपाय से सुदर्शन सेठ को अपने वश में करना चाहती हूँ ।''

सखी ने कहा, **``मेरु पर्वत कदाचित् चलित हो जाय परंतु सुदर्शन अपने शील-व्रत से लेश भी चलित होने वाला नहीं है, वह तो पर-नारी-सहोदर है ।''**

अभया ने कहा, ``एक बार तू उसे मेरे महल में ले आ, उसके आगे का कार्य मैं सँभाल लूंगी ।''

पंडिता ने कहा, **``पर्व के दिन निकट आ रहे हैं, उस समय छल-कपट द्वारा उसे यहाँ ला दूंगी ।''**

कुछ समय बाद कौमुदी महोत्सव आने पर राजा आदि सभी प्रजाजन वन में गए । उस समय सिरदर्द का बहाना बनाकर अभया रानी अपने महल में रुक गई ।

उस दिन चतुर्दशी पर्वतिथि होने से राजा की अनुज्ञा लेकर सुदर्शन सेठ भी पौषध लेकर देवकुल में कायोत्सर्ग में खड़ा रहा ।

उस समय राजकर्मचारियों को विश्वास में लेने के लिए वह पंडिता बार-बार यक्ष की प्रतिमा को शिविका में आरूढ़ करके अपने महल में लाने लगी । बस, यक्ष प्रतिमा के बहाने, अवसर देखकर वह सुदर्शन सेठ को अभया रानी के महल में ले आई ।

सुदर्शन सेठ अभया रानी के महल में भी कायोत्सर्ग ध्यान में ही खड़े थे ।

अभयारानी ने सुदर्शन के पास काम की प्रार्थना की, परंतु सुदर्शन अपने ध्यान से लेश भी चलित नहीं हुए । अभया रानी ने नाना प्रकार की काम-चेष्टाओं के द्वारा सुदर्शन को वश में करने के लिए भरसक प्रयत्न किये...परंतु सुदर्शन का मन लेश भी नहीं डिगा ।

आखिर धमकी देते हुए अभया ने कहा, **``यदि तुम मेरी प्रार्थना को स्वीकार नहीं करोगे तो मैं तुम्हें मौत के मुँह में धकेल दूंगी ।''**

मौत की धमकी देने पर भी सुदर्शन सेठ डिगे नहीं ।

उसके बाद अभया ने स्त्री-चरित्र भजना प्रारंभ कर दिया । उसने अपने सिर के बाल बिखेर दिए । शरीर पर नाखूनों से घाव किए और उसके बाद जोर से चिल्लाने लगी, ``दौड़ो ! दौड़ो ! यह दुष्ट पापी मेरा शील भंग करने के लिए तैयार हुआ है । बचाओ ! बचाओ !''

अभया रानी के चिल्लाने पर आस-पास से कई चौकीदार इकट्ठे हो गए और उन्होंने सुदर्शन सेठ को कैद कर लिया ।

दूसरे दिन सुदर्शन सेठ को राजा के सामने उपस्थित किया गया । राजा ने पूछा, ``सुदर्शन ! सत्य कहो, क्या बात है ?''

सुदर्शन ने सोचा, ``यदि मैं सत्य कहूंगा तो नाराज होकर यह राजा, रानी को देशनिकाले की भी सजा कर सकता है, अतः मेरा जो होना हो सो हो, मुझे मौन रहना ही ठीक लगता है ।'' इस प्रकार विचार कर राजा के पुनः-पुनः पूछने पर भी सुदर्शन सेठ एकदम मौन रहे ।

सुदर्शन सेठ की ओर से कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं मिलने पर नाराज होकर राजा ने सुदर्शन सेठ को शूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया ।

राजा की आज्ञा होते ही सुदर्शन सेठ के मस्तक के बाल उतार दिये गये । उनका मुँह काला किया गया और उन्हें गधे पर बिठाकर नगर में घुमाया जाने लगा ।

सुदर्शन सेठ की पत्नी मनोरमा को जब इस बात का पता चला कि सुदर्शन सेठ पर कलंक आया है और उन्हें फाँसी की सजा हुई है, तो उसी समय उसने यह अभिग्रह ले लिया कि ***जब तक मेरे स्वामी का कलंक दूर नहीं***

होगा तब तक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर मैं कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ी रहूंगी ।

इधर सुदर्शन सेठ को नगर में चारों ओर घुमाने के बाद उन्हें श्मशान घाट पर ले जाया गया और वहाँ पर उन्हें फाँसी के फंदे पर चढ़ाने की तैयारी की जाने लगी ।

अपनी आँखों के सामने मौत को घूमती हुई देखने पर भी सुदर्शन अपने सन्मार्ग से लेश भी विचलित नहीं हुए । वे शुभ ध्यान में लीन बने रहे । ऐसी परिस्थिति में भी उन्होंने राजा या अभया या कपिला के प्रति लेश भी अशुभ विचार नहीं किया ।

उनके शीलधर्म के प्रभाव से तत्काल शूली का फंदा सिंहासन में बदल गया । यह चमत्कार देखकर सभी दंग रह गए । राजा भी वहाँ पर उपस्थित हुआ ।

शासनदेवी ने घोषणा की, **'इस शीलवान श्रेष्ठी के विरुद्ध जो भी बुरा सोचेगा, उसके प्राण ले लिये जाएंगे ।'**

राजा ने महोत्सवपूर्वक सुदर्शन सेठ का नगर में प्रवेश कराया । अंत में संसार से विरक्त बने सुदर्शन सेठ ने भागवती दीक्षा स्वीकार की और सुंदर संयम धर्म की आराधना के फलस्वरूप सकल कर्मों का क्षय कर शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया ।

मनोरमा महासती ने भी दीक्षा अंगीकार की और वह भी अंत में मोक्ष में गई ।

कपिला व अभयारानी के जाल में फँसे बिना निर्मल शीलधर्म का पालन करने वाले सुदर्शन सेठ का शीलपालन जगत् के लिए परम आदर्श रूप है ।

35. प्रत्येकबुद्ध करकंडु

यद्यपि मोक्ष में रहे सिद्धात्माओं में
किसी प्रकार का भेद नहीं होता है,
परंतु उनके पूर्वभव की
अवस्था विशेष का ध्यान रखते हुए
सिद्धों के पंद्रह भेद बताए गए हैं ।
उन 15 भेदों में
प्रत्येकबुद्ध भी आते हैं ।
प्रत्येकबुद्ध बहुत ही कम होते हैं ।

❑ कुछ निमित्त को पाकर
प्रतिबोध पानेवाले **'प्रत्येकबुद्ध'** कहलाते हैं ।
करकंडु मुनि भी
प्रत्येकबुद्ध हैं, जो एक
वयोवृद्ध बैल को देखकर
प्रतिबोध पाए थे ।

❑ निर्मल संयम धर्म की आराधना-उपासना कर
जिन्होंने
शाश्वत अजरामर मोक्षपद
प्राप्त किया था ।

कोऽपि भव्यजनो वीक्ष्य, त्रिजगत् क्षणभङ्गुरम् ।
गृह्णाति संयमं सद्यः करकण्डूमहीशवत् ।।

चंपापुरी नगरी ।

दधिवाहन राजा ! पद्मावती रानी, जो चेटक राजा की पुत्री थी ।

पद्मावती रानी गर्भवती हुई ! गर्भ के प्रभाव से महारानी को `स्वयं हाथी पर बैठी हो और राजा मस्तक पर छत्र धारण कर भ्रमण करे ।' इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ ।

लज्जा के वश से महारानी अपना दोहद महाराजा को कहने में असमर्थ थी, अतः दोहद की पूर्ति नहीं होने से महारानी की देहलता धीरे धीरे कृश बनती जा रही थी । आखिर एक दिन महाराजा ने पूछ ही लिया, ``देवी ! तुम्हारी काया दिन-प्रतिदिन कृश क्यों हो रही है ?''

महाराजा के पूछने पर आखिर महारानी ने गर्भ के प्रभाव से उत्पन्न दोहद की बात कह दी ।

महारानी के दोहद की पूर्ति के लिए महाराजा ने सारी व्यवस्था कर दी । महारानी को हाथी पर बिठाकर राजा स्वयं महारानी के मस्तक पर छत्र धारणकर वन-विहार के लिए निकल पड़ा ।

जंगल में जाने के बाद उस हाथी को विंध्याचल पर्वत याद आ गया,

अतः वह हाथी राजा-रानी को लेकर खूब दूर जंगल में चला गया । इस स्थिति को देख राजा-रानी चिंतातुर हो गए ।

राजा ने सोचा, **'ऐसी स्थिति में अब क्या किया जाय ?'**

राजा ने सोचा, **''सामने बड़ का वृक्ष आ रहा है अतः क्यों न उसकी डाल को पकड़कर नीचे उतर जाऊँ ?''** इस प्रकार विचार कर उसने महारानी को भी बात कर दी ।

कुछ ही क्षणों में वह हाथी बड़ वृक्ष के नीचे आ गया । तुरंत ही राजा ने उसकी डाल पकड़ ली, परंतु रानी वृक्ष की डाल को पकड़ नहीं पाई । राजा डाल के सहारे नीचे उतर आया, परंतु रानी हाथी पर ही बैठी रही । हाथी के सहारे वह दूर जंगल में चली गई ।

आगे बढ़ने पर एक तालाब आया । वह हाथी पानी पीने के लिए तालाब के किनारे पहुँचा । उस समय अवसर देखकर रानी हाथी पर से नीचे उतर गई ।

चारों ओर जंगल के वातावरण को देखकर रानी भयभीत हो गई ।

रानी कर्म की विचित्र गति के बारे में सोचने लगी, ``अहो ! कहाँ राजमहल और कहाँ यह जंगल ! भाग्य के आगे किसी की नहीं चलती है । इस प्रकार धैर्य धारण कर उस महारानी ने अरिहंत आदि चार की शरणागति को स्वीकार कर सागारिक अनशन स्वीकार लिया ।

पास ही में एक तापस का आश्रम था । आगे बढ़ती हुई महारानी तापस के आश्रम में चली गई ।

रानी ने उस तापस-आश्रम में प्रवेश किया । कुलपति ने रानी का परिचय पूछा । रानी ने सब कुछ बतला दिया । महारानी कुछ दिन तापस के आश्रम में रही ।

एक दिन रानी ने पूछा, ``यह मार्ग कहाँ जाता है !''

तापस ने कहा- ``यह मार्ग दंतपुर जाता है । वहाँ दंतचक्र राजा है । वहाँ से तुम चंपानगरी में जा सकोगी ।''

पद्मावती रानी पैदल ही दंतपुर नगर में पहुँच गई । सद्भाग्य से नगर में प्रवेश के साथ ही साध्वीजी म. का योग मिल गया । वह साध्वीजी भगवंत के साथ उपाश्रय में चली गई ।

साध्वीजी भगवंत ने उसे संसार की असारता और मोक्ष की उपादेयता समझाई, जिसे सुनकर पद्मावती रानी को संसार के प्रति वैराग्यभाव पैदा हो गया। वह दीक्षा के लिए तैयार हो गई। दीक्षा के पूर्व उसने अपने गर्भ की बात किसी को नहीं कही ! साध्वीजी म. के पास पद्मावती ने दीक्षा ले ली।

दीक्षा के बाद जब उसके शरीर पर गर्भ के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे, तब प्रवर्तिनी ने पूछा- ``यह क्या ?''

उसने कहा, ``दीक्षा पूर्व ही मैं सगर्भा थी। दीक्षा में अंतराय के भय से मैंने गर्भ की बात नहीं कही थी।''

महत्तरा साध्वी ने पद्मावती साध्वी को गुप्त रखा। एक दिन उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया।

महत्तरा साध्वी ने उसे कहा, ``यदि इस बालक का तुम पालन करोगी तो शासन की भयंकर हीलना होगी। यदि किसी को देंगे तो भी हम पाप में निमित्त बनेंगी अतः क्यों न सावधानी पूर्वक इसे नगर के बाहर छोड़ दिया जाय ?''

महत्तरा साध्वी की बात पद्मावती को जँच गई। वह उस बालक को नगर के बाहर श्मशान भूमि में ले गई और वहाँ पिता राजा के नाम से अंकित महारत्न के साथ उस बालक को छोड़ दिया।

थोड़ी ही देर में जनगम नाम का चांडाल वहाँ पर आया। उस चांडाल के कोई संतान नहीं थी। वह उस बालक को उठाकर ले गया और उसने वह बालक अपनी पत्नी को सौंप दिया। गुप्त रीति से यह सारी घटना पद्मावती साध्वी ने जान ली।

वह बालक चांडाल के घर पर धीरे-धीरे बड़ा होने लगा।

उस बालक को अपने शरीर में खुजली आती थी। वह अपने साथियों के पास अपने शरीर में उनके हाथों से खुजलाता था, अतः उस चांडाल बालक का नाम करकंडु पड़ गया। छह वर्ष का वह बालक पिता की आज्ञा से श्मशान भूमि का रक्षण करता था।

श्मशान भूमि में बाँस के वृक्ष थे। एक बार दो मुनि उस श्मशान भूमि पर आए और अपने निमित्त ज्ञान के बल से बोले, ``इस बाँस को मूल से चार अंगुल छोड़कर, बाँस के चार अंगुल पर्व को ग्रहण करेगा, वह भविष्य में

अवश्य राजा बनेगा ।'' इस बात को करकंडु और एक ब्राह्मण ने सुन लिया ।

ज्योंही वह ब्राह्मण उस बाँस को काटने लगा, त्योंही करकंडु ने आकर उसे रोक दिया ।

करकंडु ने कहा, ``इस बाँस को तो मैंने पाला–पोसा है, तुम इसे क्यों काटते हो ?''

आखिर उनका झगड़ा राजदरबार में पहुँच गया । उन दोनों ने अपनी-अपनी बात राजा के सामने प्रस्तुत की । राज्य-प्राप्ति की बात को मजाक समझकर हँसते हुए राजा ने कहा, ``चांडालपुत्र ! यदि तू राजा बन जाय तो इस ब्राह्मण को एक गाँव दे देना । यह बाँस चांडालपुत्र का है ।''

वह ब्राह्मण किसी भी उपाय से चांडालपुत्र को खत्म करना चाहता था । इस बात की गंध चांडालपुत्र को आ गई, अतः मौत से बचने के लिए करकंडु अपने माता-पिता आदि परिवार के साथ कांचनपुर नगर में चला गया ।

कांचनपुर नगर के महाराजा की अकाल-मृत्यु हो गई । राजा के कोई संतान नहीं थी, अतः मंत्रियों ने पाँच दिव्य किये । उन सभी दिव्यों के द्वारा करकंडु को राजा बनाया गया । करकंडु का विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया गया । सभी प्रजाजनों ने करकंडु को राजा के रूप में स्वीकार किया, परंतु ब्राह्मण लोग `यह तो चांडालपुत्र है'' मानकर उसे राजा मानने के लिए तैयार नहीं हुए ।

गुस्से में आकर उन ब्राह्मणों ने अपने हाथ में लाठियाँ उठा लीं । तभी देवता अधिष्ठित होने से अग्नि की बरसात हुई । यह देख सभी ब्राह्मण भयभीत हो गए और बोले, ``हे राजन् ! आप वर्णाश्रम के आचार्यदेव हो ! आप ही शंकर हो, आप ही विष्णु हो, आप ही प्रजापति हो ! आप ही साक्षात् तेज हो ।''

इस प्रकार जब ब्राह्मणों ने राजा को विज्ञप्ति की, तब राजा ने कहा, ``जिनको मैं राजा के रूप में सम्मत हूँ, वे सब मान्य हैं, अन्य सभी वध्य हैं ।''

राजा के इस कोप को जानकर मौत के भय से अत्यंत भयभीत बने उन ब्राह्मणों ने कहा, ``आप हम सबको मान्य हो ।''

राजा ने कहा, ``इन सभी चांडालों को तुम ब्राह्मण बना दो ।''

तभी भयभीत बने ब्राह्मणों ने कहा, ``आपकी आज्ञा स्वीकार्य है, परंतु लोक में व्यवहार बलवान है ।''

तब सोचकर राजा ने कहा, ``इस वाट घानक में रहनेवाले सभी चांडालों को जनगम ब्राह्मण बना दो ।'' इस प्रकार राजा के कहने पर आकाश से पुष्पवृष्टि हुई ।

राजा की आज्ञा से उन ब्राह्मणों ने उन चांडालों को ब्राह्मण बना दिया ।

करकंडु राजा न्याय व नीति पूर्वक राज्य करने लगा ।

करकंडु को राज्य की प्राप्ति जानकर वह ब्राह्मण राजा के पास आकर एक गाँव की याचना करने लगा ।

राजा ने उसे कहा, **``तुम चंपा में जाओ, मेरे निर्देश से वहाँ का राजा तुझे एक गाँव दे देगा ।''**

वह ब्राह्मण चंपानगरी में गया और उसने करकंडु के निर्देश से दधि-वाहन राजा के पास एक गाँव की माँग की ।

इस बात को सुनकर दधिवाहन राजा को गुस्सा आ गया । वह बोला- **``अहो ! वह करकंडु राजा मूर्ख लगता है, जो मुझे इस प्रकार की आज्ञा करता है । तू दूत है, अतः अवध्य है । युद्ध में उसके प्राण ग्रहण करके ही मैं तुम्हें गाँव दूंगा ।''**

उस ब्राह्मण ने जाकर ये सब बातें करकंडु राजा को कही ! यह सब सुनकर वह गुस्से में आ गया और तत्काल ही दधिवाहन राजा से युद्ध करने के लिए तैयार हो गया ।

अपने विराट् सैन्य के साथ करकंडु ने चंपानगरी की ओर प्रस्थान किया और क्रमशः आगे बढकर चंपानगरी घेर ली ।

दधिवाहन राजा भी युद्ध के लिए तैयार हो गया ।

पिता-पुत्र के बीच होने वाले भयंकर युद्ध में अनेक जीवों के संहार को देखकर पद्मावती साध्वी को बड़ा खेद हुआ । उस युद्ध को टालने के लिए पद्मावती साध्वी सर्वप्रथम अपने पुत्र करकंडु के पास गई और बोली, **``मैं तुम्हारी जन्मदात्री सांसारिक माता हूँ और वे दधिवाहन राजा तुम्हारे पिता हैं ।''**

मुद्रारत्न को देखने से करकंडु को साध्वीजी म. के वचनों पर विश्वास आ गया ।

उसके बाद पद्मावती साध्वी राजा को प्रतिबोध करने के लिए नगर में गई और राजा से बात की ।

राजा ने सद्भाव-बहुमान पूर्वक साध्वीजी भगवंत को प्रणाम किया ।

राजा ने पूछा, ``तुमने संयम कैसे लिया और अपना वह पुत्र कहाँ है ?''

साध्वीजी म. ने कहा, ``इस नगर को जिसने घेरा है, वोही आपका (अपना) पुत्र है ।''

इस सत्य का ख्याल आते ही दधिवाहन राजा पैदल ही नगर के बाहर आ गया और उसी समय करकंडु राजा भी अपने पिता के सम्मुख आगे बढ़ा और आगे चलकर पिता के चरणों में गिर पड़ा । पिता भी अपने पुत्र को प्राप्तकर खुश हो गए ।

दधिवाहन राजा ने बड़े आडंबर के साथ पुत्र का नगर में प्रवेश कराया । उसके बाद सांसारिक भौतिक सुखों से विरक्त बने दधिवाहन राजा ने अपना सारा राज्य करकंडु पुत्र को सौंपकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

करकंडु ने न्याय-नीतिपूर्वक दोनों राज्यों का पालन किया ।

उसके राज्य में बहुत से गोकुल थे । एक बार एक वृद्ध व अत्यंत कमजोर बने हुए सांड को देखकर राजा ने सोचा, **``अहो ! कुछ समय पहले यह सांड कितना बलवान था...और आज यह कितना कमजोर हो गया है !''** कुछ ही समय बाद उस सांड को मरे हुए देखा । यह दृश्य देखकर उनका मन वैराग्य भाव से भावित हो उठा ।

अन्य अनेक उपायों से वस्तु का रक्षण किया जा सकता है, परंतु रोग और मृत्यु से बचाने वाला इस दुनिया में कोई नहीं है । यह जीवन क्षणभंगुर है, यह देह नाशवंत है, इस प्रकार विचार करते हुए उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया । जातिस्मरण ज्ञान से उन्हें अपना पूर्व भव स्पष्ट दिखाई देने लगा ।

संसार से विरक्त बने करकंडु को उसी समय देवता ने आकर साधु-वेष प्रदान किया । बस, साधुवेष स्वीकार कर उन्होंने निर्मल संयम धर्म का दृढ़ता पूर्वक पालन किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

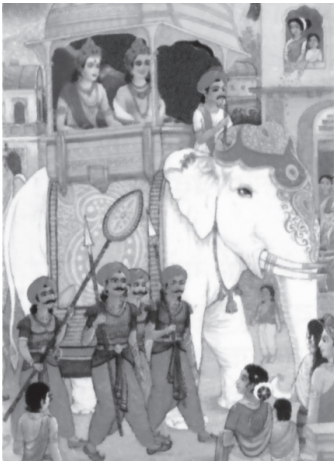

36-37.
हल्ल-विहल्ल

कस्यापि कोऽपि हेतुः स्यात् वैराग्ये भववस्तुषु ।
गजमृत्युः परित्यज्य यथा हल्लविहल्लयोः ।।

राजगृही नगर में श्रेणिक महाराजा ने अपने दिव्य कुंडल की जोड़ी, अठारह सरा दिव्यहार, दिव्य वस्त्र और सेचनक हाथी हल्ल-विहल्ल को दे दिये थे, इससे रोषायमान होकर कोणिक ने श्रेणिक को जेल के सिकंजों में बंद कर दिया था ।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कोणिक ने चंपानगरी को अपनी राजधानी कर ली और वहाँ काल-महाकाल आदि दस भाइयों के साथ रहने लगा ।

एक बार विहल्लकुमार सेचनक हाथी पर सवार होकर जलक्रीड़ा के लिए गंगातट पर गया था । वह दिव्य आनंद लूट रहा था । विहल्लकुमार के वैभवी ठाट को देख कुछ लोग बोलने लगे, `राजलक्ष्मी का आनंद तो विहल्लकुमार भोग रहा है, कोणिक तो नाम का राजा है ।' लोगों की यह चर्चा पद्मावती रानी तक पहुँची । वह एकदम उदास हो गई ।

कोणिक ने पूछा, `देवी ! तू इतनी चिंतातुर क्यों है ?'

उसने कहा, ``मैं राजरानी हूँ, परंतु राजमहिषी का कोई चिह्न मेरे पास नहीं है । सेचनक हाथी, दिव्य हार, दिव्य कुंडल और दिव्य वस्त्र सब कुछ तुम्हारे छोटे भाई के पास हैं ।''

कोणिक ने पद्मावती को समझाते हुए कहा, `राज्य की पूरी सत्ता मेरे

हाथों में है, तेरे सिर पर राजमहिषी का ताज है । दो-चार वस्तुएँ यदि मेरे पास नहीं हैं और छोटे भाइयों के पास है तो क्या फर्क पड़ता है ?

पद्मावती ने कहा, `उस हाथी और हार के आगे इस राज्य की भी क्या कीमत है ? जब तक ये वस्तुएँ मुझे प्राप्त नहीं होंगी तब तक मेरी उदासीनता दूर नहीं होगी ?'

एक ओर पत्नी और दूसरी ओर भाई ! कोणिक चिंता में पड़ गया । कौनसा मार्ग पसंद करूँ ? आखिर स्त्री-हठ के आगे उसको झुकना पड़ा । उसने महारानी को आश्वासन दिया कि शीघ्र ही ये वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त हो जाएगी ।

कोणिक ने हल्ल-विहल्ल को बुलाकर कहा, `तुम्हारे पास सेचनक हाथी, दिव्य हार, दिव्य कुंडल और दिव्य वस्त्र हैं, वे मुझे दे दो और उसके बदले कुछ भी वस्तु माँग लो ।

हल्ल-विहल्ल ने कहा, `वे तो पिताजी के द्वारा दी गई भेंट हैं-इन्हें कैसे दे दें ?'

कोणिक ने कहा, `इनकी मुझे आवश्यकता हैं-तुम्हे देनी पडेंगी ।

हल्ल-विहल्ल ने सोचा, `ओहो ! अब खतरे की घंटी बज चुकी है । अब यहाँ रहने में सुरक्षा नहीं है ।' इस प्रकार विचार कर अंतःपुर और सेचनक हाथी आदि को लेकर वैशाली के राजा चेटक महाराजा की शरण में पहुँच गए और सारी बात सुनाकर कहा, `हम आपकी शरण में आए हैं, आप हमारी रक्षा करें ।' सारी घटना सुनकर चेटक राजा को बड़ा दुःख हुआ उन्होंने कहा, `तुम मेरी शरण में आए हो तो तुम्हारी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है, तुम निश्चिंत रहो ।'

इधर कोणिक को ज्योंही पता चला कि हल्ल-विहल्ल सेचनक हाथी लेकर भाग गए हैं । उसके क्रोध का पार न रहा । उसने अपना दूत भिजवाकर चेटक राजा को कहलाया, `हल्ल-विहल्ल भागकर आपके पास आए हैं । साथ में सेचनक हाथी, दिव्यहार आदि लेकर आए हैं, जो चंपानरेश की संपत्ति है, आप उसे लौटा दीजिए ।'

चेटक ने कहा, `सेचनक हाथी आदि तो हल्ल-विहल्ल को उनके पिता ने दिए हैं, अतः उनकी अपनी संपत्ति है । वे मेरी शरण में आए हैं, अतः उनका रक्षण करना मेरा फर्ज है ।'

चेटक का जवाब सुनकर कोणिक का गुस्सा आसमान पर चढ़ गया । मंत्रियों के समझाने पर उसने पुनः अपना दूत भेजा, पुनः चेटक का वो ही जवाब आया । आखिर कोणिक युद्ध के लिए तैयार हो गया ।

कोणिक ने अपने कालकुमार आदि सभी 10 भाइयों को युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दिया । आदेश पाकर सभी भाई युद्ध के लिए तैयार हो गए । सभी के पास तीन हजार हाथी, घोड़े और रथ थे । इस प्रकार कुल 33000 रथ, 33000 हाथी और 33000 घोड़े और 33 करोड़ पदाति सेना थी ।

राजा चेटक भी अपने नौ मल्ली और नौ लिच्छवी राजाओं के साथ युद्ध के लिए तैयार हो गया । चेटक के पास भी 57000 रथ 57000 हाथी और 57000 घोड़े और 57 करोड़ पदाति सेना थी ।

युद्ध के पहले दिन कोणिक की ओर से कालकुमार सेनापति बना । उसने गरुडव्यूह की रचना की, चेटक ने शकट व्यूह की रचना की । चेटक के अमोघबाण से कालकुमार धराशायी हो गया ।

चेटक ने श्रावकजीवन के अलंकार स्वरूप बारहव्रतों का स्वीकार किया था । राज्य की जवाबदारी के कारण उन्हें युद्ध करना पड़ता था, परंतु उन्होंने एक अभिग्रह धारण किया था **'मैं निरपराध पर बाण नहीं चलाऊंगा और अपराधी शत्रु पर भी एक दिन में एक ही बाण चलाऊंगा ।**

चेटक के अमोघ बाण से दूसरे दिन महाकाल, तीसरे दिन कृष्णकुमार फिर सुकृष्णकुमार, क्रमशः महाकृष्णकुमार, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, सेनकृष्ण, महासेन और कृष्णकुमार ये सभी भाई सेनापति बनकर आए और चेटक के अमोघ बाणों के शिकार बनते गए । कोणिकसेना में हाहाकार मच गया ।

इस संग्राम में पहले दिन 96 लाख और दूसरे दिन 84 लाख योद्धाओं का नाश हुआ ।

कोणिक हताश हो गया । आखिर उसने तीन उपवास कर पूर्व मित्र शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की ।

उन इन्द्रों ने कहा, `चेटक हमारा साधर्मिक है अतः उसे खत्म तो नहीं कर सकते हैं, परंतु तुम्हारे रक्षण के लिए अभेद्य कवच बना सकते हैं, जिससे तुम्हारा रक्षण हो सके ।'

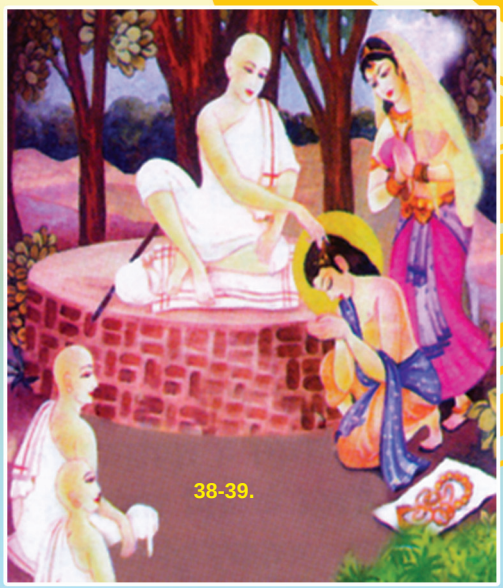

(38-39) साल-महासाल
पृष्ठ नं. 232

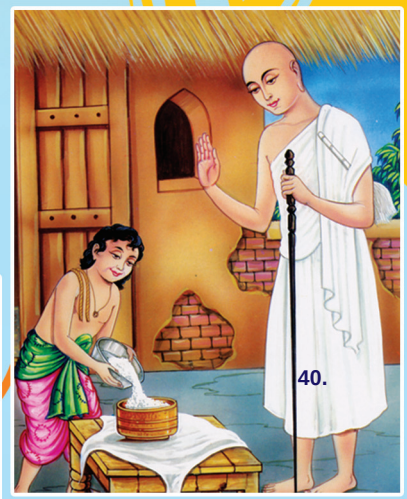

(40) शालिभद्र-पृष्ठ नं. 234

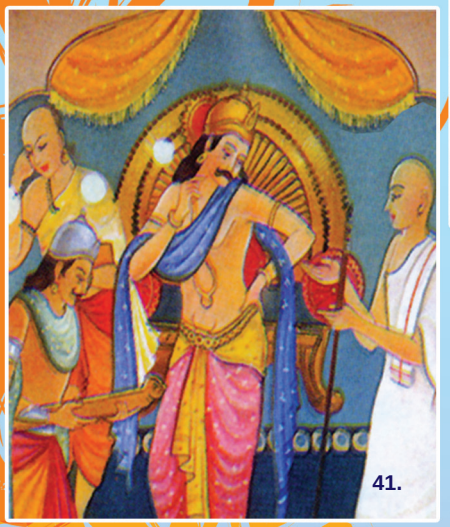

(41) भद्रबाहुस्वामीजी-पृष्ठ नं. 245

श्री शालिभद्र की सज्झाय

बोलो बोलो रे शालिभद्र दो वरिया, दो वरीया दो चार वरिया ।।१।।
माय तुम्हारी खडीय पुकारे, वहुअर सब आगे खडीआ बोलो० ।।२।।
पोढ्यो पुत्र शिला पट देखी, आंखे आंसु जळहळीया बोलो० ।।३।।
फुलनी शय्या जेहने खूंचती, तेणे संथारो शिला करीया बोलो० ।।४।।
पूरव भव माडी आहीरणी, आहार करी अणसण करीया बोलो० ।।५।।
आज पीछे डुंगर चडने की, सुंस करूं हुं इण वरीया बोलो० ।।६।।
सनमुख खोल जोयो नहीं माकुं, ध्यान निरंजन मन धरीया बोलो० ।।७।।
काज सरे **उदयरत्न** उन्ही के, जाणे पलक में शिव वरीया बोलो० ।।८।।

इन्द्र के अभेद्य कवच को धारणकर कोणिक युद्ध के मैदान में आया ।

चेटक ने कोणिक पर बाण-प्रहार किया, परंतु वह प्रहार निष्फल गया । अपना प्रहार निष्फल जाने से चेटक को बड़ा खेद हुआ । नियम होने से दूसरा बाण छोड़ नहीं सकता था, उसे अपना भविष्य अंधकारमय दिखने लगा ।

चेटक ने सोचा, `अब कोणिक को जीतना मुश्किल है । उसने अपने सैन्य को वापस मुड़ने का संकेत कर दिया । सेना ने वैशाली में प्रवेश कर लिया । नगर में प्रवेश कर चेटक ने नगर के द्वार बंद कर दिए ।

कोणिक हताश हो गया । उसने वैशाली को चारों ओर से घेर लिया ।

हल्ल-विहल्ल रात्रि के समय में सेचनक हाथी पर चढ़कर नगर बाहर आए । उन्होंने कोणिक की सोयी हुई सेना पर खूब प्रहार किया । सैकड़ों सैनिकों को खत्म कर पुनः नगर में घुसकर द्वार बंद कर दिए ।

इस प्रकार गुप्त रीति से हल्ल-विहल्ल कोणिक के सैनिकों को मारने लगे ।

इस आकस्मिक उपद्रव से कोणिक चिंतातुर हो गया । सेना की सुरक्षा के लिए कोणिक ने चारों ओर खाई खुदाई और उसमें धधकते हुए अंगारे डाल दिए ।

रात के समय में हल्ल-विहल्ल सेचनक हाथी पर बैठकर आए । उन्हें कोणिक के षड्यंत्र का ख्याल नहीं था । हाथी को विभंगज्ञान से इस बात का पता चल गया । इसलिए वह वहीं रुक गया ।

हल्ल-विहल्ल हाथी पर अंकुश का तीव्र प्रहार करने लगे परंतु हाथी थोड़ा भी आगे नहीं बढ़ा ।

गुस्से में आकर हल्ल-विहल्ल ने अंकुश के प्रहारों से उसे घायल कर दिया और उसे फटकारने लगे, **'अरे दुष्ट ! तेरे लिए तो यह बला मोल ली । वंश का नाश किया और आज तू ही धोखा दे रहा है ?'**

स्वामी के कठोर वचनों से हाथी का हृदय बिंध गया । उसने दोनों राजकुमारों को सूंड में पकड़कर नीचे गिरा दिया और स्वयं धधकती खाई में कूद पड़ा ।

हाथी के गिरते ही अग्नि की ज्वालाएँ धधक उठीं । राजकुमारों को सत्य समझ में आते देर नहीं लगी । उन्हें खूब आत्मग्लानि हुई । वे अपने आपको धिक्कारने लगे, `अहो ! हम पशु से भी अज्ञानी निकले । खाई के भेद को पहिचान नहीं पाए । उसके आत्मदाह में हम निमित्त बने । आत्मग्लानि से व्यथित बने उन्हें संसार से भी वैराग्य भाव पैदा हो गया ।

शासनदेवी ने उन दोनों राजकुमारों को भगवान महावीर के समवसरण में पहुँचा दिया । दोनों ने प्रभु-चरणों में दीक्षा अंगीकार की । कठोर तप कर सर्वार्थसिद्ध विमान में पहुँच गए ।

कोणिक ने विशालानगरी के नाश की प्रतिज्ञा की । उस समय देवी ने कोणिक को कहा, `यदि मागधिका वेश्या कुलवालक मुनि को भ्रष्ट कर यहाँ लाए तो विशालानगरी जीत सकते हो, अन्यथा नहीं ।'

कोणिक ने मागधिका वेश्या को बुलाया और कुलवालक मुनि को चारित्रभ्रष्ट करने की आज्ञा दी ।

वेश्या कपटी श्राविका बनकर तीर्थयात्रा के दंभ से कुलवालक मुनि के पास आई ।

मुनि को वंदन कर बोली, ``मैं तीर्थों की यात्रा करती हुई यहाँ आई हूँ, आप मुझे गोचरी का लाभ दें ।''

उस कपटी वेश्या ने मुनि को चूर्ण मिश्रित मोदक बहोराया । उस मोदक से मुनि को खूब दस्तें लगी । छोटी-छोटी गणिकाएँ मुनि की वैयावच्च करने लगीं । उनके देह के स्पर्श आदि से मुनि चारित्र से भ्रष्ट हो गए ।

गणिका कुलवालक मुनि को लेकर कोणिक के पास आई । कोणिक ने कहा, ``विशाला को जीतने का उपाय बताओ ।''

कोणिक को जीत का आश्वासन देकर मुनि विशाला में गए । वहाँ मुनिसुव्रत स्वामी का स्तूप देखा । उन्होंने सोचा, ``इस स्तूप के प्रभाव से ही यह नगर अजेय है, अतः इसका नाश होना चाहिए ।''

गाँव में घूमते हुए मुनि को लोगों ने पूछा, ``इस नगर का उपद्रव कब दूर होगा ?''

मुनि ने कहा, ``यह स्तूप गिरेगा तो उपद्रव दूर होगा ।'' लोग उस स्तूप को तोड़ने लगे । लोगों का विश्वास जीतने के लिए मुनि के संकेत से कोणिक का सैन्य थोड़ा पीछे हट गया । इससे लोगों को विश्वास आ गया । लोगों ने कुर्मशिला तक उस स्तूप को नष्ट कर दिया । बस, लोगों ने 12 वर्ष बाद नगर के द्वार खोल दिये ।

उसी समय कोणिक ने आकर नगर पर हमला किया-उस समय भयंकर युद्ध हुआ । उस युद्ध में 1 करोड़ 80 लाख सैनिक मारे गए ।

विशालानगरी की पराजय देख चेटक राजा भागने की तैयारी कर रहे थे, तभी कोणिक ने कहा, ``मातामह ! मुझे आज्ञा करो ! मैं आपका पुत्र हूँ ।''

चेटक ने कहा, **``तुम ठहरो ! मैं अभी बावड़ी में स्नान करके आता हूँ ?''** इतना कहकर लोहे की पुतली को गले में बाँधकर बावड़ी में कूद पड़े । धरणेन्द्र ने उन्हें बचा लिया । आखिर अनशन कर चेटक राजा आठवें देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव बने ।

कुलवालक मुनि चारित्रभ्रष्ट होकर दुर्गति में चले गए ।

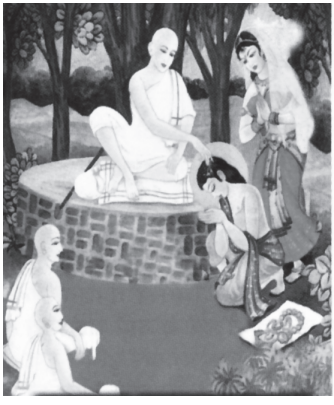

38-39. साल-महासाल

भावनां भावतोऽनित्यादिकां भावयतां नृणाम् ।
ज्ञानं शाल महाशाल साधूनामिव जायते ।।

श्रमण भगवान महावीर प्रभु अपने चरण-कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे ।

एक बार प्रभु विहार करते हुए **पृष्टचंपा** नगरी में पधारे । उस समय उस नगर में **'साल'** राजा राज्य करता था । उसने अपने छोटे भाई **'महासाल'** को युवराज के पद पर स्थापित किया था ।

प्रभु के आगमन को सुनकर साल राजा अपने विशाल परिवार के साथ प्रभु को वंदन करने के लिए आया । प्रभु को वंदन करने के बाद वीरप्रभु की धर्मदेशना का अमीपान करने के लिए योग्य स्थान पर बैठ गया ।

सर्वज्ञ महावीर प्रभु ने अपनी धर्मदेशना आरंभ की । प्रभु ने अपनी देशना के अन्तर्गत संसार के भयानक रौद्र स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया कि जिसे सुनते-सुनते ही साल महाराजा का मन इस संसार से उदासीन बन गया । उन्होंने तुरंत ही मनोमन दीक्षा अंगीकार करने का निर्णय ले लिया ।

साल राजा अपने छोटे बंधु `महासाल' को राज्य-भार सौंपने लगे, परन्तु महासाल को जैसे ही पता चला कि मेरे ज्येष्ठ बन्धु भौतिक-साम्राज्य का परित्याग कर आत्मा के अखण्ड साम्राज्य को पाने के लिए उत्सुक बने हैं, तुरंत ही महासाल ने कह दिया, ``मैं इस राज्य के भार को वहन नहीं करूंगा, मैं तो आप ही के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार कर आत्मा के अखण्ड साम्राज्य का भोक्ता बनूंगा । मुझे यह बाह्य साम्राज्य निःसार प्रतीत हो रहा है । प्रभु की वैराग्यमय देशना-श्रवण के बाद मेरा भी मन इस भौतिक संसार से उठ गया है ।''

आखिर उन दोनों भाइयों ने अपनी बहिन-यशोमती और बहनोई पीठर के पुत्र भाणेज गागली को राज्य की समस्त जवाबदारी सौंपकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । दीक्षा अंगीकार करने के बाद साल व महासाल मुनि निरतिचार संयमधर्म की आराधना करने लगे ।

एक बार प्रभु चंपानगरी में पधारे । प्रभु की आज्ञा स्वीकार कर लब्धिनिधान श्री गौतम स्वामी प्रभु **पृष्टचंपा** में पधारे । गौतम स्वामी एवं अपने सांसारिक मामा महाराज साल व महासाल के आगमन को सुनकर गागली राजा खुश-खुश हो गया और उसने गौतम स्वामी आदि का भावभीना स्वागत किया ।

गौतम स्वामी भगवंत ने अपनी धर्मदेशना आरंभ की । गौतम स्वामी भगवंत की धर्मदेशना को सुनकर गागली का मन संसार से विरक्त हो उठा और उसने दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया । गागली के इस संकल्प को देखकर उसके माता-पिता यशोमती व पीठर ने भी दीक्षा का निर्णय कर लिया । गौतम स्वामी भगवंत ने उन तीनों को भागवती दीक्षा प्रदान की और उसके बाद वे प्रभु को वंदनार्थ चंपानगरी की ओर आगे बढ़े ।

बीच मार्ग में शुभ अध्यवसायों की धारा में आगे बढ़ते हुए साल-महासाल एवं नूतन दीक्षित तीनों मुनि शुक्ल ध्यान की धारा में चढ़ गए और उसी समय क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ उन पाँचों के घाती कर्म क्षीण हो गए और वे केवली बन गए ।

गौतम स्वामी भगवंत को इस बात का पता ही नहीं था ।

क्रमशः विहार कर आगे बढ़ते हुए गौतम स्वामी आदि चंपानगरी में पधारे, वहाँ वीर प्रभु का समवसरण रचा हुआ था ।

सभी ने प्रभु को प्रदक्षिणा दी । तत्पश्चात् साल-महासाल आदि पाँचों केवली पर्षदा की ओर बढ़ने लगे । तभी गौतमस्वामी ने उन्हें कहा, ``प्रभु को वंदन करो ।''

तभी प्रभु ने कहा, ``हे गौतम ! केवली की आशातना मत करो ।''

प्रभु के इन वचनों को सुनते ही गौतमस्वामी के आश्चर्य का पार न रहा । क्या इन सभी को केवलज्ञान हो गया ? ``ओहो ! सभी को केवलज्ञान और मुझे ही नहीं ।''

गौतमस्वामी अभी छद्मस्थ थे । वे चार ज्ञान के धारक थे । परन्तु वे जिस किसी को दीक्षा देते, उसे केवलज्ञान हो जाता । गौतम स्वामी को चिंता सताने लगी-``क्या मेरा इस भव में मोक्ष नहीं होगा ?''

प्रभु ने कहा, `गौतम ! चिंता मत करो, तुम्हें भी इसी भव में केवलज्ञान होगा ।'

उसी समय गौतम स्वामी भगवंत ने ``मिच्छामि दुक्कडम्'' कहकर अपनी भूल की क्षमा-याचना की ।

40. शालिभद्र

❑ सुपात्रदान का प्रत्यक्ष प्रभाव देखना हो तो
याद करें शालिभद्रजी को !
❑ दुर्लभता से प्राप्त खीर को अत्यंत ही भावपूर्वक
तपस्वी मुनि के पात्र में बहोरानेवाला
एक गोवाल-संगम मरकर शालिभद्र बना !
❑ सम्राट् श्रेणिक को भी Overtake कर दे
इतनी अमाप संपत्ति का मालिक **शालिभद्र !**
❑ देवांगनाओं जैसी 32
अप्सराओं का स्वामी **शालिभद्र** !
❑ एक छोटे से निमित्त को पाकर
जिसने अमाप समृद्धि और समस्त वैभव को
तिलांजलि दे दी और वे
श्रमण भगवान महावीर प्रभु के पथ के
अनुयायी बन गए ।
❑ कठोरतम तप द्वारा उन्होंने
मात्र अपने देह का ही शोषण नहीं किया,
बल्कि अपने कर्मों का भी शोषण कर
सवार्थसिद्ध विमान में चले गए ।
एकावतारी बनकर वे शीघ्र ही मोक्षपद प्राप्त करेंगे ।
❑ साधना की तलहटी अर्थात् दान से
साधना के शिखर अर्थात् पादपोपगमन
अनशन की साधना करनेवाले
शालिभद्र मुनि को लाख-लाख अभिवंदन !!!

ददानो भावतो दानं, यतिभ्यः शुद्धमेकदा ।
लभतेऽनर्गलां लक्ष्मीं, शालिभद्र इवाङ्गवान् ।।

राजगृही नगरी के आसपास एक छोटा सा शालिग्राम । उस गाँव में नाम से ही **धन्या** नाम की एक गरीब स्त्री अपने इकलौते बेटे **संगम** के साथ रहती थी ।

गरीबी में भी पेट अपना स्वभाव कहाँ छोड़ने वाला है ? वह इधर-उधर पास-पड़ोस में किसी का गृह-कार्य करके अपनी आजीविका पूरी करती थी ।

वह छोटासा बालक संगम भी नगरजनों के बछड़े आदि चराकर माँ को थोड़ीसी मदद करता था ।

एक दिन किसी उत्सव के निमित्त गाँव में घर-घर में खीर बनने लगी । बालक को जब इस बात का पता चला तो वह भी अपने घर आया और माँ से खीर की माँग करने लगा ।

माँ ने कहा, **''बेटा ! बड़ी मुश्किल से तो रोटी मिल पा रही है तो मैं तेरे लिए खीर कहाँ से लाऊँ ?''**

माँ ने संगम को समझाने की खूब कोशिश की परन्तु संगम माना नहीं, वह तो अपनी जिद पर अटल रहा । वह कहने लगा, **''आज तो घर-घर में खीर है तो अपने घर में क्यों नहीं ?''**

माँ सोचने लगी, **''मैं कितनी दुर्भागी हूँ कि बालक की इस छोटीसी इच्छा को भी पूर्ण करने में असमर्थ हूँ ।''** उसे अपनी पूर्वावस्था की समृद्धि की याद आ गई ।

``ओहो ! मेरे जीवन में भी वे कैसे दिन थे...जहाँ पानी माँगने पर दूध मिलता था...और आज दूध माँगने पर पानी भी सुलभ नहीं ?''

इस प्रकार सोचने वाली माँ की आँखों से श्रावण-भादों बरसने लगे और वह भी अपने बालक के साथ रोने लगी ।

संगम व धन्या के इस करुण रुदन को सुनकर आसपास के लोग इकट्ठे हो गए और उसके दुःख-दर्द की बात पूछने लगे ।

धन्या ने कहा, **``और तो कोई तकलीफ नहीं है किंतु बालक की इच्छा-पूर्ति करना मेरे वश की बात नहीं है, इसलिए मैं रो रही हूँ ।''**

धन्या की यह बात सुनकर पास-पड़ोस की स्त्रियों का हृदय दया से भर आया ।

तुरंत ही उन्होंने धन्या को खीर बनाने के लिए दूध, चावल, शक्कर आदि सामग्री प्रदान की ।

धन्या एकदम खुश हो गई । तुरंत ही उसने उस सामग्री से खीर तैयार की । थोड़ी ही देर में खीर तैयार हो गई ।

धन्या ने एक थाली में संगम को खीर परोस दी और वह पास-पड़ोस में काम करने के लिए चली गई ।

इधर संगम के सद्भाग्य से खींचकर मासक्षमण के तपस्वी महात्मा गोचरी बहोरने के लिए पधारे । संगम ने जैसे ही उन त्यागी-तपस्वी-संयमी महात्मा को देखा, वह एकदम खुश हो गया । वह महात्मा के पास दौड़कर चला गया और अपने घर पधारने के लिए अत्यंत ही भावपूर्वक विनती करने लगा ।

महात्मा ने उस छोटे से बालक के भाव देखे और तुरंत ही वे उसके साथ रवाना हो गए ।

संगम उन महात्मा को अपने घर ले आया । महात्मा ने अपना पात्र नीचे रखा और उसी समय अत्यंत ही उल्लास में आकर संगम ने थाली में रही वह सारी खीर महात्मा के पात्र में डाल दी ।

महात्मा तो ``बस करो, बस करो,'' कहते ही रहे और इधर उल्लास में आकर संगम ने वह सारी खीर महात्मा के पात्र में उलट दी ।

महात्मा ने उसे धर्मलाभ की आशिष दी और वे पात्र लेकर रवाना हो गए ।

इधर थोड़ी देर बाद जैसे ही माता घर पर आई, माँ ने देखा, `मेरा बेटा सारी खीर खा गया है ।' अतः माँ ने और खीर दी ।

संगम वह सारी खीर खा गया । रात्रि में उसे अजीर्ण हो जाने से पीड़ा होने लगी...परन्तु उस पीड़ा में भी उसे पुनः-पुनः दुर्लभता से प्राप्त मुनि-दान याद आने लगा और वह बारंबार उसकी अनुमोदना करने लगा ।

मुनि-दान और उस दान की भावपूर्वक अनुमोदना के प्रभाव से वह संगम मरकर उसी नगर में गोभद्रसेठ की पत्नी भद्रा की कुक्षि में पुत्ररूप में पैदा हुआ । पुत्र के उदर में आने पर माता ने स्वप्न में पके हुए चावल से भरे खेत को देखा । स्वप्न की बात उसने अपने पति को कही ।

पति ने कहा, ``प्रिये ! तू अल्पकाल में ही तेजस्वी पुत्ररत्न की माता बनेगी ।'' समय व्यतीत होने लगा !

...और एक शुभ दिन उसने रत्न की तरह चारों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । समय बीतने पर स्वप्न के अनुसार ही बालक का **`शालिभद्र'** नाम रखा गया ।

धीरे-धीरे शालिभद्र बड़ा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ उसका पुण्य बढ़ने लगा । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही शालिभद्र समस्त शस्त्र व शास्त्र कलाओं में निपुण बन गया और एक दिन नगर सेठों की बत्तीस कन्याओं के साथ शालिभद्र का पाणिग्रहण हो गया ।

शालिभद्र देवविमान तुल्य महल की 7वीं मंजिल पर रहने लगा और उन कन्याओं के साथ दिव्य भोग का अनुभव करने लगा ।

उसके पिता गोभद्र सेठ दीक्षित बने और अत्यंत समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर देव बने । पूर्वभव के स्नेह के कारण वे गोभद्र देव प्रतिदिन शालिभद्र को 99 पेटियाँ भेजने लगे ।

शालिभद्र प्रतिदिन अपनी पत्नियों के साथ दिव्य भोजन, दिव्य वस्त्र व दिव्य अलंकार धारण करने लगा ।

लोक-व्यवहार संबंधी सभी कार्य, भद्रा माता निपटा लेती और शालिभद्र दिव्य सुख में अपना समय बिताने लगा ।

एक बार नेपाल देश से रत्नकंबल का व्यापारी आया । उसके पास 16 रत्नकंबल थे और एक-एक रत्नकंबल की कीमत सवा लाख सोना मोहर थी ।

रत्नकंबल की अपनी अलग ही विशेषताएँ थीं । सर्दी में पहिनें तो सर्दी न लगे और गर्मी में पहिनें तो गर्मी न लगे ।

रत्नकंबल बेचने के लिए वह व्यापारी राजदरबार में पहुँचा...परन्तु उसका मूल्य सुनते ही श्रेणिक ने अपना मुँह फाड़ दिया । अरे ! प्रजा के पैसे कोई मौज-मजा करने के लिए थोड़े ही हैं ?...और श्रेणिक ने एक भी रत्नकंबल खरीदने से इन्कार कर दिया ।

व्यापारी निराश हो गया । उसने सोचा, `नगर का राजा भी जिस रत्नकंबल को नहीं खरीद सका तो उसकी प्रजा तो क्या खरीदेगी ? राजगृही में मेरा धंधा बेकार गया ।

इस प्रकार निराश होकर वह व्यापारी शालिभद्र की हवेली के पास से गुजर रहा था, तभी भद्रा माता ने उसे आवाज देकर बुलाया और कहा, **``भाई ! तुम्हारे पास क्या चीज है और तुम इतने निराश क्यों दिखाई देते हो ?''**

व्यापारी ने सोचा, ``इस माँ जी से बात करने से क्या फायदा ? जिस रत्नकंबल को राजा नहीं खरीद सका, उस रत्नकंबल को यह माँ जी क्या खरीदेगी ?''

व्यापारी इस प्रकार विचार कर रहा था, तभी भद्रा माता ने पुनः व्यापारी को कहा, ``भाई ! तुम्हारा विषाद-ग्रस्त चेहरा मुझसे देखा नहीं जा रहा है, जो हो सो कहो ।''

आखिर व्यापारी ने कहा, ``माँ जी ! मैं नेपाल देश से आया हूँ, मेरे पास 16 रत्नकंबल हैं...परंतु यहाँ का राजा एक भी रत्नकंबल नहीं खरीद सका तो प्रजा से तो क्या आशा रखूँ ? बस, यही मेरी निराशा का कारण है ।''

``भाई ! 16 रत्नकंबलों से क्या होगा ? मेरे तो 32 बहुएँ हैं अतः 32 चाहिए । खैर, अब 16 ही हैं तो इन सबके 2-2 टुकड़े कर दो ।''

``माँ जी ! यह कोई मजाक की बात तो नहीं हो रही है, आप इस रत्नकंबल की कीमत जानती हो ?''

``अरे भाई ! बताओ तो सही, कितनी कीमत है ?''

``एक रत्नकंबल की कीमत सवा लाख सोना मोहर है ।''

``बस, इतनी ही न ! क्यों घबराते हो ?'' इतना कहकर एक ओर भद्रा माता ने नौकर को बीस लाख सोना मोहर लाने की आज्ञा दी और दूसरी ओर व्यापारी को उन रत्नकंबलों के दो-दो टुकड़े करने की आज्ञा कर दी ।

थोड़ी ही देर में भद्रा का नौकर 20 लाख सोना मोहर लेकर हाजिर हो गया ।

भद्रा ने वह सारा धन व्यापारी को सौंप दिया । व्यापारी तो यह देख हक्का-बक्का हो गया । अरे ! जिस नगर का राजा एक रत्नकंबल नहीं खरीद सका, इन माँ जी ने सभी के सभी खरीद लिये !

व्यापारी ने 20 लाख सोना मोहरें ले लीं और 16 रत्नकंबलों के दो-दो टुकड़े कर माँ जी को सौंप दिए । उन्होंने वे सभी टुकड़े अपनी बहुओं को दे दिए ।

उन बहुओं ने स्नान करने के बाद उन रत्नकंबलों से अपना-अपना शरीर पोंछ लिया और उसके बाद उन्हें पैर साफ करने के स्थान पर रख दिया ।

इधर चेलणादेवी को जब रत्नकंबल की विशेषताओं की जानकारी मिली तो उसने अपने स्वयं के लिए एक रत्नकंबल खरीदने के लिए श्रेणिक महाराजा से अत्यंत ही आग्रह किया ।

रानी के अति आग्रह को देख राजा ने उस व्यापारी के पास एक रत्नकंबल की माँग की ।

व्यापारी ने कहा, ``मेरे पास तो अब एक भी नहीं बचा है, सभी रत्नकंबल भद्रा माता ने खरीद लिये हैं ।''

राजा ने एक होशियार पुरुष भद्रा माता के घर भिजवाया और कहलाया कि मूल्य लेकर एक रत्नकंबल राजा के लिए दे दे ।

वह राजपुरुष भद्रा माता के घर गया तो भद्रा ने कहा, ``वे रत्नकंबल तो शालिभद्र की स्त्रियों ने शरीर को पोंछने के उपयोग में ले लिये हैं, अतः यदि उस जीर्ण-फटे रत्नकंबल की जरूरत हो तो ऐसे ही ले जाओ ।''

``इतने कीमती रत्नकंबल से शरीर को पोंछ कर उन्हें अब पैर पोंछने के लिए रख दिया गया है'', इस बात को जानकर चेलना रानी को खूब-आश्चर्य हुआ ।

वह सोचने लगी, **``अहो ! उसकी और हमारी समृद्धि के बीच कितना बड़ा अंतर है !''**

राजा श्रेणिक ने ऐसे पुण्यशाली-समृद्ध व्यक्ति को मिलने के लिए आमंत्रण भेजा ।

भद्रा माता ने कहा, ``मेरा बेटा कहीं बाहर नहीं जाता है, अतः आप ही यहाँ पधार जायें ।''

श्रेणिक राजा ने भद्रा माता के आमंत्रण को स्वीकार किया ।

श्रेणिक अपनी विशाल समृद्धि के साथ शालिभद्र के महल में आया ।

श्रेणिक को चौथी मंजिल पर सिंहासन पर विराजमान कर वह शालिभद्र को बुलाने के लिए 7वीं मंजिल पर चढ़ गई ।

भद्रा ने जाकर शालिभद्र को कहा, ``बेटा ! श्रेणिक आए हैं, अतः तू मिलने के लिए नीचे चल ।''

देवलोक समान दिव्य सुखों में मस्त बने शालिभद्र ने कहा, ``माँ ! तुम्हें जो ठीक लगे वह कर लो, मुझे वहाँ आने से क्या फायदा है ?''

``बेटा ! श्रेणिक कोई खाने-पीने की वस्तु नहीं है, वे तो हमारे नाथ-स्वामी हैं ।''

शालिभद्र ने अपने जीवन में पहली बार `नाथ' शब्द सुना और उसके आश्चर्य का पार न रहा ।

``अरे ! इन भोगों से अब मुझे कोई मतलब नहीं है । इस संसार के ऐश्वर्य को भी धिक्कार हो । क्या मुझ पर भी कोई प्रभु, मालिक है ।''

इस प्रकार एक `नाथ' शब्द के श्रवण मात्र से ही शालिभद्र के अन्तर्मन में वैराग्य भाव का बीजारोपण हो गया । उसे संसार के ये सभी सुख अत्यंत ही तुच्छ प्रतीत होने लगे ।

माता के अति आग्रह से वह 7वीं मंजिल पर से नीचे उतरा और चौथी मंजिल पर आया । उसने आकर श्रेणिक को प्रणाम किया ।

श्रेणिक ने उसे अपनी गोद में बिठाया । थोड़ी ही देर बाद भद्रा माता ने कहा, **``राजन् ! आप इसे मुक्त कर दें । यह मनुष्य होते हुए भी इसे मनुष्य संबंधी गंध आदि से पीड़ा होती है ।''**

``यह तो प्रतिदिन देव-संबंधी आहार, वस्त्र व अलंकार आदि को धारण करता है ।''

राजा श्रेणिक ने शालिभद्र को मुक्त कर दिया । शालिभद्र 7 वीं मंजिल पर जा पहुँचा । उसी समय नगर के बाह्य उद्यान में चार ज्ञान के धारक धर्मघोषसूरिजी म. अपने विशाल परिवार के साथ पधारे ।

शालिभद्र को जैसे ही आचार्य भगवंत के आगमन के समाचार मिले- वह एकदम प्रसन्न हो उठा । वह तुरंत ही रथ में आरूढ़ होकर उद्यान में आ पहुँचा । उसने आचार्य भगवंत के चरणों में भावपूर्वक वंदना की ।

आचार्य भगवंत ने भी वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना दी । शालिभद्र ने एकाग्रचित्त से उस धर्मदेशना का श्रवण किया ।

देशना के अंत में शालिभद्र ने आचार्य भगवंत से प्रश्न किया, **``प्रभो ! ऐसा कौन सा कर्म किया जाय कि जिससे हमारा कोई स्वामी न हो ।''**

आचार्य भगवंत ने कहा- ``भाग्यशाली ! जो पुण्यवंत आत्मा भागवती दीक्षा स्वीकार कर उसका निरतिचार रूप से पालन करती है, वह समस्त जगत् के स्वामित्व को प्राप्त करती है, उसे कभी दूसरों की गुलामी नहीं करनी पड़ती है ।''

``प्रभो ! आपकी बात बिल्कुल ठीक है । मैं शीघ्र ही घर जाकर माता की अनुज्ञा प्राप्त कर चारित्र-धर्म को स्वीकार करूंगा ।''

आचार्य भगवंत ने कहा, ``शुभ कार्य में प्रमाद करना उचित नहीं है ।''

पुनः रथ में आरूढ़ होकर शालिभद्र अपने घर आ पहुँचा । उसने घर आकर माता से प्रार्थना की-``माताजी ! आप मुझे दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान करें ।''

``बेटा ! दीक्षा के सिवाय आत्मकल्याण शक्य नहीं है, परन्तु तू अत्यंत ही सुकोमल है । दीक्षा का पालन करना तेरे लिए लोहे के चने चबाने जैसा है । तू चारित्र के कष्टों को कैसे सहन कर पाएगा ?''

शालिभद्र ने कहा, ``कायर के लिए कष्ट सहन करना कठिन है, शूरवीर के लिए नहीं ।''

``तो बेटा ! तू प्रतिदिन एक-एक स्त्री का त्याग करता जा और धीरे-धीरे त्याग को आत्मसात् करता जा । इस प्रकार के अभ्यास के बाद तू आराम से व्रत स्वीकार कर सकेगा ।''

माँ के वचन को स्वीकार कर शालिभद्र प्रतिदिन एक-एक स्त्री का त्याग करने लगा ।

इधर शालिभद्र के द्वारा एक-एक स्त्री के त्याग की बात सुनकर धन्य ने सुभद्रा को कहा, ``तेरा भाई तो कायर है कायर ।''

सुभद्रा ने कहा, **``बोलना सरल है, करना कठिन है ।''** सुभद्रा के इस व्यंग्यात्मक वाग्बाण के साथ ही धन्यकुमार आठ स्त्रियों का त्याग कर चारित्रधर्म स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया ।

धन्य के साथ उसकी स्त्रियाँ भी दीक्षा के लिए तैयार हो गईं और दूसरे ही दिन धन्यकुमार ने अपनी आठों स्त्रियों के साथ वीर प्रभु के चरणों में आकर भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

...उसके बाद शालिभद्र ने भी प्रभु के चरणों में आकर भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद धन्य और शालिभद्र दोनों ज्ञान, ध्यान व तप-तितिक्षा की साधना में आकंठ डूब गए ।

15 उपवास, मासक्षमण, दो मासी, तीन मासी और चार मासी आदि उत्कृष्ट तप-साधना के द्वारा उन्होंने अपनी काया की माया दूर कर दी ।

उत्कृष्ट तप के कारण उनके शरीर में सिर्फ हड्डियाँ और चमड़ी ही बच पाई थी ।

एक बार वे दोनों मुनिवर प्रभु के साथ विहार करते हुए राजगृही नगरी

में पधारे । मासक्षमण के पारणे के लिए वे दोनों मुनिवर राजगृही नगरी में भिक्षा के लिए निकल पड़े । प्रभु ने कहा, आज तुम्हारी माता के हाथ से तुम्हारा पारणा होगा ।

शालिभद्र और धन्यमुनि दोनों ईर्यासमिति का पालन करते हुए भद्रा माता के घर पहुँचे । परन्तु तप के द्वारा उनकी काया इतनी अधिक कृश बन चुकी थी कि उन्हें घर पर कोई पहिचान नहीं पाया ।

वीर भगवान व शालिभद्र आदि को वंदन करने की उत्सुकता में भद्रा माता भी घर आये शालिभद्र मुनि को पहिचान नहीं पाई ।

कुछ क्षण तक स्थिरता कर वे दोनों मुनि पुनः नगर के द्वार की ओर चल पड़े । उसी समय एक वृद्धा दही व घी बेचने के लिए नगर में जा रही थी ।

शालिभद्र को देखते ही पूर्वभव के स्नेह के कारण उसके स्तनों में से दूध बह निकला । उस माजी ने दोनों मुनियों को वंदन किया और पारणे में दही बहोराया ।

दोनों मुनि दही बहोरकर प्रभु के पास आए । शालिभद्र ने प्रभु को पूछा, ``प्रभो ! आपने तो माता के हाथों से पारणे की बात कही थी ।''

प्रभु ने कहा, ``वह तुम्हारी पूर्व भव की माता थी ।'' सिर्फ दही से मासक्षमण के दीर्घ तप का पारणा करके शालिभद्र और धन्य मुनि प्रभु के पास आए और कहने लगे, ``प्रभो ! आत्म कल्याण के लिए, इस शरीर की ममता दूर करने के लिए वैभारगिरि पर्वत पर पादपोपगमन अनशन करना चाहते हैं ।''

प्रभु ने उनकी योग्यता जानकर सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी । वे दोनों मुनिवर क्रमशः वैभारगिरि पर चढ़ गए और दोनों ने पादपोपगमन अनशनव्रत स्वीकार लिया ।

इधर थोड़ी देर बाद भद्रा माता प्रभु के पास आई और प्रभु से बोली, शालिभद्र और धन्य मुनि कहाँ हैं ? वे भिक्षा के लिए हमारे घर नहीं पधारे ।

प्रभु ने कहा, ``वे दोनों तुम्हारे घर भिक्षा के लिए आए थे...परन्तु यहाँ आने की व्यग्रता में तुम उन्हें पहिचान नहीं पाई । उसके पूर्वभव की माता ने उन्हें दही से पारणा करा दिया और अब उन दोनों महासत्त्वशाली चरम

शरीरी मुनियों ने भव के निस्तार को पाने के लिए वैभारगिरि पर जाकर अनशन-व्रत स्वीकार किया है ।''

श्रेणिक राजा के साथ भद्रा माता भी वैभारगिरि पर्वत पर पहुँची । अपने पुत्र के भयंकर कष्ट को देख वह जोर से क्रंदन करने लगी और विलाप करती हुई बोली, ``वत्स तू ! मेरे घर पर आया और दुर्भाग्य से मैं तुझे पहिचान भी नहीं पाई । मेरे प्रमाद को धिक्कार हो ।''

``यद्यपि तूने संसार का त्याग कर दिया था, फिर भी मुझे आशा थी कि तुम अपने दर्शन से मुझे पुनः आनंद प्रदान करोगे...परन्तु देहत्याग के लिए प्रारंभ किए अनशन व्रत के द्वारा तो मेरी वह आशा भी निष्फल हो गई । तुम्हारे प्रारंभ किए व्रत में मैं विघ्न डालना नहीं चाहती हूँ, परन्तु उस कठोर शय्या के कष्ट को तू कैसे सहन कर पाएगा ?''

उसी समय श्रेणिक ने कहा, ``माताजी ! हर्ष के स्थान पर यह शोक क्यों ? ऐसे पुत्ररत्न को जन्म देनेवाली तो तू महाभाग्यशाली एक ही है ।''

``यह तो महान् तत्त्वज्ञानी है । इसने तृण की भाँति सारी लक्ष्मी का त्याग कर दिया और साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति के समान प्रभु के चरण-कमलों को स्वीकार कर लिया है ।

``ये तो जगत् के स्वामी वीर प्रभु के शिष्य के अनुरूप ही तप कर रहे हैं, अतः तुम व्यर्थ ही स्त्री स्वभाव के वशीभूत होकर इस प्रकार का दुर्ध्यान क्यों कर रही हो ?''

राजा के वचनों को सुनकर भद्रा ने प्रतिबोध प्राप्त किया और फिर दोनों मुनिवर्यों को भावपूर्वक नमस्कार कर वह अपने घर चली आई ।

शालिभद्र व धन्य मुनि भी अनशन व्रत को पूर्ण कर अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले देव बने । वहाँ से च्यवकर मानवभव प्राप्त कर मोक्ष में जाएंगे ।

41. अंतिम चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामीजी

◆ जन्म से जैन नहीं होने पर भी
सद्गुरु के समागम से जिन्होंने
चारित्रधर्म स्वीकार किया और
उसकी निर्मल साधना द्वारा जो
अल्पकाल में ही चौदह पूर्व के ज्ञाता और
जिनशासन के सर्वोच्च पद
आचार्यपद पर आसीन हुए ।

❑ राजा को प्रतिबोध देकर जिन्होंने
जैनशासन की अद्भुत प्रभावना की ।
जैनशासन पर आए
उपद्रव के निवारण के लिए
महामंगलकारी **'उवसग्गहरं'** स्तोत्र की रचना कर
जैनशासन को उपद्रव से मुक्त किया ।
ऐसे प्रभु महावीर की छठी
पाटपरंपरा के नायक
भद्रबाहु स्वामीजी महाराज
वीरशासन के अंतिम
सूत्र-अर्थ के ज्ञाता चौदह पूर्वधर महर्षि हुए ।

❑ पर्वाधिराज के पवित्र दिनों में
आज भी उस महापुरुष का
पवित्र-स्मरण कर
हम अपने आपको
धन्य समझते हैं ।

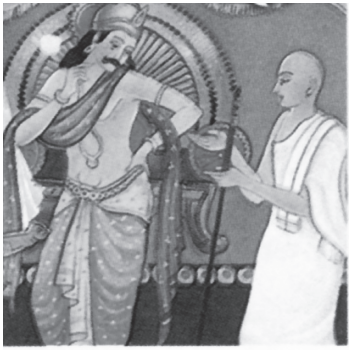

कुर्वाणो मानवो नित्यं, जिनेन्द्र शासनोन्नतिम् ।
भद्रबाहुगणाधीश, इवाप्नोति वृषं बहुम् ।।

चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा की 5वीं पाटपरंपरा में पू. आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी म. हुए । वे प्रकांड विद्वान् और प्रतिभासंपन्न थे । एक दिन पूज्य आचार्य भगवंत विहार करते हुए प्रतिष्ठानपुर नगर पधारे । लोगों ने उनका हार्दिक स्वागत किया । उन्होंने धर्मोपदेश द्वारा लोगों को आत्मकल्याण का सच्चा मार्ग दिखलाया ।

उसी नगर में भद्रबाहु और वराहमिहिर नाम के दो भाई रहते थे । वीर निर्वाण संवत् 94 में भद्रबाहु का जन्म हुआ था । वे वेद-वेदांग, उपनिषद् न्याय-व्याकरण आदि के ज्ञाता थे । उन्होंने यशोभद्रसूरिजी म. का उपदेश सुना और वे अत्यंत ही प्रभावित हुए । पू. आचार्यश्री द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग में उन्हें सत्य के दर्शन हुए...इसके फलस्वरूप वीर निर्वाण संवत् 139 में उन्होंने 45 वर्ष की उम्र में मोह-माया के बंधनों का त्याग कर पू. आचार्यश्री के पावन चरण-कमलों में भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । तत्पश्चात् रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन बन गए ।

अल्प समय में ही दोनों भाइयों ने ग्यारह अंगों का गहन अध्ययन कर लिया । पू. भद्रबाहु मुनि अत्यंत ही विनीत और गुरुचरणों में पूर्ण समर्पित थे । उसके फलस्वरूप गुरुदेवश्री ने उन्हें दृष्टिवाद (14 पूर्व) का अभ्यास प्रारंभ करवाया ।

सम्यग्ज्ञान की उपासना के लिए अंतरंग योग्यता चाहिए । योग्य व्यक्ति को दिया गया ज्ञान ही ज्ञान का कारण बनता है, जबकि अयोग्य व अपात्र को दिया गया ज्ञान साँप को दूध पिलाने की भाँति निरर्थक ही जाता है, इतना ही नहीं स्व-पर नुकसान का भी कारण बनता है ।

ज्ञान यदि पचता है तो जीवन में नम्रता आती है और ज्ञान का अजीर्ण हो जाय तो व्यक्ति अहंकारी बनता है ।

भद्रबाहु मुनि अत्यंत ही योग्य थे, इसके फलस्वरूप गुरुदेव के अल्प प्रयास से वे अल्पकाल में ही 14 पूर्व के ज्ञाता बन गए । ज्ञानी बनने के साथ

ही वे अत्यंत नम्र भी बने । गुरुदेवश्री ने उनकी योग्यता देखी ``यह तो जैन-शासन का महान् प्रभावक बनेगा ।'' बस, उनकी विशिष्ट योग्यता को देखकर गुरुदेव ने उन्हें जैनशासन का तृतीय सर्वोच्च आचार्य पद प्रदान किया और तब से वे श्रुतकेवली आचार्यश्री भद्रबाहुस्वामीजी के नाम से प्रख्यात हुए ।

वराहमिहिर में उच्छृंखलता थी । नम्रता आदि के अभाव के कारण गुरुदेव ने उसे दृष्टिवाद का अध्ययन नहीं कराया तथा उसे आचार्य पद भी प्रदान नहीं किया । इसके फलस्वरूप वह रोषायमान हो गया । उसने जैनी दीक्षा का त्याग कर दिया और जैन धर्म व जैनसाधुओं का द्वेषी बन गया ।

वराहमिहिर ने ज्योतिष विद्या का विशेष अभ्यास किया था अतः उसने ज्योतिष विद्या को अपना व्यवसाय बना लिया और उसी विद्या के बल पर वह अपनी आजीविका चलाने लगा ।

वराहमिहिर को आत्म-प्रसिद्धि की अत्यंत भूख थी, इस कारण उसने एक बार नगर में मनघडंत बात फैला दी कि ``बचपन में एक बार मैं गायों को चराने के लिए जंगल में गया । उस जंगल में मैंने पत्थर की शिला पर सिंह लग्न की कुंडली बनाई । संध्या समय उस कुंडली को मिटाए बिना ही मैं अपने घर आ गया । रात्रि में जब मुझे इस बात की याद आई तो मैं निर्भीक होकर वापस जंगल में जा पहुँचा । वहाँ पर मैंने एक सिंह को बैठे हुए देखा, मैं डरा नहीं...और निर्भीक होकर मैंने वह कुंडली मिटा दी । मेरे इस अद्‌भुत पराक्रम को देखकर उस सिंह ने अपना मूल स्वरूप प्रकट किया । वह सूर्यदेव था । उसने कहा, ``मैं तेरी इस लग्नकुंडली से प्रसन्न हुआ हूँ, अतः तुझे एक वरदान देता हूँ, जो चाहिए सो माँग ले ।''

मैंने कहा, ``हे सूर्यदेव ! आप मुझ पर प्रसन्न हों तो मुझे ज्योतिषचक्र के सभी ग्रह, नक्षत्र और तारे बता दो ।''

``बस, मेरी इस प्रार्थना को सुनकर वह सूर्यदेव मुझे ज्योतिष देवलोक में ले गया । वहाँ जाकर मैंने प्रत्यक्ष सभी ग्रह, नक्षत्र और तारे देखे ।''

वराहमिहिर ने अपनी बात पूरे नगर में फैला दी ताकि लोगों को उसके फलादेश के प्रति तीव्र आस्था और श्रद्धा बढ़ जाय । जिसके फलस्वरूप उसका धंधा जोरों से चल सके ।

वराहमिहिर ने सवालाख श्लोक प्रमाण ज्योतिष का ग्रंथ रचा । उसने राजा से प्रीति संपादित की । राजदरबार में भी उसका मान-सम्मान बढ़ने लगा ।

2.

एक दिन की बात है ।

राजा की मुख्य रानी ने एक शुभ दिन तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजा ने संपूर्ण नगर में पुत्रजन्म के महोत्सव की घोषणा की । हजारों नर-नारी व नगर के प्रतिष्ठित गणमान्य लोग राजा को पुत्रजन्म की बधाई देने के लिए राजमहल में आने लगे ।

राजा ने वराहमिहिर को राजपुत्र की जन्मकुंडली बनाने की आज्ञा दी । वराहमिहिर ने धनलोभ से राजपुत्र की जन्मकुंडली बनाई और राजा को कहा **``राजन् ! आपका यह पुत्र बहुत भाग्यशाली है, इसका आयुष्य 100 वर्ष का है ।''** वराहमिहिर की यह बात सुनकर राजा खुश हो गया, उसने वराहमिहिर को खूब धन दिया ।

एक दिन अवसर देखकर वराहमिहिर ने राजा के कान फूँकते हुए कहा, ``राजन् ! आपको पुत्रजन्म की बधाई देने के लिए सभी लोग आए...सभी धर्म-गुरुओं ने आपके पुत्र को आशीर्वाद दिए...किंतु ये जैनाचार्य कितने अभिमानी हैं, वे आपके पुत्र को आशीर्वाद देने भी नहीं आए ?''

राजा ने शकडाल मंत्री से बात की ।

शकडाल मंत्री ने जाकर भद्रबाहु स्वामीजी से बात की । मंत्री ने जाकर राजा को कहा, ``राजन् ! आचार्यश्री का कहना है कि इस राजपुत्र का आयुष्य मात्र सात दिन का है, अतः राजपुत्र के वियोग से शोकार्त बने आपको समाधि-सांत्वना देने के लिए आचार्यश्री राजदरबार में आने ही वाले थे ।'' **'7 दिन बाद राजकुमार की मृत्यु हो जाएगी'** यह सुनकर राजा को खूब आश्चर्य हुआ ।

वे सोचने लगे, ``अहो, वराहमिहिर ने तो कहा है कि यह राजकुमार 100 वर्ष जीएगा और आचार्यश्री कह रहे हैं कि 7 दिन बाद ही राजकुमार की मृत्यु हो जाएगी ।'' आखिर सत्य क्या है ?

कुछ देर सोचकर पुनः राजा ने पूछा, ``मंत्रीश्वर ! राजकुमार की मृत्यु कैसे होगी ?''

मंत्री ने कहा, ``बिल्ली से ।''

``ओहो ! बिल्ली के कारण राजकुमार की मृत्यु होने वाली है, तो क्यों न 7 दिन के लिए नगर में से सभी बिल्लियों को बाहर भिजवा दूँ ।'' इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकरों को आदेश दिया, ``इस नगर में एक भी बिल्ली नहीं रहनी चाहिए ।''

राजा की आज्ञा का तत्काल पालन हो गया । दिन-पर-दिन बीतने लगे । ठीक सातवें दिन धाव माता राजकुमार को अपनी गोद में लेकर बैठी हुई थी, तभी द्वार की भागोल (आगला) बालक पर गिर पड़ी । लकड़े की चोट से बालक मूर्छित हो गया । कुछ औषधोपचार हो...इसके पूर्व तो उस बालक के प्राणपखेरू उड़ गए ।

ठीक 7 वें दिन राजकुमार की मृत्यु हो गई । राजा के दिल में भद्रबाहु स्वामीजी के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई ।

पुत्रमरण से शोकार्त बने राजा को धर्मोपदेश देने के लिए भद्रबाहु स्वामीजी राजदरबार में पधारे । उन्होंने राजा को संसार के पदार्थों की अनित्यता, संबंधों की क्षणभंगुरता और आयुष्य की चंचलता के बारे में धर्मोपदेश दिया ।

उपदेश सुनकर राजा को खूब आश्वासन मिला । उसका शोक दूर हो गया । उसने आचार्यश्री को कहा, ``भगवंत ! 7वें दिन बाद राजकुमार की मृत्यु होगी । यह बात सही निकली, किंतु आपने कहा था, ``बिल्ली से राजकुमार की मौत होगी । यह बात तो सत्य नहीं हुई ?''

आचार्यश्री ने कहा ``राजन् ! बालक की मृत्यु किससे हुई ?''

राजा ने कहा, ``दरवाजे की भागोल (आगला) गिरने से ।''

आचार्यश्री ने वह आगला अपने पास मँगवाया और राजा को बतलाते हुए कहा ``देखो, राजन् ! इसके अग्र भाग पर बिल्ली की आकृति है ।''

यह देख राजा को विश्वास हो गया कि आचार्यश्री की वाणी एकदम सत्य है । वह राजा आचार्यश्री का परम भक्त हो गया । राजा ने आचार्यश्री के ज्ञान की प्रशंसा की ।

वराहमिहिर को जब इस बात का पता चला तो उसे अत्यंत ही आघात लगा । शर्म के मारे वह अपना मुँह दिखाने के योग्य भी न रहा । वह जंगल में चला गया । उसने तापसी दीक्षा स्वीकार कर ली । भद्रबाहु स्वामी और जैनसंघ का वह द्वेषी बना । तापस मरकर व्यंतर देव बन गया ।

देव बनने के बाद अपने वैर का बदला लेने के लिए उसने नगर में महामारी फैला दी । महामारी के कारण लोग बेमौत मरने लगे ।

लोगों की अकालमृत्यु की घटना को देख संघ के अग्रणी श्रावक चिंतातुर हो गए । वे भद्रबाहु स्वामीजी के पास गए । वहाँ जाकर सब बात की ।

पूज्य आचार्य भगवंत ने अपने ज्ञान के बल से रोग का कारण जान लिया...फिर संघ की रक्षा के लिए उन्होंने **'उवसग्गहरं स्तोत्र'** की रचना की और सभी को यह पाठ दिया ।

''जो भी इस स्तोत्र का पाठ करेगा, उसे महामारी का उपद्रव नहीं होगा...और पूर्वोत्पन्न रोग भी मिट जाएगा ।''

बस !

पू. भद्रबाहुस्वामीजी के इस स्तोत्र के प्रभाव से महामारी का रोग दूर हो गया...और संघ में सर्वत्र शांति हो गई ।

3.

भवितव्यता के योग से जगत् में परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं । उस समय 12 वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा । उस अकाल के कारण साधुओं को भिक्षा भी दुर्लभ बनती गई...परिणामस्वरूप भूख से पीड़ित अनेक मुनि स्वाध्याय करने में असमर्थ बनते गए । श्रुत व सिद्धांत का विस्मरण होने लगा । पाटलीपुर नगर में समस्त श्रमण-संघ इकट्ठा हुआ । जिस मुनि को जिस सूत्र का जो अध्ययन याद था, उसे इकट्ठा किया गया...इस प्रकार श्रीसंघ ने मिलकर ग्यारह अंगों का संयोजन किया ।

उस समय 12 वें दृष्टिवाद को जाननेवाले एक मात्र भद्रबाहु स्वामी ही थे, जो नेपाल देश में `महाप्राण' ध्यान कर रहे थे ।

उस समय अन्य साधुओं के दृष्टिवाद के अभ्यास के लिए श्रीसंघ ने दो मुनियों को तैयार कर भद्रबाहुस्वामीजी के पास भेजा ।

उन दोनों मुनियों ने प्रणाम करके कहा, ``गुरुदेव ने आपको पाटलीपुर नगर में पधारने के लिए आदेश दिया है ।''

भद्रबाहुस्वामी ने कहा, ``अभी मैं महाप्राण ध्यान कर रहा हूँ...अतः अभी तो मैं वहाँ नहीं आ सकूंगा ।''

उन दोनों मुनियों ने आकर श्रीसंघ व गुरुदेव को बात की ।

भद्रबाहुस्वामीजी के इस प्रत्युत्तर को जानकर श्रीसंघ व गुरुदेव ने पुनः दो शिष्यों को तैयार कर **भद्रबाहुस्वामीजी म.** के पास भेजा ।

उन दोनों शिष्यों ने जाकर **भद्रबाहुस्वामीजी म.** को पूछा, ``यदि कोई संघ की आज्ञा नहीं मानता हो तो उसे क्या दंड देना चाहिए ?''

भद्रबाहु स्वामीजी ने कहा, ``उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए ।''

उन शिष्यों ने कहा, ``इस वचन से तो आप ही संघ से बाहर हो जाते हैं ।''

भद्रबाहुस्वामी जी ने कहा, ``मैं संघ की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ, परन्तु अभी मेरा महाप्राण ध्यान चालू होने से मुझे अधिक अवकाश नहीं मिल पा रहा है, फिर भी यदि दृष्टिवाद के अभ्यास के लिए जो मुनि यहाँ पधारेंगे, उन्हें मैं प्रतिदिन सात वाचना प्रदान करूंगा और ध्यान की समाप्ति के बाद विशेष वाचनाएँ भी दे सकूंगा । इस प्रकार करने से मेरा कार्य भी सिद्ध होगा और संघ की आज्ञा का भी पालन हो सकेगा ।''

भद्रबाहु स्वामीजी के इन वचनों को सुनकर वे दोनों मुनिवर अत्यंत संतुष्ट हुए । उन्होंने जाकर संघ व गुरुदेव को बात बताई ।

भद्रबाहु स्वामी के इस प्रत्युत्तर को जानकर संघ भी प्रसन्न हुआ और श्रीसंघ ने स्थूलभद्र आदि 500 मुनियों को दृष्टिवाद सीखने के लिए भद्रबाहु स्वामीजी के पास भेजा ।

भद्रबाहु स्वामीजी अपनी अनुकूलतानुसार प्रतिदिन 7-7 वाचनाएँ देने लगे । परन्तु अन्य साधु तो अध्ययन करते करते उद्विग्न बन गए...परिणाम स्वरूप स्थूलभद्र को छोड़कर सभी मुनि अन्यत्र चले गए ।

स्थूलभद्र के मनोभंग को देखकर भद्रबाहुस्वामी ने पूछा, ``तू खेद क्यों पा रहा है ?''

स्थूलभद्र ने कहा, ``अल्प वाचना के कारण ।''

भद्रबाहु स्वामीजी ने कहा, ``तू चिंता मत कर, मेरा ध्यान लगभग पूर्ण होने आया है । ध्यान की समाप्ति के बाद मैं तुझे पूर्ण संतुष्ट करने की कोशिश करूंगा ।''

कुछ समय बाद भद्रबाहुस्वामीजी का महाप्राण ध्यान पूर्ण हो गया । उसके बाद वे स्थूलभद्र को खूब वाचनाएँ देने लगे-परिणामस्वरूप वे अल्पकाल में ही दशपूर्व के ज्ञाता बन गए ।

4.

एक समय की बात है ।

यक्षा आदि सभी सातों साध्वियाँ अपने भाई मुनि स्थूलभद्र को वंदन करने के लिए गुरुदेव के पास आईं और पूछा, ``हमारे भाई मुनि कहाँ हैं ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, ``तुम आगे जाओ । वे अशोकवृक्ष के नीचे स्वाध्याय कर रहे हैं ।''

वे सातों साध्वियाँ अशोकवृक्ष की ओर आगे बढ़ीं परन्तु वहाँ पर उन्होंने स्थूलभद्र के बजाय एक सिंह को बैठे देखा ।

वे एकदम भयभीत हो गईं और सोचने लगी, क्या इस सिंह ने हमारे भाई मुनि का भक्षण कर दिया होगा ? वे तत्काल गुरुदेव के पास आकर बोलीं, ``भगवंत ! वहाँ पर भाई मुनि तो नहीं है, वहाँ तो एक सिंह बैठा हुआ है । क्या उस सिंह ने भाई मुनि का भक्षण तो नहीं किया है न !''

आचार्य भगवंत ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर कहा, ``खेद न करो, तुम्हारा भाई विद्यमान है, तुम वापस जाओ, वहीं पर तुम्हें अपने भाई मुनि मिलेंगे ।''

गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर वे साध्वियाँ पुनः उस अशोक वृक्ष के निकट पहुँचीं, वहाँ पर उन्होंने अपने भाई मुनि को देखा, सिंह वहाँ से गायब था ।

वंदन करने के बाद जब साध्वीजी भगवंत ने सिंह के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा, ``यह सिंह का रूप तो मैंने ही किया था ।''

अब कुछ समय बाद जब स्थूलभद्र महामुनि आचार्य भगवंत के पास वाचना लेने के लिए आए तब उन्होंने कहा, ``मैं तुम्हें वाचना नहीं दूंगा, क्योंकि अब अधिक ज्ञान पाने के लिए तुम योग्य नहीं हो । तुमने भी यदि सिंह का रूप कर लिया तो फिर दूसरों की तो क्या बात की जाय ? अब कालक्रम से विद्या का पाचन कम होता जाएगा । **विद्या भी पात्र को ही देने से लाभ का कारण बनती है, अपात्र को दी गई विद्या स्व-पर को नुकसान पहुँचाती है ।**''

स्थूलभद्र ने गुरुदेव के चरणों में गिरकर क्षमायाचना की । फिर भी गुरुदेव ने वाचना देने से इन्कार कर दिया ।

तत्पश्चात् संघ के अति आग्रह से भद्रबाहु स्वामी म. ने शेष चार पूर्वों का ज्ञान, मात्र सूत्र से प्रदान किया किंतु उसका अर्थ नहीं बतलाया ।

इस प्रकार मूलसूत्र की अपेक्षा स्थूलभद्र महामुनि चौदह पूर्वधर हुए ।

5.

पूज्य आचार्यश्री भद्रबाहुस्वामीजी ने कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध और निशीथ इन चार छेद ग्रंथों की रचना की । आचारांग, सूत्रकृतांग, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, सूर्य-प्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित इन दस सूत्रों पर निर्युक्ति की रचना की ।

वर्तमान समय में पर्वाधिराज महापर्व के दिनों में जिस महान् कल्पसूत्र ग्रंथ का वाचन किया जाता है, इस महान् ग्रंथ के कर्ता भी ये ही महापुरुष थे । उन्होंने नौवें प्रत्याख्यान पूर्व में से उद्धृत कर दशाश्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन के रूप में इस `कल्पसूत्र' की रचना की थी ।

पूज्य आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने 45 वर्ष की उम्र में दीक्षा ली थी । 17 वर्ष तक के श्रमणपर्याय के बाद वे 14 वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहे और वीरनिर्वाण संवत् 170 में उनका स्वर्गवास हुआ । वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंतिम चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली थे ।

42. दशार्णभद्र

अभिमानं विमुञ्चन्ति, ये जना ऋद्धिसंभवम् ।
त एव वृण्वते मुक्तिं, दशार्णभद्रभूपवत् ।।

भरतक्षेत्र !

दशार्णपुर नगर ! दशार्णभद्र राजा ।

वह राजा महावीर प्रभु का परम भक्त था, जैनधर्म का परम उपासक था । न्याय और नीति से वह प्रजा का अच्छी तरह से पालन करता था ।

वह अपने जिनालय में तीन लोक के नाथ देवाधिदेव वीतराग-परमात्मा की त्रिकाल-पूजा करता था । कहा भी है-

प्रातःकाल की प्रभु की पूजा रात्रि के पापों का नाश करती है ।
मध्याह्न काल की पूजा इस जीवन के सभी पापों का नाश करती है और
सायंकाल की पूजा सातजन्मों के पापों का नाश करती है ।

एक बार पृथ्वीतल को पावन करते हुए वीर प्रभु दशार्णगिरि पर पधारे । देवताओं ने आकर स्वर्ण, रत्न और रजतमय समवसरण की रचना की । चौंतीस अतिशयों से युक्त प्रभु ने 64 इन्द्र आदि बारह पर्षदा के आगे धर्मदेशना प्रारंभ की ।

इधर उद्यानपाल ने आकर राजा को वीर प्रभु के आगमन के समाचार दिये । राजा के हर्ष का पार न रहा । प्रभु के आगमन को सुनकर राजा अपने सिंहासन पर से खड़ा हो गया । प्रभु के विहार की दिशा में 7-8 कदम आगे बढ़कर उसने प्रभु की स्तुति करते हुए कहा-

``हे प्रभो ! हे सर्वज्ञ ! आप समस्त जगत् के उद्धारक हो। इस भवसागर से मुझे पार उतारो ! आप अनंत गुणों के भंडार हो। आपके गुणों को याद कर-कर, आपकी स्तुति कर और आपके मुख के दर्शन कर मेरा दिन धन्य हो रहा है।''

इस प्रकार प्रभु के गुणों की स्तुति करके राजा ने सोचा– ``कल प्रातःकाल में प्रभु को बड़े आडंबर के साथ वंदन के लिए जाऊंगा।''

राजा ने पूरे नगर में पटह बजवाकर सभी को वीर प्रभु के आगमन की जानकारी दी। उसने समस्त नगर को ध्वजा-पताका व तोरण आदि से सजा दिया। स्थान-स्थान पर सुगंधित धूप आदि से वातावरण को सुगंधमय बना दिया।

वह राजा अनेक अलंकारों से विभूषित हाथी पर आरूढ़ हुआ।

राजा ने सोचा-`आज तक किसी ने इतनी ऋद्धि के साथ प्रभुवंदन के लिए गमन नहीं किया हो, ऐसी ऋद्धि के साथ मैं जाऊँ' इस प्रकार विचार कर उसने सारी सामग्री तैयार कराई।

उस ऋद्धि में 18000 हाथी, 40 लाख घोड़े, 21000 रथ, 91 करोड़ पैदल सैनिक, 16000 ध्वज, 500 मेघ आडंबर छत्र, सुखासन में बैठी हुई 500 रानियाँ, आभूषणों से सुसज्ज सामंत-मंत्री आदि थे।

इस विशाल वैभव व आडंबर के साथ दशार्णभद्र ने प्रभु को वंदन करने के लिए प्रयाण किया। सौधर्म देवलोक में रहे इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान के बल से दशार्णभद्र की इस समृद्धि को प्रत्यक्ष देखा। दशार्णभद्र के अभिमान को तोड़ने के लिए इन्द्र ने अपनी लब्धि के बल से अपनी ऋद्धि विकुर्वी।

इंद्र ने अपनी ऋद्धि में 64000 हाथियों की रचना की। प्रत्येक हाथी के 512 मुख बनाए ! प्रत्येक मुख के साथ 8-8 दंतशूल बनाए। प्रत्येक दंत-शूल पर 8-8 बावड़ी की रचना की। प्रत्येक बावड़ी में 8-8- कमलों की रचना की। प्रत्येक कमल की कर्णिका पर 1-1 सिंहासन की रचना कर अपनी आठ अग्र महिषियों के साथ इन्द्र बैठा। प्रत्येक कमल के लाख-लाख पत्ते थे और प्रत्येक पत्ते पर 32-32 देवदेवियाँ बत्तीस प्रकार के नाटक करने लगे।

इन्द्र के इस वैभव को देखकर दशार्णभद्र दंग रह गया, उसके अभिमान का नशा उतर गया। फिर भी इंद्र से आगे बढ़ने के लिए दशार्णभद्र ने उसी समय प्रभु के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली।

इन्द्र ने अपनी हार स्वीकार की। वहाँ से इन्द्र अपने स्थान में चला गया। दशार्णभद्र मुनि भी सभी कर्मों का क्षयकर मोक्ष में चले गए।

43. आत्मसाधक प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

समुद्र में पैदा होनेवाली जलतरंगों की भाँति
मन के भीतर पैदा होनेवाले
उतार-चढ़ाव भी खूब विचित्र हैं ।
कभी यह मन साधना के शिखर पर
पहुँच जाता है तो कभी
पतन के गर्त में डूब जाता है ।
मन के उतार-चढ़ाव को
जानने-समझने के लिए
प्रसन्नचंद्र राजर्षि का दृष्टांत
अत्यंत ही प्रसिद्ध है ।

❑ पुत्र के व्यामोह में फँसकर वे
मानसिक युद्ध कर बैठते हैं और नरक-प्रायोग्य-कर्म बाँध लेते हैं
और सिर पर रहे मुकुट को न देखकर
पुनः शुभध्यान की धारा में
स्थिर होकर साधना के शिखर पर
पहुँच जाते हैं और
चंद क्षणों में
केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

❑ साधना मार्ग के उतार-चढ़ाव की
प्रत्यक्ष अनुभूति करनेवाले
प्रसन्नचंद्र राजर्षि का जीवन चरित्र
बड़ा ही अद्‌भुत है ।

❑ आइए, उस चरित्र का
अवगाहन कर
अपने जीवन की दिशा को
सही दिशा प्रदान करें ।

शुभध्यानं वितन्वानः, क्षीणकर्मा जनः क्षणात् ।
लभते केवलज्ञानं, प्रसन्नचन्द्र साधुवत् ।।

भगवान महावीर परमात्मा पृथ्वीतल को पावन करते हुए **पोतनपुर** पधारे । जैसे ही वहाँ के राजा **प्रसन्नचन्द्र** को प्रभु के आगमन के समाचार मिले, वह अन्य समस्त प्रवृत्तियों का त्याग कर बड़े आडंबर के साथ प्रभु की धर्मदेशना सुनने के लिए नगर बाहर मनोरम उद्यान में आ पहुँचा ।

वहाँ प्रभु के चरणों में वंदन कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गया । प्रभु ने मोह को निर्मूल करनेवाली धर्मदेशना प्रारंभ की । उस धर्मदेशना के श्रवण के साथ ही प्रसन्नचन्द्र राजा का मोह दूर हो गया और वह संसार के समस्त बंधनों का परित्याग कर श्रमणधर्म को स्वीकार करने के लिए समुत्सुक हो गया ।

प्रसन्नचन्द्र ने अपने लघुपुत्र को राजगद्दी पर स्थापित किया और सभी मंत्रियों के कंधों पर राज्य की समस्त बागडोर सौंप कर प्रभु के चरणों में भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

भागवती दीक्षा अंगीकार करने के बाद प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ज्ञान-ध्यान व तप की साधना में आकंठ डूब गए । वे क्रमशः शास्त्र में पारगामी बने और एकाकी प्रतिमा आदि को स्वीकार कर कर्मों की खूब-खूब निर्जरा करने लगे ।

एक बार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि राजगृही नगरी के बाहर श्मशान भूमि में एक पैर पर खड़े रहकर सूर्य के सामने अपनी दृष्टि स्थापित कर आतापना ले रहे थे ।

उसी समय चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा का राजगृही नगरी के बाह्य उद्यान में आगमन हुआ ।

प्रभु के आगमन को सुनकर श्रेणिक राजा अपने विशाल परिवार के साथ प्रभु को वंदन करने के लिए निकल पड़ा । सबसे आगे सुमुख और दुर्मुख नाम के सैनिक चल रहे थे । प्रसन्नचंद्र राजर्षि को इस प्रकार सूर्य के सामने खड़े रहकर आतापना करते हुए देखकर सुमुख बोला, ``अहो ! इस प्रकार

कठोर तप साधना व आतापना करने वाले इस मुनि के लिए स्वर्ग या अपवर्ग कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।''

सुमुख की यह बात सुनकर नाम व काम से दुर्मुख बोला, ``अरे ! यह भी कोई साधु है ? स्वयं पोतनपुर के राजा थे, उन्होंने अपने राज्य का सारा भार एक छोटे से बालक पर डाल दिया और स्वयं साधु बन गए ! उन्हें प्रजाहित की कहाँ चिंता है ? इसके मंत्री तो चंपा के राजा दधिवाहन के पक्ष में हो गए...अब तो राज्य भी चला जाएगा और प्रजा भी हैरान परेशान हो जाएगी । सचमुच यह राज्यधर्म से भ्रष्ट बना है । इसकी पत्नी भी भाग गई है । यह तो पाखंडी है, इसका तो मुख भी देखने योग्य नहीं है ।''

दुर्मुख के मुख से इन वचनों को सुनकर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि धर्म ध्यान से एकदम च्युत हो गए और स्वयं आर्तध्यान के वशीभूत होकर सोचने लगे ।

``अहो ! उन कृतघ्न मंत्रियों को धिक्कार हो, जो धन व सत्ता के लोभ में अपने कर्त्तव्यपथ से भी भ्रष्ट हो गए । मैं यदि होता तो उन्हें कठोर दंड देता- इस प्रकार विचार करते हुए प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपने स्वीकृत व्रत को भी भूल गए और मनोमन ही उन्होंने युद्ध चालू कर दिया ।

उसी समय श्रेणिक महाराजा वहाँ से निकले । महात्मा के त्याग-तप को देख उन्होंने भावपूर्वक वंदना की । थोड़ी देर में श्रेणिक प्रभु के पास पहुँचे । प्रभु को वंदन कर बोले, प्रभो ! जिस समय मैंने ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को वंदन किया उस समय उनकी मृत्यु हो तो वे मरकर कहाँ जाते ?

प्रभु ने कहा, ``सातवीं नरक में ।''

सुनकर श्रेणिक विचार में पड़ गया । ``अहो ! यह क्या सुना ?''

उसने तुरंत ही प्रभु से दूसरा प्रश्न किया ।

``प्रभो ! इस समय उनकी मृत्यु हो तो वे मरकर कहाँ जाएँ ?''

प्रभु ने कहा, ``सर्वार्थसिद्ध विमान में ।''

सातवीं नरक व सर्वार्थसिद्ध विमान के बीच रहे अंतर को श्रेणिक अच्छी तरह से जानता था ।

उसे आश्चर्य लगा कि एक ही महात्मा कुछ समयपूर्व 7वीं नरक में जाए और थोड़ी देर बाद सर्वार्थसिद्ध में, यह कैसे संभव है ?

उसने प्रभु को पुनः पूछा, ``प्रभो ! ऐसा क्यों ?''

प्रभु ने दुर्मुख के वचन को सुनकर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को हुए आर्त-ध्यान व रौद्रध्यान की बात करते हुए कहा, जब तुम उन्हें वंदन कर रहे थे, तब वे महात्मा दुर्मुख के वचनों को सुनकर रौद्रध्यान के वशीभूत बन गए थे, अतः उस समय यदि उनके आयुष्य का बंध होता तो मानसिक संग्राम के पाप के कारण वे 7वीं नरक में चले जाते...परन्तु तुम्हारे जाने के बाद मानसिक कल्पना से ही सोचने लगे। अब मेरे सारे हथियार समाप्त हो गए...अब सिर पर रहे मुकुट को फेंककर शत्रु का सिर फोड़ दूँ। इस प्रकार विचार कर हाथ में मुकुट लेने के लिए जैसे ही सिर पर हाथ रखा त्योंही उन्हें ख्याल आया कि वे अब राजा नहीं, साधु बने हुए हैं।

तत्काल उनका मन पश्चाताप से भर आया, वे सोचने लगे, ``अहो ! संसार का त्याग करने के बाद भी अब मैं यह क्या कर रहा हूँ।'' इस प्रकार विचार कर वे पुनः धर्मध्यान में लीन बने।

हे श्रेणिक ! इस पश्चाताप की पावन अग्नि में उन्होंने अपने दुष्कर्म जला दिए...अतः तुम्हारे दूसरे प्रश्न के समय उनके आयुष्य का बंध होता तो वे सर्वार्थसिद्धविमान में जाते।

उसी समय आकाश में देवदुंदुभि का नाद हुआ। श्रेणिक के पूछने पर प्रभु ने कहा, उन राजर्षि को अब केवलज्ञान हो गया है।

इस बात को समाप्त करते हुए प्रभु ने कहा, ``श्रेणिक ! मानव को प्राप्त मन ही उसके पतन व उत्थान का मुख्य कारण है। आर्तध्यान के वशीभूत यह मन आत्मा को दुर्गति में ले जाता है और धर्मध्यान व शुक्लध्यान के वशीभूत बना मन आत्मा को शाश्वत अजरामर मोक्ष प्रदान करने में समर्थ बनता है।''

44. यशोभद्रसूरि

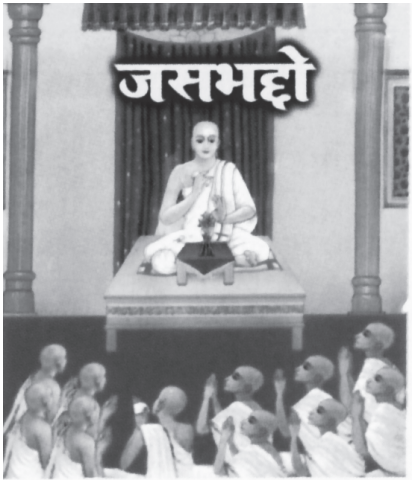

स्तुति

मागध विदेह अंग आदि,
क्षेत्र का करे उद्धरण,
पच्चास वर्षों तक किया,
आचार्य पद का निर्वहन;
यशोभद्र सूरिवर यश पताका,
गगन में लहरे सदा,
प्रभु वीर पाट परंपरा को,
भाव से करूं वंदना ।।

चौदह पूर्वधर महर्षि शय्यम्भ-व-सूरिजी म. पृथ्वीतल को पावन करते हुए अनेक भव्य जीवों को धर्मबोध देते थे ।

एक बार वे विहार करते हुए पाटलीपुर नगर में पधारे । नगरजनों ने उनका हार्दिक स्वागत किया, उसके बाद वे धर्मोपदेश देने लगे ।

पूज्य आचार्य भगवंत ने अपनी धर्मदेशना में संसार की असारता समझाई ! यह संसार कितने दु:खों से भरा हुआ है-उसका विस्तार से वर्णन किया ।

पूज्य आचार्य भगवंत का उपदेश सुनने के लिए 'यशोभद्र' नाम का एक ब्राह्मण भी आया हुआ था । उसने भी पूज्य आचार्य भगवंत की देशना सुनी ।

कई श्रोता उपदेश तो सुनते हैं, परंतु उस उपदेश का उनके जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है । उपदेश के शब्द सिर्फ कानों को ही आनंद देते हैं, जबकि कई श्रोता उपदेश सुनकर आमूलचूल बदल जाते हैं ।

(42) दशार्णभद्र-पृष्ठ नं. 254

(43) प्रसन्नचन्द्र राजर्षि-पृष्ठ नं. 256

(44) यशोभद्रसूरि-पृष्ठ नं. 260

(45-46) जंबु-स्वामी
तथा प्रभवस्वामी-पृष्ठ नं. 262

श्री जंबूस्वामी की सज्झाय

राजगृही नगरी वसे, ऋषभदत्त व्यवहारी रे,
तस सुत जंबुकुमार नमुं, बालपणे ब्रह्मचारी रे ॥१॥

जंबू कहे जननी सुणो, स्वामी सुधर्मा आया रे,
दीक्षा लेशुं तेहकने, अनुमति द्यो मोरी माया रे जंबू० ॥२॥

माय कहे सुण बेटडा, वात विचारी कीजे रे,
तरूणपणे तरूणी वरी, छांडी केम छूटीजे रे ? जंबू० ॥३॥

आगे अरणिक मुनिवरा, फरी पाछा घेर आव्या रे,
नाटकणी नेहे करी, अषाढाभूति भोळाया रे, जंबू० ॥४॥

वेश्या वश पडिया पछी, नंदिषेण नगीनो रे,
आर्द्रक देशनो पाटवी, आर्द्रकुमार का कीनो रे जंबू० ॥५॥

सहस वरस संजम लीयो, तो ही पार न पाया रे,
कंडरीकने करमे करी, पछी घणुं पस्ताया रे जंबू० ॥६॥

मुनिवर श्री रहनेमीजी, नेमि जिनेश्वर भाई रे,
राजीमति देखी करी, विषयतणी मति आइ रे जंबू० ॥७॥

दीक्षा छे वच्छ दोहिली, पाळवी खांडानी धार रे,
अरस निरस अन्न जमवुं, सुंवु डाभ संथार रे जंबू० ॥८॥

दीक्षा छे वच्छ ! दोहिली, कह्युं अमारूं कीजे रे,
परणो पनोता पद्मिणी, अम मनोरथ पूरीजे रे जंबू० ॥९॥

जंबू कहे जननी सुणो, धन्य धन्नो अणगारो रे,
मेघ मुनिसर मोटको, शालिभद्र संभारो रे जंबू० ॥१०॥

गजसुकुमाल गुणे भर्यो, आतम साधना कीधो रे,
षट्मासी तप पारणे, ढंढणे केवल लीधो रे. जंबू० ॥११॥

दर्शार्णभद्र संयम लही, पाय लगाड्यो इंदो रे,
प्रसन्नचंद्र केवल लही, पाम्यो छे परमानंदो रे जंबू० ॥१२॥

एम अनेक मुनिवर हुआ, कहेता पार न पाय रे,
अनुमति द्यो मोरी मावडी, क्षण लाखेणी जाय रे जंबू० ॥१३॥

पांचसे सत्तावीश साथे, जंबु कुमार परिवरीओ रे,
पंच महाव्रत उच्चरी, भवजल सायर तरीयो रे जंबू० ॥१४॥

जंबू चरम ज केवली, तास तणां गुण गाया रे,
पंडित ***ललित विजय*** तणो, हेत विजय सुपसायां रे जंबू० ॥१५॥

पत्थर की पुतली पानी के भीतर रहे तो भी वह पानी को चूसती नहीं है, जबकि कपड़े की पुतली पानी में गिरने के साथ ही पानी को चूसने लग जाती है ।

यशोभद्र ब्राह्मण पूज्य आचार्य भगवंत के उपदेश को ग्रहण करने में कपड़े की पुतली के समान थे ।

संसार की असारता का उसे ख्याल आ गया । मोहमाया के बंधनों को तोड़कर यशोभद्र ब्राह्मण ने आचार्य भगवंत के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । वे सागारी मिटकर अणगार बन गए ।

रत्नत्रयी की आराधना-साधना में वे आकंठ डूब गए । अपने गुरुदेव के चरणों में रहकर उन्होंने चौदह पूर्वों का अभ्यास किया । वे श्रुतकेवली बने । उनकी बाह्य-अंतरंग योग्यता देखकर गुरुदेव ने उन्हें आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया । अब वे यशोभद्रसूरि हो गए ।

पृथ्वीतल पर विहारकर वे जिनशासन की सुंदर प्रभावना करने लगे ।

पूज्य आचार्य भगवंत एकबार दक्षिणापथ में प्रतिष्ठानपुर नगर में पधारे ! अपने धर्मोपदेश द्वारा उन्होंने अनेक भव्यजीवों को धर्म-बोध दिया ।

पूज्यश्री के उपदेशों को सुनकर भद्रबाहु और वराहमिहिर नाम के दो ब्राह्मण भाइयों ने भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

भद्रबाहु मुनि में विशिष्ट योग्यता थी, अतः वे अल्प समय में ही समस्त शास्त्रों के ज्ञाता बन गए । गुरुदेव ने उन्हें सूरिपद पर प्रतिष्ठित किया ।

भद्रबाहुसूरिजी को अपना पट्टधर नियुक्त कर एक दिन अत्यंत ही समाधिपूर्वक यशोभद्रसूरिजी म. स्वर्ग में चले गए ।

पू. यशोभद्रसूरिजी म. ने 22 वर्ष की उम्र में दीक्षा अंगीकार की थी । 14 वर्ष तक उनका सामान्य दीक्षा पर्याय और 50 वर्ष का युगप्रधान पद पर्याय था । 86 वर्ष की उम्र में वीर संवत् 148 में उनका कालधर्म हुआ था ।

45-46. अंतिम केवली जंबु-स्वामी तथा प्रभवस्वामी

भवदेव के भव में
12 वर्षों तक चारित्रधर्म का पालन करने पर भी
जो अपने मन में से
अपनी स्त्री 'नागिला' को न निकाल सके
और वे ही भवदेव मुनि
अपने अंतिम-जंबुकुमार के भव में
आठ कन्याओं के साथ
पाणिग्रहण करने पर भी
उन स्त्रियों के मोहपाश में
लेश भी नहीं फँसे, इतना ही नहीं,
उन सब स्त्रियों को भी उन्होंने
मोक्ष-मार्ग की राह बता दी ।
ऐसे मन से निर्मल और पवित्र
बाल ब्रह्मचारी जंबुस्वामीजी का चरित्र
अवश्य पठनीय और प्रेरणा का स्त्रोत है ।

❑ प्रभु वीर के शासन में जो
अंतिम केवली के रूप में प्रख्यात हुए ।
जब तक-प्रभु वीर का शासन रहेगा
तब तक इन पवित्र महापुरुष का भी
अवश्य नाम स्मरण किया जाएगा ।

बाल्येऽपि के ऽपि वैराग्याद्,
गृहीत्वा धर्ममादरात् ।
जम्बूकुमारवन्मुक्ति-
सारभाजो भवन्ति हि ।।

स्तुति

देवांगना सम आठ कन्या, से हुआ पाणिग्रहण,
एक रात में की बात ऐसी, हो गई वैराग्य भर ।
श्री जंबू स्वामी केवली, वरे आखरी मुक्तिरमा,
प्रभु वीर पाट परंपरा को, भाव से करुं वंदना ।।4।।

दीक्षा स्वीकार

मगध देश !
राजगृही नगर !!
परमात्म-भक्त श्रेणिक महाराजा !

चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा अपने चरण-कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए, अनेक भव्यात्माओं को प्रतिबोध देते हुए राजगृही नगरी के बाहर गुणशील चैत्य में पधारे । प्रभु के आगमन के साथ ही देवताओं ने आकर चांदी, स्वर्ण व रत्नमय तीन गढ़ से युक्त समवसरण की रचना की । जगद् उद्धारक महावीर प्रभु की धर्मदेशना के अमृतपान के लिए चारों ओर से नर-नारी उमड़ पड़े, उद्यानपाल ने जाकर ज्योंही श्रेणिक महाराजा को प्रभु के आगमन के समाचार दिये, उनका मन-मयूर नाच उठा ।

तत्काल ही उन्होंने उद्यानपाल को रत्नजड़ित स्वर्ण के आभूषण प्रदान कर जीवन भर के लिए उसके द्रव्य-दारिद्र्य को मिटा दिया ।

हाथी-घोड़े, रथ एवं अनेकविध वाद्य-यंत्रों की मधुर ध्वनि के साथ श्रेणिक महाराजा अपने अंत:पुर आदि विशाल परिवार एवं हजारों नर-नारियों के साथ प्रभु के दर्शन-वंदन के लिए निकल पड़े ।

दूर से प्रभु के दर्शन होते ही श्रेणिक महाराजा रथ से नीचे उतरे और पैदल ही प्रभु के चरणों में पहुँच गए । तीन लोक के नाथ महावीर प्रभु की भावपूर्वक स्तुति करके श्रेणिक महाराजा अपने योग्य आसन पर बैठकर भव-निर्वेद और मोक्ष-संवेग को पुष्ट करने वाली प्रभु महावीर की देशना का अमृतपान करने लगे । प्रभु ने अपनी देशना में संसार के भयंकर रौद्र-स्वरूप एवं मोक्ष के मंगलमय स्वरूप का बहुत ही सुंदर शैली में वर्णन किया, जिसे सुनकर अनेक भव्यात्माओं के हृदय में संसार के प्रति वैराग्य भाव की ज्योति प्रगट हो गई ।

देशना-समाप्ति के बाद श्रेणिक महाराजा ने नतमस्तक होकर अत्यंत ही नम्रता के साथ महावीर प्रभु से पूछा, ``हे प्रभो ! आपके शासन में अंतिम केवली कौन होगा ?''

महावीर प्रभु ने कहा, ``यह जो **विद्युन्माली** देव बैठा है वह आज से 7 दिन बाद अपने देव आयुष्य को पूर्णकर इसी राजगृही नगरी में ऋषभदास सेठ का पुत्र **'जंबूकुमार'** होगा । वही मेरे शासन में अंतिम केवली होगा अर्थात् इसके बाद मेरे शासन में किसी को केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा । इसी जंबूस्वामी के निर्वाण से भरत क्षेत्र में से दस वस्तुओं का विच्छेद हो जाएगा ।''

महावीर प्रभु के मुख से यह बात सुनने के बाद श्रेणिक महाराजा ने दूसरा प्रश्न किया, ``प्रभो ! इस देव की अद्‌भुत कांति व शोभा को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि मानो यह अभी-अभी उत्पन्न हुआ हो...तो फिर क्या इसका च्यवन होगा ?''

श्रेणिक के इस प्रश्न का जवाब देते हुए प्रभु ने कहा, ``हे श्रेणिक ! जो देव एकावतारी होते हैं अर्थात् देव भव का त्यागकर मानव भव प्राप्त कर उसी भव में मोक्ष जानेवाले होते हैं, उनके देह पर च्यवन के चिह्न नजर नहीं आते

हैं अर्थात् न तो उनके गले में रही फूलों की माला कुम्हलाती है और न ही उनके देह की कांति क्षीण होती है । यह देव भी एकावतारी है और इसने पूर्व भव में बहुत ही सुंदर आराधना की है ।''

प्रभु के मुख से इस बात को सुनते ही जंबूद्वीप का अधिपति अनादृत देव खुश होकर नाचने लगा और बोला, `अहो मेरा कुल कितना उत्तम है !'

देव के इन वचनों को सुनकर श्रेणिक ने पुनः प्रश्न किया, ``प्रभो ! आपके इस जवाब को सुनकर इस देव को इतनी खुशी क्यों हो रही है ?''

प्रभु ने कहा, ``जिस कुल में यह चरम मोक्षगामी विद्युन्माली देव उत्पन्न होगा, उसी कुल में से च्यवकर यह देव बना है, अतः अपने ही कुल में चरम केवली के अवतरण की बात सुनकर यह देव खुशी के मारे झूम रहा है ।''

श्रेणिक ने पूछा, ``यह देव कैसे बना ?''

प्रभु ने कहा, ``यह देव अपने पूर्व भव में ऋषभदास श्रावक का छोटा भाई जिनदास था । पिता की 99 करोड़ की संपत्ति दोनों भाइयों को प्राप्त हुई थी । एक ही माता-पिता की दोनों संतानें होने पर भी उन दोनों के स्वभाव, रुचि आदि में बहुत बड़ा अंतर था । ऋषभदास सम्यग्दृष्टि और धर्मप्रेमी था, जबकि कुमित्रों की संगति के कारण जिनदास को जुएं का भयंकर व्यसन लागू पड़ गया था ।

जिनदास को जुएं के भयंकर दुर्व्यसन से मुक्त करने के लिए ऋषभदास ने अनेक बार प्रयत्न किए, परन्तु उसे थोड़ी भी सफलता नहीं मिली । जुएं के व्यसन में जिनदास अपनी संपत्ति हारता गया, आखिर एक दिन इच्छा नहीं होने पर भी ऋषभदास ने जिनदास को अपने घर से बाहर निकाल दिया ।

घर से निकलने की सजा मिलने पर भी जिनदास अपनी प्रकृति को नहीं बदल पाया, बल्कि वह अधिक स्वतंत्र हो गया । जुएं का व्यसन तो उसके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका था । रात और दिन देखे बिना वह जुआँ खेलता रहता था । एक दिन जुएं में वह सब हार गया । वह अत्यंत कर्जदार बन गया । ऋण को चुकाने में वह असमर्थ था, ऋण नहीं चुका पाने के कारण उसके साथियों ने एक दिन उसके साथ मारपीट की । इस मारपीट के कारण वह बेहोश होकर मार्ग में एक ओर गिर पड़ा । किसी व्यक्ति ने आकर ऋषभदास को ये समाचार दिए । ऋषभदास तुरंत ही दौड़ता हुआ वहाँ गया । उसने जिनदास को आश्वासन दिया और पूछा, ``तेरी यह हालत कैसे हो गई ?''

जिनदास ने कहा, **``मेरे पाप कर्मों की मुझे सजा हुई है । जुएं के व्यसन के कारण मैं बर्बाद हो गया । मैं खूब कर्जदार बन गया । ऋण नहीं चुका पाने के कारण मित्रों ने मुझे बुरी तरह से मारा ।''**

ऋषभदास ने कहा, ``बंधु ! तुम निश्चिंत हो जाओ । औषध आदि के उपचार द्वारा मैं तुम्हारा रक्षण कर दूंगा । अब तुम अपने घर चलो ।''

जिनदास ने कहा, ``अब मेरी ताकत नहीं है कि मैं अपने घर चल सकूँ । आपके जैसा धर्मी भाई मिला, यही मेरा सद्भाग्य है । अब तो मेरे प्राण पखेरू उड़ने की तैयारी में हैं, अतः परलोक में मेरी सद्गति हो, वैसा मार्ग बताओ ।''

ऋषभदास ने जिनदास की शारीरिक स्थिति का निरीक्षण किया । ``जिनदास अब चलने में असमर्थ है, अब उसके देह की चिंता के बजाय उसके आत्महित की चिंता करना अधिक उचित होगा, भले ही जिनदास अपने जीवन में पापों का त्याग नहीं कर सका, फिर भी इसके दिल में अपने पापों के प्रति पश्चात्ताप की भावना है, अतः पाप-भीरु होने के कारण इसे योग्य मार्गदर्शन दिया जाय तो इसका आगामी भव अवश्य सुधर सकता है ।''

इस प्रकार विचार कर ऋषभदास ने कहा, **``बंधुवर्य ! अपने आत्महित को लक्ष्य में रखकर देह की ममता का त्याग कर दो । देह तो नश्वर है, जबकि अपनी आत्मा अविनाशी है । *देह के नाश में अपनी आत्मा का नाश नहीं है । देह का ममत्व आत्महित में एकांत बाधक है, अतः अपने मन को देह से हटाकर पंच परमेष्ठी के ध्यान में स्थिर कर दो । जीवन में मोह व अज्ञानतावश हुएं पापों के प्रति पश्चात्ताप भाव धारण करो । जगत् में हो रहे सभी के सुकृतों की भावपूर्वक अनुमोदना करो । इस जगत् में अपनी आत्मा के लिए कोई शरण्य नहीं है, अतः एकांत शरण्य ऐसे अरिहंत परमात्मा आदि की शरणागति को भाव से स्वीकार करो । इस जगत् में अपना कोई शत्रु नहीं है, शत्रु तो अपना ही कर्म है, अतः किसी के प्रति वैरभाव मत रखो और सभी जीवों के साथ मैत्री का संबंध स्थापित करो ।*''**

ऋषभदास के मुख से इन शिक्षाओं को सुनकर जिनदास का हृदय एकदम गद्गद हो गया । उसने ऋषभदास का खूब-खूब आभार माना । उसने अपने मन को पंच परमेष्ठी के ध्यान में स्थिर कर दिया ।

बस ! नवकार के प्रभाव से ही वह जुआरी जिनदास मरकर जंबूद्वीप

का अधिपति **अनादृत** नाम का देव बना । अपने भाई के वहाँ (अपने कुल में) चरम केवली के रूप में विद्युन्माली देव के जन्म की बात सुनकर यह देव खुश होकर नाच रहा है ।'' प्रभु के मुखारविंद से अनादृत देव के पूर्व भव को सुनकर अनेक आत्माओं को प्रतिबोध प्राप्त हुआ ।

श्रेणिक महाराजा के आश्चर्य का पार न रहा । अनादृत देव के पूर्व भव के चरित्र को सुनकर श्रेणिक महाराजा ने दूसरा प्रश्न करते हुए पूछा, ``प्रभो ! यद्यपि इस विद्युन्माली देव का च्यवन अत्यंत ही निकट में है, फिर भी सभी ग्रहों में सूर्य की भाँति यह देव इतना अधिक तेजस्वी कैसे है ?'' श्रेणिक के इस प्रश्न को सुनकर विद्युन्माली देव के पूर्वभवों का वर्णन करते हुए प्रभु बोले-

``श्रेणिक ! इस देव का पूर्व भव अत्यंत ही रोमांचक है ।

इसी जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में मगध देश में **'सुग्राम'** नाम का एक गाँव है । उस गाँव में **'आर्य'** नाम का ग्रामपति रहता था, उसकी पत्नी का नाम **रेवती** था । उसके दो पुत्र थे-**भवदत्त** और **भवदेव !**

एक बार उस गाँव में अपने विशाल परिवार के साथ **'सुरक्षित'** आचार्य भगवंत का आगमन हुआ । लोगों ने आचार्य भगवंत का भावभीना हार्दिक स्वागत किया । तत्पश्चात् आचार्य भगवंत ने वैराग्यमय धर्मदेशना दी !

एक ही उपदेश पात्रता के भेद से श्रोताओं में भिन्न-भिन्न रूप से परिणत होता है । स्वाति नक्षत्र की जलबुंद सीप के मुँह में गिरे तो मोती बन जाती है और सर्प के मुँह में गिरे तो जहर बन जाती है । वह जलबुंद यदि तपे हुए लोहे के गोले पर गिरे तो क्षणभर में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है ।

आचार्य भगवंत की वैराग्यवाहिनी धीर-गंभीर वाणी का श्रवण कर अनेक पुण्यवंत आत्माओं के दिल में वैराग्य की भावना पैदा हुई...जबकि **'आर्य'** का पुत्र **'भवदत्त'** तो तत्क्षण दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गया ।

भवदत्त ने घर जाकर दीक्षा की अनुमति के लिए अपने माता-पिता को समझाने का प्रयत्न किया । प्रथम तो मोह के कारण उसके माता-पिता दीक्षा की अनुमति देने के लिए तैयार नहीं हुए, परंतु आखिर उसके तीव्र वैराग्य को देखकर दीक्षा के लिए अनुमति दी...और एक शुभ दिन भवदत्त संसारी वेष का परित्याग कर साधुवेष को अंगीकार कर **'जैन श्रमण'** बन गया ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद भवदत्त मुनि रत्नत्रयी की आराधना–साधना में एकदम तल्लीन हो गए । धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

नागिला का उपदेश

साधु अर्थात् परोपकार की साक्षात् मूर्ति !

जिस प्रकार परोपकार के लिए नदी निरंतर बहती रहती है, परोपकार के लिए ही वृक्ष फलदायी बनते हैं, परोपकार के लिए सूर्य सतत आकाश में अपनी निश्चित गति के अनुसार चलता है, उसी प्रकार साधु का जीवन भी परोपकार के लिए होता है । निर्दोष भिक्षा के द्वारा अपने संयम जीवन के पालन द्वारा स्वोपकार की साधना के साथ-साथ; वे साधु-भगवंत ग्रामानुग्राम पैदल विचरण कर भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देकर सदैव परोपकार करते रहते हैं ।

सुरक्षित आचार्य भगवंत पृथ्वीतल को पावन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे, तभी गच्छ में रहे एक मुनिवर ने आचार्य भगवंत को विनती करते हुए कहा, ``प्रभो ! मेरी जन्मभूमि पास में है । वहाँ मेरे सांसारिक परिवारजन रहते हैं । आपश्री की आज्ञा हो तो मैं वहाँ जाऊँ जिससे मेरा भाई, जो मेरे प्रति अत्यंत स्नेहवाला और भद्रिक परिणामी है, मुझे देखकर दीक्षा का अभिलाषी बनेगा ।''

मुनिवर की इस प्रार्थना को सुनकर आचार्यश्री ने अन्य दो श्रुतधर मुनियों के साथ उस मुनि को पास के गाँव में जाने के लिए अनुमति दी । अनुमति मिलते ही वे तीनों मुनिवर विहार करते हुए क्रमशः उस गाँव में पहुँचे, जहाँ पर उन मुनिवर का सांसारिक परिवार रहता था ।

गाँव में प्रवेश के बाद वे मुनिवर अपने पिता के घर गए । वहाँ पर छोटे भाई की शादी का महोत्सव चल रहा था । लग्न महोत्सव के कारण अनेक स्वजन-कुटुम्बीजन वहाँ इकट्ठे हुए थें । वे मुनि वहाँ पहुँचे, परन्तु लग्न के महोत्सव में तल्लीन बने उस छोटे भाई ने अपने ज्येष्ठ बंधु मुनिवर की ओर देखा भी नहीं । अन्य श्रुतधर मुनियों ने यह दृश्य देखा और वे सोचने लगे, ``जब यह छोटा भाई अपने ज्येष्ठ बंधु मुनि की ओर देखने के लिए भी तैयार नहीं है तो फिर उसको धर्म का उपदेश देना निरर्थक है ।'' इस प्रकार विचार

कर वे श्रुतधर मुनि, उस मुनि को साथ लेकर वापस अपने गुरुदेव के पास आ गए और उन्होंने आकर गुरुदेव को सब बात कह दी ।

ये बातें सुनकर मजाक करते हुए भवदत्त मुनि ने कहा, ``अहो ! तुम्हारे भाई का यह स्नेह कैसा ? स्नेह होता तो वह लग्न मंडप को छोड़कर दीक्षा के लिए तैयार हो जाता ! तुम्हारे भाई ने इस प्रकार तुम्हारी जो अवगणना की, वह अच्छा नहीं किया ।''

भवदत्त मुनि की ये बातें सुनकर अन्य मुनि ने व्यंग्य कसते हुए भवदत्त मुनि को कहा, ``तुम तो बड़े पंडित हो न ! तो तुम अपने छोटे भाई को प्रतिबोध कर दीक्षा देना ।''

भवदत्त मुनि ने इन शब्दों की गाँठ बाँध ली और बोला, ``जब आचार्य भगवंत हमारे नगर की ओर विचरण करेंगे तो मैं अवश्य ही अपने भाई को प्रतिबोध दूंगा ।''

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा...और एक दिन आचार्य भगवंत ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भवदत्त मुनि के गाँव के समीप पहुँच गए ।

भवदत्त मुनि की जन्मस्थली के गाँव को निकट देखकर अन्य मुनि बोले, ``भवदत्त ! अब तो आपका गाँव नजदीक में है न ! जाओ और अपने भाई को प्रतिबोध देकर आओ ।''

बस, भवदत्त मुनि ने आचार्य भगवंत से विनती की ! आचार्य भगवंत ने उसे गीतार्थ जानकर एकाकी ही अपने गाँव में जाने के लिए अनुमति प्रदान की ।

गुर्वाज्ञा को स्वीकार कर भवदत्त मुनि विहार करते हुए अपने गाँव के निकट पधारे । उसके बाद शुभ शकुन देखकर भवदत्त मुनि ने गाँव में प्रवेश किया । स्नेहीजनों ने जैसे ही भवदत्त मुनि को देखा, वे खुश हो गए और बोले, ``भवदेव के लग्न प्रसंग पर सभी कुटुम्बीजन इकट्ठे हुए हैं, सिर्फ भवदत्त मुनि बाकी थे, अतः अच्छा हुआ, वे भी आ गए ।''

इधर भवदेव का श्रेष्ठी कन्या नागिला के साथ पाणिग्रहण हो चुका था । उसी दिन नागिला का भवदेव के साथ घर में प्रवेश हो चुका था ।

जिस समय भवदत्त मुनि का आगमन हुआ, उस समय भवदेव अन्य सखियों के साथ नागिला के केशपाश आदि का शणगार कर रहा था ।

इधर परिवारवाले इकट्ठे होकर भवदत्त मुनि के चरणों में वंदन करने लगें । भवदत्त मुनि ने भी जोर से 'धर्मलाभ' कहा ।

भवदत्त मुनि के 'धर्मलाभ' के ये शब्द भवन के ऊपरी भाग में रहे भवदेव को सुनाई दिए । उसने सोचा, ``ये शब्द तो मेरे भाई मुनि के हैं, क्या अभी उनका आगमन हुआ है ?'' इस प्रकार विचार कर वह जुएं में जीते हुए जुआरी की भांति बीच में ही अर्ध सजाई नागिला को छोड़कर भवदत्त मुनि के पास जाने के लिए तैयार हो गया ।

सभी सखियाँ कहने लगीं, ``अर्ध सजाई पत्नी को छोड़कर जाना अच्छा नहीं है ।''

भवदेव ने कहा, ``मैं भाई मुनि को वंदन कर शीघ्र आ जाऊंगा, तुम चिंता मत करो ।''

इतना कहकर जल्दबाजी के साथ भवदेव, भाई मुनि के पास आ पहुँचा । भवदेव ने भावपूर्वक भवदत्त मुनि को प्रणाम किया ।

परिवार के सभी लोग भवदत्त मुनि को गोचरी बहोरा रहे थे । भवदेव ने भी कुछ आग्रह किया । मुनि ने पात्र नीचे रखे थे । भवदेव ने भावपूर्वक मुनि को घी आदि बहोराया । तत्पश्चात् भवदेव को साथ में लेने की इच्छा से भवदत्त मुनि ने एक भरा हुआ पात्र भवदेव के हाथों में दे दिया और मुनि घर से बाहर निकल गए ।

भवदत्तमुनि को पहुँचाने के लिए नगर के नर-नारी गण उनके पीछे-पीछे चलने लगे । कुछ लोग नगर की सीमा तक मुनिवर के साथ चलें, तत्पश्चात् लौट आए...जब कि कुछ लोग नगर की सीमा को लांघकर कुछ और आगे बढ़े, परन्तु मुनिवर ने किसी को भी लौटने के लिए नहीं कहा, अतः वे लोग धीरे-धीरे वापस लौटने लगे...परन्तु भवदेव ने सोचा, ``मुझे वर्षों बाद भाई मुनि के दर्शन हुए हैं, वे विहार के श्रम के कारण थक चुके होंगे, अतः उनकी अनुमति के बिना मुझे वापस लौटना उचित नहीं है ।'' इस प्रकार विचार कर वह भाई मुनि के साथ चलता रहा ।

इधर भवदत्तमुनि ने सोचा, ``भवदेव वापस न लौट जाय, इसके लिए कुछ युक्ति करनी चाहिए ।'' इस प्रकार विचार कर भवदेव को बातों में जोड़ते हुए बोले, ``अरे भवदेव ! ये तो वे ही वृक्ष हैं, जहाँ पर हम बंदर की

भाँति उछलते-कूदते और खेलते थें । अहो ! यह सरोवर आया, जहाँ हम गर्मी की ऋतु में घंटों तक डुबकियाँ लगाकर स्नान का आनंद लेते थें । यह वह भूमि है जहाँ हम सब मित्र मिलकर मिट्टी के घर बनातें और विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थें ।''

इस प्रकार गृहस्थ जीवन की पूर्व स्मृतियों को ताजी कर भवदत्त मुनि भवदेव के मन को बहलाते हुए उस स्थान पर ले आए, जहाँ पर आचार्य भगवंत अपने शिष्य परिवार के साथ बिराजमान थे ।

दूसरे मुनियों ने जैसे ही भवदत्त मुनि के साथ आए हुए उनके छोटे भाई को देखा, वे सोचने लगे, ``सचमुच, भवदत्त मुनि अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए अपने छोटे भाई को साथ लेकर आ गए हैं । अहो ! इस भाई के तो हाथ में मींढल बँधा हुआ है, उससे लगता है कि अभी-अभी इसकी शादी हुई है तो क्या अपने भाई के स्नेह को सिद्ध करने के लिए अपनी प्रिया का त्याग कर दीक्षा ले लेगा ?''

इस प्रकार अन्य मुनिगण विचार कर रहे थे, तभी आचार्य भगवंत ने भवदत्त मुनि से सीधा प्रश्न किया, ``यह युवक कौन है ?''

``यह मेरा सांसारिक भाई है ।''

गुरु भगवंत ने पुनः पूछा, ``यह क्यों आया ?''

भवदत्त मुनि ने भवदेव को पूछे बिना कह दिया, **``यह दीक्षा लेने के लिए आया है ।''**

उसी समय दाक्षिण्य व लज्जा गुण के कारण भवदेव सोचने लगा, यद्यपि मेरे दिल में दीक्षा की भावना नहीं है और मन में नागिला ही बसी है, मेरा मन तो उसी के प्रेमपाश से जकड़ा हुआ है, परन्तु यदि मैं गुरुदेव को दीक्षा के लिए मना करुंगा तो भाई का वचन मिथ्या सिद्ध हो जाएगा और उनके परिवार में उनकी हँसी हो जाएगी । अतः आगे जो होना हो सो देखा जाएगा, परन्तु एक बार तो मैं ``हाँ'' भर दूँ ।''

इस प्रकार विचार कर भवदेव ने आचार्य भगवंत को कह दिया, ``हाँ ! प्रभो ! मैं दीक्षा लेने के लिए ही आया हूँ, दीक्षा प्रदान कर आप मुझे कृतार्थ करें ।''

भवदेव की दीक्षा की अभिलाषा जानकर आचार्य भगवंत ने उसे तुरंत

ही दीक्षा प्रदान की । भवदेव ने गृहस्थ वेष का परित्याग कर साधु वेष स्वीकार किया । गुरुदेव ने तत्काल उन्हें अन्य मुनियों के साथ वहाँ से विहार करा दिया ।

इधर भवदेव के वापस नहीं लौटने पर परिवारवालों को चिंता सताने लगी । कुछ देर तक इंतजार करने के बाद भवदेव के कुटम्बीजन आचार्य भगवंत के पास आए और पूछने लगे, ``भवदेव कहाँ है ?''

भवदत्त मुनि ने कह दिया, ``भवदेव यहां तक आया था, परन्तु कुछ समय बाद यहाँ से चला गया था, कहाँ गया, यह पता नहीं है ।''

परिवारवाले निराश होकर घर लौट आए । कुछ दिनों तक जब भवदेव नहीं लौटा तब सभी ने निश्चय किया कि भाई के स्नेह के कारण उसने भी दीक्षा ले ली होगी, अतः अब चिंता करना निरर्थक है ।

नागिला को समझाते हुए कहा, ***''लगता है तुम्हारे पति ने चारित्र धर्म स्वीकार कर लिया है, अतः उन्होंने दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण किया है । उन्हें पुनः पुनः यादकर निरर्थक कर्मबंध करने के बजाय तुम भी अपने मन को धार्मिक-क्रियाओं में जोड़ दो, उसी में तुम्हारा कल्याण है । ज्ञान-ध्यान व परमात्म-भक्ति में अपने मन को जोड़ते हुए तुम्हें भी संसार के प्रति विरक्ति हो जाय तो तुम भी संयम-जीवन को स्वीकार कर सकोगी ।''***

नागिला सद्धर्म की उपासिका थी, अतः ज्येष्ठ बंधुओं की ओर से प्राप्त हित शिक्षाओं को उसने मन से स्वीकार कर लिया । बचपन से ही जैन धर्म के सुंदर संस्कार होने के कारण ज्योंही उसे पता चला कि मेरे पतिदेव ने दीक्षा अंगीकार कर ली है, त्योंही उसने संसार के समस्त भोग-सुखों को तिलांजलि दे दी । गृहस्थ वेष में रहते हुए भी वह साध्वी-सा जीवन व्यतीत करने लगी । उसने देह के सारे श्रृंगारों का त्याग कर दिया । त्याग-तप, सामायिक व स्वाध्याय आदि में वह अपना समय व्यतीत करने लगी ।

इधर भवदेव मुनि की स्थिति बड़ी विचित्र थी । बाहर से साधु वेष को स्वीकार करने पर भी उनका मन नागिला के ध्यान में लीन था । लज्जा व लोक-मर्यादा के कारण वे न तो संयम का त्याग करने में समर्थ थे और न ही मन में से नागिला का त्याग ।

द्रव्य से चारित्र का पालन करते हुए भवदेव मुनि को बारह वर्ष बीत

गए । इसी बीच भवदत्त मुनि का स्वर्गवास हो गया । भाई के वचन के खातिर भवदेव ने दीक्षा अंगीकार की थी, अतः भाई मुनि के स्वर्गगमन के बाद अब उनका मन पुनः नागिला की ओर आकर्षित होने लगा और वे एक दिन सोचने लगे,

'नागिला मेरी प्रिया है और मैं उसका प्रियतम हूँ । खेद की बात है कि हमारा अचानक वियोग हो गया । भाई के आग्रह से मैंने इतने वर्ष तक व्रत का पालन किया, अब भाई मुनि स्वर्ग में चले गए हैं, अतः अब इस कष्टदायक व्रत का पालन करने से क्या फायदा ? दुष्कर व्रत के पालन से मुझे जो कष्ट नहीं हो रहा है, उससे भी अधिक कष्ट नागिला के विरह के कारण हो रहा है...और इधर मेरी यह हालत है तो उसकी क्या हालत हुई होगी ? बर्फ के गिरने से कमलिनी की जो दुर्दशा होती है, वही हालत मेरे वियोग से उसकी हुई होगी । उसकी पीड़ा में मैं निमित्त बना हूँ, अतः अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं वहाँ जाकर उसे सांत्वना दूँ और मैं भी उसके संग को पाकर सुख की अनुभूति करूँ''

इस प्रकार विचार कर भवदेव मुनि अपने साथी मुनियों को छोड कर एक दिन सुग्राम नगर की ओर आगे बढ़ गए । धीरे-धीरे विहार करते हुए वे सुग्राम नगर के बाहर आ पहुँचे ।

भवदेव मुनि नगर के बाहर एक मंदिर के पास खड़े थे, तभी उन्होंने एक ब्राह्मणी के साथ पूजा की सामग्री को लेकर आ रही एक स्त्री को देखा । जैसे ही वह स्त्री निकट आई, उसने भवदेव मुनि को वंदन किया । वह स्त्री अन्य कोई नहीं किंतु नागिला ही थी, परन्तु न तो नागिला मुनि को पहिचान पाई और न ही भवदेव मुनि उस नागिला को पहिचान पाए ।

भवदेव मुनि ने पूछा, ``हे भद्रे ! यहाँ आर्य और रेवती रहते थे, क्या वे अब जीवित हैं ?''

उस स्त्री ने कहा, ``उनकी मृत्यु के कई वर्ष बीत चुके हैं ।''

मुनि ने कहा, ``आर्य के पुत्र भवदेव ने जिस नवविवाहिता नागिला का त्याग किया था, वह नागिला जीवित है ?''

इस प्रश्न को सुनकर वह नागिला सोचने लगी, `ये भवदेव ही लगते हैं, उन्होंने भाई मुनि के पास व्रत स्वीकार किया होगा, इसी कारण वे मुनि

वेष में दिखाई दे रहे हैं, अतः इन्हीं को पूछ लूँ।' इस प्रकार विचार कर वह बोली, ``क्या आप ही भवदेव हो ?''

मुनि ने कहा, ``हाँ ! मैं उसी नागिला का प्राणेश्वर भवदेव हूँ। उस समय मैंने भाई के वचन के खातिर नागिला को अर्द्ध सजी अवस्था में छोड़कर दुष्कर व्रतों का स्वीकार किया था, परन्तु अब वे भाई मुनि स्वर्गस्थ हो चुके हैं, अतः मैं अब नागिला से मिलने के लिए आया हूँ।''

नागिला ने सोचा, ``अहो ! भाई के आग्रह से महान् संयम जीवन स्वीकार करने के बाद भी उनका मन आज भी मेरे पीछे पागल है। अहो ! महान् कीमती रत्नत्रयी को पाकर भी ये अपना जीवन हार जाएंगे। अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उन्हें पुनः प्रेरणा दूँ और उन्हें संयम में स्थिर करूँ, अन्यथा संयम मिलने पर भी इनकी दुर्गति हो जाएगी।''

इस प्रकार विचार कर नागिला ने कहा, ``जिस नवोढ़ा कन्या का आपने त्याग किया था, वह नागिला मैं स्वयं ही हूँ। इतना काल व्यतीत होने के कारण मेरी युवावस्था समाप्त हो चुकी है। हे मुनिवर ! ***अब इस देह में क्या लावण्य रहा है ? हाड़-मांस और चर्बी से भरे इस देह में कौन-सा सौंदर्य है ? क्षण विनश्वर इस देह के सौंदर्य के पीछे पागल बनकर आप गुरुदेव के द्वारा प्रदत्त रत्नत्रयी का त्याग कर फूटी कौड़ी समान मेरे प्रति ममता क्यों कर रहे हो ?***

आपके ज्येष्ठ बंधु ने तो हितबुद्धि से आपको यह व्रत प्रदान कराया है, अतः अब आप उनके मनोरथों पर पानी क्यों ढोल रहे हो ? अब भी समय है, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, आप वापस गुरुचरणों में लौटकर अपने पापों की आलोचना करें और विशुद्ध संयम का पालन कर अपनी आत्मा को कृतार्थ करें।''

नागिला अपने पति-मुनि को इस प्रकार हितोपदेश दे रही थी। इसी बीच ब्राह्मणी का एक बच्चा दौड़ता हुआ आया और बोला, ``माँ ! पेट भरकर अमृत के समान स्वादिष्ट खीर खाई है, परन्तु अभी-अभी मुझे दूसरी जगह से भोजन के लिए आमंत्रण मिला है और वहाँ भी मुझे दक्षिणा मिलेगी, परन्तु पेट भरा हुआ होने से मैं वहाँ भोजन नहीं कर पाऊंगा, अतः तू एक पात्र धर, मैं उस पात्र में खीर का वमन कर देता हूँ। तत्पश्चात् अन्यत्र भोजन करके, दक्षिणा लेकर वापस लौटकर वमन की गई खीर को वापस खा लूंगा।''

उसी समय ब्राह्मणी बोली, ``बेटा ! वमन की गई खीर वापस खाएगा तो लोक में तेरी निंदा होगी, अतः ऐसा करना ठीक नहीं है ।''

ब्राह्मणी व बच्चे के इस वार्तालाप को सुनकर भवदेव मुनि ने भी कहा, ``हे बालक ! यदि तू वमन की हुई वस्तु को खाएगा तो श्वान (कुत्ते) से भी हल्का गिना जाएगा ।''

मुनि के इस वचन को सुनकर तुरंत नागिला बोली, ***``हे मुनिवर ! यदि उच्छिष्ट भोजन को पुनः खानेवाला नीच कहलाता है, यह बात आप अच्छी तरह से जानते हो तो फिर आपने मेरा वमन कर दिया है । हाड़-मांस, रुधिर व मल-मूत्र से भरा मेरा देह तो वमन से भी अधिक निंदनीय है तो उस देह की इच्छा करते हुए आपको लज्जा क्यों नहीं आ रही है ?***

पर्वत पर लगी आग आपको दिखाई दे रही है और पैरों में लगी आग की ओर आपकी नजर भी नहीं जा रही है, यह कैसी विचित्रता है ? आप दूसरों को तो उपदेश दे रहे हो और स्वयं ही विपरीत आचरण कर रहे हो, यह कैसी विडंबना है ?''

नागिला के इन हृदयवेधक शब्दों ने भवदेव मुनि को एकदम झकझोर दिया । इन शब्दों के तीक्ष्ण प्रहारों से उनकी मोह निद्रा भंग हो गई । उनकी सुषुप्त चेतना पुनः जाग उठी और पश्चात्ताप भरे शब्दों में वे बोले, ``नागिला ! तेरी बात बिल्कुल ठीक हैं । मार्ग भूले पति को सन्मार्ग का दर्शन कराकर तूने अपने पतिव्रता व्रत निभाया है । तू मेरी सचमुच कल्याणकामिनी है । आज तूने मुझे सही दिशा नहीं बतलाई होती तो मैं संसार के इस विकट वन में कहीं भटक जाता । सही दिशा बतलाकर तूने मुझ पर जो उपकार किया है, उसे मैं कदापि भूल नहीं सकूंगा ।

अच्छा ! अब मैं जाता हूँ । गुरुदेव के पास पापों की आलोचना लूंगा और अपने मन को संयम में स्थिर कर आत्मसाधना के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए पुरुषार्थ करूंगा ।''

``हे मुनिवर ! मुझे खुशी है कि आप संयम में स्थिर बनकर अपनी आत्मा का कल्याण करोंगे...अब मैं भी संसार के बंधनों का परित्याग कर साध्वी जीवन को स्वीकार करूंगी और अपनी आत्मा का कल्याण करूंगी ।''

भवदेव मुनि अपने गुरुदेव के पास लौटे । अब उनकी जीवनचर्या में

वैराग्य का अमृत रस टपकने लगा । उनकी चाल में ईर्यासमिति का साक्षात् प्रतिबिम्ब था । उनकी वाणी में भाषासमिति व वचन गुप्ति की रौनक थी । उनकी समस्त दिनचर्या में संयम की सुगंध महक रही थी ।

भवदेव मुनि गुरु सान्निध्य में रहने लगे । गुरुदेव के समक्ष अपने समस्त पापों की आलोचना कर निरतिचार संयमधर्म का पालन करने लगे । एक दिन निरतिचार संयम की साधना के फलस्वरूप समाधिमरण को प्राप्त कर सौधर्म देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव बन गए ।

कठोर जीवन

महाविदेह क्षेत्र !
पुष्कलावती विजय !!
पुंडरीकिणी नगरी !!!
वज्रदत्त चक्रवर्ती और यशोधरा रानी ।

अपने देवायु को पूर्ण कर एक शुभ दिन भवदत्तमुनि (देवात्मा) की आत्मा का यशोधरा महारानी की कुक्षि में अवतरण हुआ ।

गर्भ में पुण्यशाली आत्मा का अवतरण होने पर माँ के मन में शुभ दोहद पैदा होते हैं और भयंकर पापी आत्मा का अवतरण होने पर माँ को अशुभ दोहद पैदा होते हैं ।

भवदत्त की आत्मा महान् थी । उस महान् आत्मा के अवतरण के कारण यशोधरा के दिल में शुभ दोहद पैदा हुए ।

यशोधरा को समुद्र-स्नान का दोहद उत्पन्न हुआ । राजा ने समुद्र समान सीता नदी में स्नान कराकर रानी का वह दोहद पूर्ण किया । दोहद पूर्ण होने से रानी के हर्ष का पार न रहा । उसका देह-सौंदर्य पूर्णिमा के चाँद की भाँति खिल उठा ।

महारानी का गर्भकाल पूर्ण हुआ । एक शुभ दिन-शुभ वेला में महारानी ने अत्यंत ही तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । महाराजा ने पुत्र-जन्म का भव्य महोत्सव किया और समय आने पर राजा ने राजपुत्र का **'सागरदत्त'** नाम रखा ।

दूज के चाँद की भाँति सागरदत्त धीरे-धीरे बड़ा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ उसने 72 कलाओं का शिक्षण प्राप्त किया । इन 72 कलाओं के साथ-साथ सागरदत्त धर्म कला में भी निपुण बना ।

धीरे-धीरे सागरदत्त ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । अनेक राजकन्याओं के साथ सागरदत्त ने पाणिग्रहण किया । एक दिन सागरदत्त अपनी स्त्रियों के साथ महल के झरोखे में बैठकर नगर के विविध दृश्यों को निहार रहा था... तभी उसकी नजर आकाश की ओर गई । उसने आकाश में बादलों से बने मेरु पर्वत के आकार को देखा । वह टकटकी नजर से यह दृश्य देख रहा था, तभी हवा का एक तेज झोंका आया और चंद क्षणों में वे सब बादल बिखर गए !

बादलों की इन विभिन्न अवस्थाओं को देखकर सागरदत्त के मन में वैराग्य की ज्योति पैदा हो गई ।

दुनिया में प्रतिक्षण चित्र-विचित्र घटनाएँ घटती रहती हैं, जो ज्ञानियों के लिए प्रबल वैराग्य का कारण बनती हैं । हाँ ! उन सब घटनाओं से अज्ञानियों को कुछ भी लेना-देना नहीं होता है ।

युवावस्था में अकाल मृत्यु, अचानक भयंकर रोग का आगमन, अचानक व्यापार में भयंकर नुकसान, अचानक भयंकर दुर्घटना आदि-आदि ऐसे प्रसंग हैं, जिन्हें देखकर ज्ञानी आत्मा के दिल में इस संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव पैदा हो जाता है और वे तत्क्षण चारित्र मार्ग का अनुसरण करने के लिए सुसज्ज बन जाती हैं ।

यद्यपि बादलों का आगमन और उनका बिखराव कोई नई और आश्चर्यकारी घटना नहीं है, परन्तु ज्ञानी आत्मा के लिए तो इतना ही निमित्त पर्याप्त है । वह आत्मा छोटे से निमित्त को पाकर भी जागृत हो जाती है ।

बस, बादलों के बिखराव को देखकर सागरदत्त सोचने लगा, ``अहो ! ***इन बादलों की भाँति यह जीवन भी क्षणभंगुर है । इस क्षणभंगुर जीवन को क्षणविनश्वर भौतिक सुखों के पीछे नष्ट करना मूर्खता है । मानव भव अत्यंत दुर्लभ है । आयुष्य पवन की भाँति चपल है । यह जीवन तो आत्मसाधना के लिए मिला है । इस जीवन की प्रत्येक क्षण अत्यंत कीमती है । मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है । वह कभी भी आकर इस जीवन का अंत ला सकती है । अतः अब मुझे प्रमाद करना ठीक नहीं है । जल्दी संयम धर्म स्वीकार कर आत्महित के लिए पुरुषार्थ प्रारंभ कर देना चाहिए ।''*** इस प्रकार विचार कर मनोमन शीघ्र ही संयम धर्म के स्वीकार का निर्णय कर वह अपने माता पिता के पास आया और बोला, ``हे उपकारी माताजी ! आप मेरे सच्चे हितैषी हो...संयम

जीवन में ही आत्मा का सच्चा हित रहा हुआ है, अतः आप मुझे शीघ्र ही संयम की अनुमति प्रदान करो ।''

संयम की बात सुनते ही राजा-रानी ने वज्राघात सा अनुभव किया ।

वे बोले, ``बेटा ! तू तो हमारे मनोरथों को एक साथ चूर-चूर करने के लिए तैयार हो गया । हमने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि तू इस प्रकार यौवनवय में ही दीक्षा की बात करेगा ! अभी तू युवराज है । राज्य को ग्रहण कर प्रजा का पालन कर ! बाद में समय आने पर व्रत ग्रहण करना । अभी उसकी बात मत कर ।''

सागरदत्त ने कहा, ``पिताजी ! क्या मृत्यु वृद्धावस्था में ही आएगी, ऐसी कोई गारंटी है, यदि नहीं, तो फिर आत्मकल्याण के मार्ग में देरी क्यों करनी चाहिए ?''

सागरदत्त ने अनेक युक्तियों से अपने माता-पिता को जीवन की क्षणभंगुरता समझाने की कोशिश की । आखिर माता-पिता ने उसे संयम के लिए अनुमति प्रदान की और एक शुभ दिन सागरदत्त ने सागर नाम के आचार्य भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

सागरदत्त संसारी मिटकर साधु बन गए । दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे रत्नत्रयी की साधना में आकंठ डूब गए । विविध प्रकार के स्वाध्याय–तप–अभिग्रह धारण करने लगे । जिसके परिणामस्वरूप श्रुतसागर के पारगामी बने । सागरदत्त मुनि को अवधिज्ञान पैदा हुआ ।

इधर भवदेव मुनि की आत्मा ने भी अपना देवायुष्य पूर्ण किया । देवलोक में से च्यवकर उसी विजय में वीतशोका नगरी के पद्मरथ राजा की महारानी वनमाला की कुक्षि में पैदा हुए । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजा ने पुत्रजन्म का भव्य महोत्सव किया और एक शुभ दिन बालक का **'शिव'** नामकरण किया ।

शिवकुमार धीरे-धीरे बड़ा होने लगा । आगे बढ़कर उसने पुरुष संबंधी समस्त 72 कलाएँ प्राप्त कीं । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर अनेक राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ ।

एक बार सागरदत्त महामुनि ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उसी नगर के बाह्य उद्यान में पधारे । सागरदत्त मुनि के मासक्षमण की तपश्चर्या पूर्णाहुति पर थी । उसी नगर के **'कामसमृद्ध'** नामक सार्थवाह ने तपस्वी मुनिवर को

पारणा कराया । इस सुपात्रदान के प्रभाव से देवताओं ने आकाश से वसुधारा की वृष्टि की ।

लोगों के मुख से इस वृत्तांत को सुनकर शिवकुमार भी मुनिदर्शन के लिए उद्यान में आया । मुनि को वंदनकर वह योग्य स्थान में बैठ गया ।

चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली सागरदत्त महामुनि ने अपनी धर्म-देशना प्रारंभ की । देशना के अन्तर्गत उन्होंने संसार की भयानकता और जैन धर्म की श्रेष्ठता का वर्णन किया, जिसे सुनकर शिवकुमार के मन में भी संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हो गया ।

देशना-समाप्ति के बाद शिवकुमार ने पूछा, ``प्रभो ! आपको देखकर मेरे दिल में अधिकाधिक हर्ष उत्पन्न हो रहा है तो क्या आपका व मेरा पूर्वभव का कोई संबंध है ?''

मुनिवर ने कहा, **``हाँ ! पूर्वभव में तुम मेरे प्राण से भी प्यारे छोटे भाई थे । तुम्हारी व्रतग्रहण की इच्छा नहीं होने पर भी तुम्हारे आत्महित को ध्यान में रखकर मैंने तुम्हें दीक्षा दिलाई थी । उस दीक्षा के प्रभाव से ही तुम और मैं मरकर सौधर्म देवलोक में देव बने थे । वहाँ पर भी हम दोनों के बीच घनिष्ट प्रेम था । वहाँ से च्यवकर मैं सागरदत्त बना और तुम शिवकुमार ।**

``इस भव में मैंने गुरुदेव के पास भागवती दीक्षा स्वीकार की है, अतः सभी जीवों के प्रति समदृष्टि वाला बना हूँ, जबकि तू अभी रागवाला है, अतः तेरे दिल में मेरे प्रति अभी भी तीव्र राग है ।''

शिवकुमार ने कहा, **``गत भव में चारित्र के प्रभाव से मैं देव बना, अतः इस भव में भी मेरे उद्धार के लिए आप मुझे चारित्र प्रदान करो । अभी मैं घर जाकर माता-पिता की अनुमति लेकर आता हूँ, तब तक आप इसी उद्यान में स्थिरता करें ।''**

इतना कहकर शिवकुमार अपने घर आया और माता-पिता को समझाने लगा, ``मैंने आज सागरदत्त मुनि की वैराग्यमय धर्मदेशना का श्रवण किया है और वह देशना मुझे अत्यंत ही रुचिकर लगी है । परिणामस्वरूप यह संसार मुझे भयंकर दावानल की भाँति प्रतीत हो रहा है । मैं एक क्षण भी इस भयंकर संसार में रहना नहीं चाहता हूँ । अतः आप मुझे प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए अनुमति प्रदान करो । मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने में सूर्य समान ऐसे सागरदत्त मुनि ही मेरे लिए शरण्य हैं ।''

शिवकुमार की इन बातों को सुनकर माता-पिता ने कहा, ``वत्स ! तू ये कैसी बातें कर रहा है ? ये बातें तो हमारे लिए वज्राघात समान हैं । इस यौवन वय में इस प्रकार व्रत का ग्रहण करना ठीक नहीं है । यदि तू हमारे प्रति भक्तिवाला हो और हमारी अनुमति से ही दीक्षा लेनेवाला हो तो इस कार्य के लिए हमारा स्पष्ट निषेध है । तू हमारी अनुमति के बिना भी दीक्षा ले लेगा, तो तेरे वियोग की पीड़ा से हम ऐसे ही मर जाएंगे ।''

माता-पिता की इन बातों को सुनकर शिवकुमार को अत्यंत ही आघात लगा । वह सोचने लगा, ``अहो ! मोह का बंधन कितना गाढ़ है । मेरे वियोग में उनकी अकाल मृत्यु हो जाय तो मेरे लिए तो इधर व्याघ्र और उधर भयंकर नदी जैसी स्थिति हो गई है ! जब तक माता-पिता द्रव्य दीक्षा के लिए अनुमति नहीं दें तब तक क्यों न घर में भावयति के रूप में जीवन व्यतीत करूँ'' इस प्रकार विचार कर उसने समस्त सावद्य योगों का त्याग कर भाव से दीक्षा स्वीकार कर ली और भाव से ही सागरदत्त मुनि का शिष्य बन गया ।

इस प्रकार भावयति की प्रतिज्ञा स्वीकार कर वह एकदम मौन हो गया । उसने कुछ भी बोलना बंद कर दिया । उसने सोचा, `शायद इस प्रकार मौन रहने से भी मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है ।'

जब उसके माता-पिता ने उसे भोजन के लिए आग्रह किया, तब उसने कुछ भी खाने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उसने तो मन से समस्त सावद्य योगों के त्याग की प्रतिज्ञा कर ली थी ।

कुछ दिनों तक शिवकुमार ने कुछ भी खाया-पीया नहीं । उसके माता-पिता को अत्यंत ही चिंता सताने लगी । आखिर उसके पिता ने श्रेष्ठी-पुत्र दृढ़धर्म नाम के श्रावक को बुलाया और उसे कहा, ``दीक्षा की अनुमति नहीं देने के कारण शिवकुमार मौन धारण कर लिया है, वह कुछ भी खाता-पीता नहीं है, अतः तुम उसे समझाओ और भोजन करने के लिए तैयार करो । यदि तुम मेरा इतना काम करोगे तो मैं तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूलूंगा ।''

राजा की इस प्रार्थना को सुनकर दृढ़धर्म ने कहा, ``मैं उसे समझाने की कोशिश करूंगा ।'' इतना कहकर उसने शिवकुमार के खंड में `निसीहि' कहकर प्रवेश किया । तत्पश्चात् ईर्यापथिकी (लघु प्रतिक्रमण) कर उसने द्वादशावर्त वंदन किया, फिर भूमि का प्रमार्जन कर ``अणुजाणह'' कहकर नीचे बैठा ।

दृढ़धर्म श्रावक के इस प्रकार के विनय वंदन आदि की क्रिया को देखकर शिवकुमार ने कहा, ``बंधुवर्य ! इस प्रकार का विनय तो सागरदत्त मुनि के अन्य मुनियों को करते हुए देखा है, तुमने यह विनय मेरे प्रति क्यों किया ? क्या यह उचित है ?''

दृढ़धर्म ने कहा, ``माता-पिता की अनुमति नहीं मिलने के कारण आपने भाव से साधु-धर्म स्वीकार किया है, अतः आप इस प्रकार के वंदन के योग्य हो । परन्तु मैं आपको यह पूछने के लिए आया हूँ कि आपने भोजन का सर्वथा त्याग क्यों किया ?''

शिवकुमार ने कहा, ``मुझे दीक्षा लेने की भावना है, परन्तु मेरे माता-पिता मुझे अनुमति नहीं दे रहे हैं, अतः उनके उद्वेग के लिए ही मैंने आहार का त्याग किया है, ताकि वे उद्वेग पाकर मुझे दीक्षा की अनुमति दें ।''

दृढ़धर्म ने कहा, ``यद्यपि आपका उद्देश्य शुभ है, परन्तु भावधर्म की आराधना के लिए शरीर को टिकाना जरूरी है और शरीर को टिकाने के लिए भोजन ग्रहण करना अनिवार्य है । भोजन के बिना शरीर कैसे टिक पाएगा ? महर्षि भी जीवन धारण करने के लिए निर्दोष आहार लेते हैं ।''

शिवकुमार ने कहा, ``यहाँ मुझे निर्दोष आहार कैसे मिल सकेगा ? इसी कारण मैंने आहार का सर्वथा त्याग किया है ।''

दृढ़धर्म ने कहा, ``आज से मैं आपका शिष्यत्व स्वीकार करता हूँ, आप मेरे गुरु हो और मैं आपके लिए निर्दोष व निरवद्य भिक्षा ले आऊँगा ।''

शिवकुमार ने कहा, ``अच्छा, मैं तुम्हारी बात स्वीकार करता हूँ, परन्तु मैं हमेशा छट्ठ के पारणे आयंबिल करूंगा ।''

बस, तब से दृढ़धर्म भावयति बने शिवकुमार की सेवा भक्ति करने लगे ।

इस प्रकार निरंतर छट्ठ के पारणे आयंबिल का तप करते हुए भाव से साधु बने शिवकुमार को 12 वर्ष बीत गए । फिर भी माता-पिता ने उसे दीक्षा के लिए अनुमति नहीं दी । अंत में अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म पाकर शिवकुमार 5वें ब्रह्म देवलोक में **विद्युन्माली** नाम का देव बना ।''

`हे श्रेणिक ! पूर्व भव की श्रेष्ठ आराधना के फलस्वरूप 7 दिन बाद

इस देव का च्यवन वाला हैं, फिर भी इस देव का देह अत्यंत ही कांतिमान और तेजस्वी है ।'

प्रभु के मुखारविंद से चरम केवली जंबूस्वामी के पूर्व भव के रोमांचक वर्णन को सुनकर श्रेणिक महाराजा अत्यंत प्रसन्न हो गए और भावपूर्वक उनकी अनुमोदना करने लगे ।

अनिच्छा से लग्न

मगध देश ! राजगृही नगरी !!

श्रेणिक महाराजा न्याय और नीति से प्रजा का पालन करते थे । उसी नगर में **'ऋषभदत्त'** नाम का अत्यंत ही समृद्ध श्रेष्ठी रहता था, जो जैन धर्म का परम उपासक श्रावक था । उसके **धारिणी** नाम की धर्मपत्नी थी । वह भी जैन धर्म की परम उपासिका थी । धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी एक संतान की कमी के कारण उसे सुखमय संसार भी दुःखमय प्रतीत हो रहा था ।

धारिणी जब भी पुत्र परिवार युक्त किसी स्त्री को देखती, तो उसके दिल में पुत्र-अभाव की पीड़ा होने लगती । बारबार पुत्र की चिंता के कारण उसके देह का सौंदर्य धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा था । उसकी इस स्थिति को देख एक बार ऋषभदत्त ने पूछा, ``प्रिये ! तेरी देहलता धीरे-धीरे कृश क्यों हो रही है ? क्या तेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग है ? अथवा किसी प्रकार की मानसिक चिंता है ?''

धारिणी ने कहा, ``स्वामिन् ! यद्यपि आपके सान्निध्य के कारण मुझे किसी प्रकार की कमी नहीं है...परन्तु एक ही चिंता मेरे दिल को बारबार सताती रहती है और वह है संतान प्राप्ति की ! संतान के अभाव के कारण मुझे मेरा जीवन शून्य प्रतीत हो रहा है । जीवन का आनंद लुप्त हो चुका है । मुझे मेरा जीवन शून्य वन की भाँति अत्यंत ही भयावह प्रतीत हो रहा है ।''

पत्नी की वेदना सभर इन बातों को सुनकर ऋषभदत्त ने उसे ढाढस बँधाते हुए कहा, ``प्रिये ! ***संतान की प्राप्ति तो भाग्य के अधीन है, अतः निरर्थक चिंता करने से क्या फायदा ? क्या चिंता करने से फल की प्राप्ति हो सकती है ? भाग्य अनुकूल होगा तो तुम्हारी इच्छा अवश्य फलीभूत होगी । पुण्य के बिना जगत् में कुछ भी सानुकूल वस्तु सुलभ नहीं है, अतः पुण्यवृद्धि***

के लिए प्रयास करना चाहिए । पुण्य का जोर बढ़ेगा तो पाप का जोर अवश्य घटेगा और पाप का क्षय होने पर अवश्य तेरी इच्छा पूर्ति होगी ।''

अपने पतिदेव के मुख से हितकारी बातों को सुनकर धारिणी का दु:ख हल्का हो गया ।

दु:ख की विस्मृति के लिए एक दिन ऋषभदत्त ने अपनी पत्नी को कहा, ``प्रिये ! चलो हम वैभारगिरि पर जाकर प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लें ।''

धारिणी ने ऋषभदत्त की बात स्वीकार कर ली । एक दिन वे दोनों वैभारगिरि पर पहुँचे । पत्नी के दु:ख को भुलाने के लिए ऋषभदत्त प्रकृति के सौंदर्य का खूब सुंदर शैली में वर्णन करने लगा, जिसे सुनकर धारिणी का हृदय प्रसन्नता से भर आया !

ऋषभदत्त और धारिणी परस्पर वार्ता-विनोद कर रहे थे । इसी बीच विद्याधर सिद्धपुत्र यशोमित्र आ गया ।

ऋषभदत्त ने यशोमित्र को पूछा, ``आप तो मेरे साधर्मिक हो, अभी आप कहाँ जा रहे हो ?''

यशोमित्र ने कहा, ``चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा के पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी भगवंत उद्यान में पधारे हैं, अत: उन्हें वंदन करने के लिए जा रहा हूँ, यदि आपको भी वंदन करने की इच्छा हो तो आप भी आ सकेंगे ।''

यशोमित्र के इस आमंत्रण को ऋषभदत्त ने तुरंत स्वीकार कर लिया और थोड़ी देर में वे उस उद्यान में पहुँच गए, जहाँ सुधर्मा स्वामीजी अपनी अमृतमय मधुर वाणी से भव्य जीवों को प्रतिबोध दे रहे थे ।

ऋषभदत्त व धारिणी ने गणधर भगवंत को भावपूर्वक वंदना की, तत्पश्चात् वे योग्य आसन पर बैठ गए ।

सुधर्मा स्वामी ने संसार के रौद्र स्वरूप और मोक्ष के कल्याणकारी स्वरूप का सरल शैली से इस प्रकार वर्णन किया कि जिसे सुनकर अनेक भव्यात्माओं के हृदय में वैराग्य की ज्योति पैदा हो गई ।

देशना-समाप्ति के बाद सिद्धपुत्र ने सुधर्मा स्वामी को पूछा, ``हे प्रभो ! जिसके नाम से यह जंबूद्वीप है, वह जंबू वृक्ष कैसा है ?''

सुधर्मास्वामी ने कहा, ``यह जंबू वृक्ष सर्वश्रेष्ठ रत्नों (पृथ्वीकाय) से बना हुआ है।'' इतना कहकर उस वृक्ष का प्रमाण, प्रभाव और स्वरूप आदि का बहुत सुंदर शैली में वर्णन किया।

इसी बीच अवसर देखकर धारिणी ने सुधर्मा स्वामी भगवंत को पूछा, ``प्रभो ! मुझे संतान प्राप्ति होगी या नहीं ?''

धारिणी के इस प्रश्न को सुनते ही सिद्धपुत्र यशोमित्र ने कहा, ``हे धारिणी ! संसारत्यागी गुरु भगवंतों को इस प्रकार का सावद्य प्रश्न नहीं पूछना चाहिए, क्योंकि वे संसार संबंधी प्रश्नों के जवाब नहीं देते हैं। परन्तु हे कल्याणी ! जिनेश्वर भगवंत के उपदेश को सुनकर मैं निमित्त ज्ञान में प्रवीण बना हूँ, अतः निमित्त के बल से तुम्हारे प्रश्न का जवाब देता हूँ। तुम स्वप्न में अपनी गोद में बैठे हुए सिंह को देखोगी, जिसके परिणामस्वरूप सिंह समान पुत्ररत्न को जन्म दोगी और जंबू वृक्ष की भाँति उस पुत्र का नाम जंबू होगा जिसका देवतागण भी सान्निध्य करेंगे।''

यह सुनकर खुश होकर धारिणी बोली, ``तो मैं जंबू देव को उद्देशित कर 108 आयंबिल का तप करूंगी।''

उसके बाद तीनों ने सुधर्मास्वामी के चरणों में पुनः वंदना की। फिर वैभारगिरि से नीचे उतर आए।

एक शुभ दिन धारिणी ने स्वप्न में सफेद सिंह देखा, जिसे देखकर वह अत्यंत ही प्रसन्न हो गई। उसने प्रातः ऋषभदत्त को स्वप्न की बात कही।

ऋषभदत्त ने कहा, ``सिद्धपुत्र की बात सत्य सिद्ध हुई है, तू शीघ्र ही जंबू नाम के पुत्र की माता होगी।''

उसी समय पाँचवें ब्रह्म देवलोक में से विद्युन्माली नाम के देव का च्यवन हुआ और धारिणी की कुक्षि में उसका अवतरण हुआ। महान् और पुण्यशाली आत्मा के अवतरण के कारण धारिणी माता को उत्तम दोहद पैदा होने लगे। प्रभु-पूजा, गुरु पूजा आदि जो भी उत्तम दोहद धारिणी को पैदा हुए, ऋषभदत्त ने उन सब दोहदों को पूर्ण किया।

धारिणी अत्यंत ही सावधानीपूर्वक गर्भ वहन करने लगी। धीरे धीरे समय बीतने लगा और एक शुभ दिन धारिणी ने सूर्य समान अत्यंत तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र के मुखदर्शन से धारिणी के हर्ष का पार न रहा।

ऋषभदत्त ने भी अत्यंत ही हर्षोल्लास के साथ पुत्र का जन्म महोत्सव मनाया और एक शुभ दिन बालक का **'जंबू'** इस प्रकार नामकरण किया ।

धीरे-धीरे समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा । दूज के चाँद की भाँति जंबूकुमार भी देह और बुद्धि से विकसित होने लगा । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के पूर्व ही वह पुरुषों की 72 कलाओं में निपुण बन गया ।

इधर उसी नगर में समुद्रप्रिय नाम का श्रेष्ठी रहता था, जिसके पद्मावती नाम की प्रिया थी । उस दंपति के **समुद्रश्री** नाम की कन्या थी ।

समुद्रदत्त नाम के श्रेष्ठी के कनकमाला नाम की पत्नी थी, जिसके **पद्मश्री** नाम की कन्या थी ।

सागरदत्त नाम के श्रेष्ठी के **विनयश्री** नाम की पत्नी थी, उसके **पद्मसेना** नाम की पुत्री थी ।

कुबेरदत्त नाम के श्रेष्ठी के धनश्री नाम की पत्नी थी, जिसके **कनकसेना** नाम की पुत्री थी । ये चारों श्रेष्ठि-कन्याएँ पूर्व भव में विद्युन्माली देव की चार प्रियाएँ थीं ।

उसी नगर में कुबेरसेन सेठ की कनकवती नाम की पत्नी थी और उनके **नभःसेना** नाम की पुत्री थी ।

श्रमणदत्त सेठ के श्रीषेणा नाम की पत्नी थी, जिसके **कनकश्री** नाम की पुत्री थी ।

वसुषेण नाम के सेठ के वीरमती नाम की पत्नी थी, और **कनकवती** नाम की पुत्री थी और

वसुपालित नाम के सेठ के जयसेना नाम की पत्नी थी, उसके **जयश्री** नाम की पुत्री थी ।

ये आठों श्रेष्ठी राजगृही नगरी में अत्यंत ही समृद्धिशाली और प्रतिष्ठित थें । एक बार इन आठों श्रेष्ठियों ने आकर जंबूकुमार के पिता ऋषभदत्त को कहा, ``हे श्रेष्ठिवर्य ! रूप-लावण्य और गुणों की खान स्वरूप हम सबके एक-एक कन्या है । वे सब यौवन वय को प्राप्त हो चुकी हैं । आपके पुत्र जंबूकुमार को हमने देखा हैं । वय, रूप और गुण से समृद्ध ऐसे वर की प्राप्ति कोई पुण्य से ही होती है, अतः आपसे निवेदन हैं कि आप अपने पुत्र के लिए इन कन्याओं को स्वीकार करें और इस कार्य हेतु सहमति प्रदान करें ।'

ऋषभदत्त सेठ के मन में भी यही इच्छा थी । वे सोच रहे थे कि रूप व गुण से समृद्ध योग्य कन्या के साथ जंबू का पाणिग्रहण होना चाहिए ।

इन आठ श्रेष्ठियों की इस प्रार्थना को सुनकर ऋषभदत्त ने सोचा, `यह तो घर बैठे गंगा आ गई है । ये कन्याएँ मेरे पुत्र के लिए हर तरह से योग्य हैं ।' इस प्रकार विचार कर ऋषभदत्त सेठ ने उन सब श्रेष्ठियों की प्रार्थना हृदय से स्वीकार की । अपनी प्रार्थना स्वीकार होते ही वे सब श्रेष्ठी अत्यंत खुश हो गए । उन आठ कन्याओं को जब इस बात का पता चला कि उनका विवाह संबंध श्री जंबूकुमार के साथ तय हुआ है, तो वे भी अत्यंत खुश हो गईं ।

देशना श्रवण

एक शुभ दिन चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा के पंचम गणधर सुधर्मास्वामी भगवंत पृथ्वीतल को पावन करते हुए राजगृही नगर के बाहर उद्यान में पधारे । गणधर भगवंत के आगमन को सुनकर राजगृही नगर के अनेक नर-नारी गण उनकी अमृत समान मधुर देशना का पान करने के लिए उद्यान में आएं ।

मेघ को देखकर मयूर नाच उठता है और चंद्र को देखकर चकोर पक्षी आनंदित हो जाता है, उसी प्रकार सुधर्मा स्वामी के आगमन को सुनकर जंबूकुमार एकदम रोमांचित हो उठा और तत्क्षण अन्य समस्त प्रवृत्तियों को छोड़कर सुधर्मा स्वामी भगवंत की धर्मदेशना के श्रवण के लिए घर से निकल पड़ा ।

थोड़ी देर में जंबूकुमार उद्यान में आ गया । उसने आकर सुधर्मा स्वामी भगवंत के चरणों में भावपूर्वक वंदना की । तत्पश्चात् योग्य आसन पर बैठ गया ।

सुधर्मा स्वामी ने अपनी देशना प्रारंभ की और उस देशना के अन्तर्गत संसार की भयानकता और मोक्ष की मंगलमयता का बहुत ही सुंदर निरूपण किया, जिसे सुनकर जंबूकुमार का मन वैराग्य रंग से रंजित हो उठा ।

जंबूकुमार ने हाथ जोड़कर कहा, ``हे प्रभो ! मैं अपने घर जाकर माता-पिता की अनुमति लेकर आऊँ तब तक आप यहीं स्थिरता करें । मुझे यह संसार भयंकर जेल की भाँति प्रतीत हो रहा है । मैं शीघ्र ही भव के बंधन से मुक्त होना चाहता हूँ और उसके लिए आपका आशीर्वाद चाहता हूँ ।'' इस प्रकार कहकर जंबूकुमार रथ में आरूढ़ होकर नगर की ओर आगे बढ़ने लगा ।

रथ में आरूढ़ होकर कुमार नगर के द्वार पर आ पहुँचा । उस समय जंबुकुमार ने देखा, `नगर का द्वार हाथी, घोड़े और सैनिकों से घिरा हुआ है । द्वार में प्रवेश करने के लिए थोड़ी भी जगह नहीं है ।

कुमार ने सोचा, ``इस द्वार से प्रवेश करने में काफी देर लग जाएगी, अतः क्यों न अन्य दरवाजे से ही नगर में प्रवेश कर लूँ ।'' इस प्रकार विचार कर कुमार ने अपने रथ को पुनः आगे बढ़ाया और कुछ ही देर में वह नगर के अन्य द्वार के पास आ गया । परन्तु यह क्या ? इस द्वार पर भी बड़े-बड़े यंत्र लगे हुए थे और उन यंत्रों में शत्रुओं के संहार के लिए बड़ी-बड़ी शिलाएँ लगी हुई थीं ।

जंबुकुमार ने सोचा, ``यदि इस द्वार से नगर प्रवेश के लिए प्रयत्न किया और संयोगवश कोई शिला मेरे ऊपर गिर गई तो मेरी अकाल मृत्यु हो सकती है । यद्यपि मुझे मौत का भय नहीं है, परन्तु अविरति अवस्था में मृत्यु हो जाय तो आत्मा की दुर्गति हो सकती है अतः क्यों न मैं सुधर्मास्वामी भगवंत के पास जाकर पहले व्रत स्वीकार कर लूँ, ताकि बाद में अचानक मेरी मृत्यु हो जाय तो भी मेरी आत्मा का रक्षण हो सकेगा ।'' इस प्रकार विचार कर जंबूकुमार वापस सुधर्मास्वामी के पास उद्यान में आ गए । सुधर्मास्वामी को वंदन करके बोले, **``प्रभो ! मैं जीवन-पर्यंत मन, वचन और काया से ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा स्वीकार करना चाहता हूँ ।''**

जंबूकुमार की इस प्रार्थना को सुनकर सुधर्मास्वामी भगवंत ने जंबूकुमार को आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा दे दी ।

इस महान् प्रतिज्ञा को स्वीकार कर जंबूकुमार अपने घर आया और अपने उपकारी माता-पिता को बोला, ``आज मैंने सुधर्मास्वामी भगवंत के मुख से वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना का श्रवण किया । भगवंत की धर्मदेशना को सुनकर मेरे मन में इस संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ है । यह संसार मुझे कारावास की भाँति प्रतीत हो रहा है । अब मैं एक क्षण भी इस संसार में रहने में असमर्थ हूँ, अतः आप मुझे चारित्र स्वीकार करने की अनुमति प्रदान करो !''

जंबूकुमार के मुख से चारित्र की बात सुनते ही माता-पिता की आँखों में आँसू आ गए ।

वे बोले, ``बेटा ! अचानक तू यह क्या बोल रहा है ? हमारे दिल में तो तेरे लग्न के मनोरथ हैं और हम पुत्र-वधू और पौत्र का मुख देखना चाहते हैं, जबकि अचानक ही तुम हमारी आशाओं पर पानी फिरा रहे हो । वत्स ! इस युवावस्था में चारित्र की बात उचित नहीं है ।''

जंबूकुमार बोला, ``माताजी ! जीवन का क्या भरोसा है । मौत कभी भी आ सकती है । क्या वृद्धावस्था में ही मौत आएगी, ऐसा निश्चित रूप से कह सकते हैं ? जीवन तो पानी के परपोटे की तरह अत्यंत ही क्षणभंगुर है, अतः आप चारित्र के लिए अनुमति प्रदान कर मेरे ऊपर अनुग्रह करें ।''

``बेटा ! अब तेरा मन इस संसार से ही ऊब गया है और तू चारित्र ही लेना चाहता है तो एक बार तू उन आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर ले । उसके बाद हम भी तेरे साथ दीक्षा ले लेंगे ।''

जंबूकुमार ने सोचा, ``माता-पिता के अति आग्रह को देख यदि एक बार मैं उनकी आज्ञा को स्वीकार कर दूँगा तो बाद में वे भी दीक्षा के लिए तैयार हो जाएंगे, अतः उनकी आज्ञा के पालन में फायदा है, इतना ही नहीं, मेरा मन तो संयम में दृढ़ है ही, अतः उन आठों कन्याओं को भी प्रेरणा देकर उन्हें भी संयम मार्ग में आगे बढ़ा सकूंगा'', इस प्रकार विचार कर जंबूकुमार ने कहा, ``आपका अतिआग्रह है तो मैं एक बार लग्न जीवन स्वीकार करता हूँ, परन्तु लग्न के दूसरे दिन मैं संयम स्वीकार कर लूंगा, उस समय आप मुझे रोकना मत ।''

माता-पिता ने सोचा, **``पुरुष का वैराग्य तभी तक टिक पाता है, जब तक उसे स्त्री का संग नहीं होता है । एक ही स्त्री के रूप-सौंदर्य से मोहित होकर अनेक त्यागी-तपस्वी साधु भी संसारी बन गए, जबकि यहाँ तो आठ-आठ कन्याएँ हैं, अतः उन कन्याओं के अद्‌भुत रूप, लावण्य व सौंदर्य के जाल में जंबूकुमार अवश्य फँस जाएगा । 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी' की भाँति इसका वैराग्य रंग ही उड़ जाएगा, तो फिर दीक्षा की बात कहाँ रहेगी और इन आठ-आठ कन्याओं की कसौटी में से पार होने पर भी जंबूकुमार दीक्षा के लिए तैयार रहा, तब तो उसके साथ हमें भी संसार छोड़ देना होगा ।''** इस प्रकार विचार कर जंबूकुमार के माता-पिता ने जंबूकुमार की शर्त स्वीकार कर ली ।

ऋषभदत्त ने सोचा, ``यह जंबू लग्न के दूसरे दिन दीक्षा की बात कर रहा है, अतः उन आठ कन्याओं के माता-पिताओं को भी इस बात की जानकारी देनी चाहिए ।''

ऋषभदत्त ने जाकर आठ कन्याओं के माता-पिताओं से बातचीत की । यह सुनकर उन माता-पिताओं को अत्यंत दुःख हुआ । उन आठों पिताओं ने मिलकर विचार किया, ``जंबूकुमार के साथ इन कन्याओं का अभिप्राय जान लें ।'' इस प्रकार विचार कर उन पिताओं ने अपनी-अपनी कन्या को कहा, ``जंबूकुमार तो लग्न के दूसरे दिन ही दीक्षा की बात करता है, अतः अब क्या करना, इसका तुम ही निर्णय करो ।''

उन आठों कन्याओं ने एक साथ मिलकर कहा, ``आपने हमें जंबूकुमार को सौंप दिया है, अतः इस भव में तो वो ही हमारा पति होगा । **राजा व साधु पुरुष का वचन एक ही होता है, इसी प्रकार कन्या भी एक ही बार दी जाती है,** अतः हम तो उन्हीं के साथ पाणिग्रहण करेंगी, और उनकी जो गति हो, वही हमारी गति हो । अब हमारा जीवन उन्हीं के अधीन है ।''

इस प्रकार कन्याओं के वचन सुनकर उनके माता-पिता ने लग्न की तैयारियाँ प्रारंभ कर दीं । लग्न का मुहूर्त निकाल दिया गया । 7 दिन बाद लग्न का शुभ मुहूर्त होने से दोनों पक्ष लग्न की जोर शोर से तैयारियाँ करने लगे । आखिर लग्न का वह दिन आ गया । जंबूकुमार को सुंदर वस्त्रों व आभूषणों से अलंकृत किया गया । हजारों ताराओं के बीच सुशोभित चंद्र की भाँति जंबूकुमार का सौंदर्य भी खिल उठा । चारों ओर स्त्रियाँ मंगल गीत गाने लगीं । विविध प्रकार के वाद्य-यंत्रों से आकाश मंडल गूंज उठा । जंबूकुमार व आठ कन्याओं का विवाह-मंडप में आगमन हुआ और बड़े ही धूम-धाम के साथ जंबूकुमार का उन आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हो गया ।

यद्यपि लग्न की क्रिया संसार-वृद्धि की क्रिया है, परन्तु जंबूकुमार के दिल में लग्न की कोई उत्सुकता नहीं थी । उसे तो आठ कन्याओं के सौंदर्य सभर देह में भी अशुचि के ही दर्शन हो रहे थे ! उसका मन तो मुक्ति रूपी कन्या को पाने के लिए लालायित था । लग्न के बाद कन्याओं के माता-पिता ने दहेज में अपार संपत्ति प्रदान की ।

लग्न विधि की समाप्ति के बाद उन आठों कन्याओं के साथ जंबूकुमार

अपने घर आया और संध्या समय उसने अपने शयनगृह में प्रवेश किया । उसकी आठों पत्नियाँ भी उसके इर्द-गिर्द आकर बैठ गईं ।

परस्पर चर्चा व दीक्षा स्वीकार

1. समुद्रश्री से वार्तालाप

समुद्रश्री ने कहा, `हे स्वामीनाथ ! महान पुण्योदय से प्राप्त इस भोग सामग्री को थोडा भी भोगे बिना ऐसे ही छोड़ देना-यह तो उस **बक** नाम के किसान की भांति सिर्फ मूर्खता ही है । ऐसे व्यक्ति को तो भूल करने के बाद सिर्फ पछताना ही पड़ता है ।'

जंबूकुमार ने कहा, `कैसे ?'

समुद्रश्री ने कहा, `सुषिम नाम के गांव में **बक** नाम का एक किसान रहता था । वर्षाऋतु आने पर उस किसान ने अपने खेत में चना, मुंग, चवला आदि के बीज बोए ।'

उसके बाद किसी प्रयोजन से वह मालवा में अपनी पुत्री के घर गया । पुत्री ने उसे गुड़ के पुडले खिलाए ।

बक ने पुत्री के श्वसुर को पूछा, `गुड़ आदि कैसे पैदा होता है ?'

श्वसुर ने कहा, `खेत में कुआँ खोदा जाय और खेत में गैहूँ और गन्ना बोया जाय ।' यह जानकर गैहूँ के कुछ बीज लेकर वह अपने घर आया ।

गुड़ के पुडले खाने के लोभ से उसने अपने खेत में बोए हुए चने व चवले आदि की फसल को उखेड़ दी । परिवारजनों के समझाने पर भी उसने एक नहीं सुनी ।

चने व चवले को उखेड़ने का कारण पूछने पर बोला, `यहां मुझे गैहूँ और गन्ना बोने का है और उसके मीठे पूडले खाने है ।' उसने कुआँ खोदना चालू किया, परंतु बहुत खोदने पर भी कुएँ में से पानी नहीं निकला । इसी बीच गैंहूँ बोने के लिए जो बीज लाए थे, वे बीज भी खाने से समाप्त हो गए ।

इस प्रकार उसे न तो गैहूँ मिले और न ही चना आदि । वह उभय भ्रष्ट हो गया ।

समुद्रश्री ने कहा, ``हे स्वामिन् ! आप इस लोक संबंधी स्त्री-धन आदि के वैभवी सुखों का त्याग कर अदृश्य ऐसे परलोक के सुख की इच्छा करोंगे तो

आपको भी उभय भ्रष्ट बने उस किसान की तरह बाद में पछताना पड़ेगा । परोक्ष सुख की आशा में वर्तमान में प्राप्त सुख की उपेक्षा करना अनुचित है । आपसे यही प्रार्थना है कि परलोक के परोक्ष सुखों के लोभ में आकर आप वर्तमान के प्रत्यक्ष सुखों का त्याग मत करो ।''

जंबूकुमार ने कहा, `मैं उस लोभी कौए जैसा नहीं हूँ कि मुझे दुःखी होना पड़े ! इतना कहकर उन्होंने कौए की कहानी सुनाई–

विंध्याचल पर्वत पर एक मदोन्मत्त हाथी रहता था । एक बार तृषातुर बना वह पानी पीने के लिए रेवा नदी के किनारे गया । परंतु पैर फिसल जाने से वह नदी में गिर गया और उसी समय उसकी मृत्यु हो गई ।

सियार व चील आदि प्राणी उसका मांस खाने लगे । हाथी के गुदा द्वार का मांस खाने से वहां बड़ा छेद हो गया । उस समय एक कौआ उस गुदा द्वार से अंदर प्रवेश कर मांस खाने लगा ।

इधर गर्मी के कारण चमड़ा सुखने से वह कौआ अंदर ही रह गया !

अचानक वर्षा के कारण हाथी का कलेवर बहकर समुद्र में चला गया । वहां छिद्र खुल जाने से वह कौआ बाहर निकला, परंतु चारों ओर समुद्र का पानी होने से उड़-उड़कर वापस हाथी के कलेवर पर बैठने लगा । हाथी के छिद्र में पानी भर जाने से वह हाथी पानी में डूब गया और उसके साथ वह कौआ भी पानी में डूबकर मर गया ।

जंबूकुमार ने समझाया कि मैं उस कौए की भाँति मृत हाथी रूपी स्त्रियों में लुब्ध बनकर इस भव सागर में डूबना नहीं चाहता हूँ । **सागर को तैरने में स्त्रियाँ तो पत्थर की नाव समान हैं, अतः जो संसार–सागर से पार होना चाहता है, उसे पत्थर की नाव समान स्त्रियों के ममत्व का त्याग कर देना चाहिए ।''**

2. पद्मश्री से वार्तालाप

जंबूकुमार की दूसरी पत्नी पद्मश्री बोली, `स्वामीनाथ ! आप हमारा त्याग करोंगे तो उस बंदर की तरह उभय भ्रष्ट बन जाओंगे । इतना कहकर बंदर की कहानी सुनाते हुए पद्मश्री ने कहा,

`हस्तिनापुर का राजा अरिकेसरी एक बार शिकार खेलने के लिए

जंगल में गया । जंगल में घुमता हुआ वह राजा एक सरोवर के तट पर पहुँचा । वहां उसने एक अत्यंत ही रूपवान् देवांगना जैसी राजकन्या को देखा । उसके रूप को देख राजा उस पर मोहित हो गया । वह उसे समझा-बुझाकर अपने राजमहल में ले आया । राजा ने उसे अपनी पट्टरानी बना दी ।

एक दिन राजा अपनी राजसभा में बैठा हुआ था । तभी लोगों को खुश करता हुआ एक मदारी राजसभा में आया और अपनी कला बताने लगा, परंतु आश्चर्य ! राजा की रानी को देखते ही मदारी का वह बंदर स्तब्ध हो गया...और एकटकी नजर से रानी को देखने लगा ।

मदारी ने बंदर को खूब मारा, फिर भी वह नाचने के लिए तैयार नहीं हुआ । तब राजा की पट्टरानी ने उसे समझाते हुए कहा, `अरे बंदर ! मैंने तुझे मना किया था, फिर भी अति लोभ के कारण मेरी बात मानी नहीं तो आज उसका दुष्परिणाम भुगत रहे हो, अतः अब खेद मत करो । **जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है ।** अब तो नाचने में ही लाभ है ।'

पट्टरानी से प्रतिबोध पाकर उस बंदर ने नाचकर राजा को खुश किया । राजा ने भी उसे इनाम देकर मदारी को विदाई दी ।

राजा ने रानी को पूछा, ``वह बंदर कौन था और क्यों रो रहा था ?''

रानी ने कहा, `नंदनवन में बंदर-बंदरी का एक युगल था, उनमें परस्पर खूब प्रेम था । एक बार गर्मी से संतप्त हुए वे दोनों एक तालाब में कूद पड़े । उसके साथ ही वे दोनों नर-नारी में बदल गए ।

उस समय अतिलोभ से बंदर में से नर बने बंदर ने अपनी पत्नी को कहा, `मनुष्य जीवन में जीवन निर्वाह करना कितना कठिन हैं, अतः क्यों न पुनः जलाशय में झंपापात कर देव-देवी बन जाए ।

उस नारी बनी बंदरी ने मना किया, **'अति लोभ न करे ।'** परंतु बंदर में से नर बने उसके पति ने पत्नी की बात स्वीकार नहीं की । वह पुनः जलाशय में गिर पड़ा । बस, जलाशय में गिरते ही वह पुनः बंदर हो गया ।

हे स्वामीनाथ ! यह वही बंदर था, जो नर में से पुनः बंदर बना है और मैं उसकी पत्नी थी, जो आज आपकी पट्टरानी बनी हूँ ।

पद्मश्री बोली, ``हे स्वामिन् ! आपको विषयसुख प्रत्यक्ष प्राप्त हुए हैं,

उन्हें छोड़कर आप परोक्ष सुख की इच्छा करोंगे तो आपको भी उस बंदर की तरह पछताना पड़ेगा ।''

पद्मश्री की यह कहानी सुनकर जंबूकुमार ने कहा, `मैं अंगारकारक जैसा नहीं हूँ कि बहुतसा भोग भोगने पर भी सदैव अतृप्त रहूँ ।

इतना कहकर बोले, `उन्होंने अंगारकारक की कहानी सुनाते हुए **`चंद्रपुर**, नगर में **`चंद्र**, नाम का अंगारकारक (कोयला बनानेवाला) था, जो जंगल में जाकर लकडियों को जलाकर कोयला बनाता था ।

एक बार वह गर्मी की ऋतु में अपने घर से पानी का मटका लेकर जंगल में जाकर कोयले बनाने लगा । गर्मी के ताप और आग की गर्मी के कारण वह मटके का सब पानी पी गया ।

रात्रि में उसे बहुत प्यास लगी । पानी तो पास में था नहीं, वह प्यासा ही झाड़ के नीचे सो गया ।

तीव्र प्यास के कारण रात्रि में उसने एक स्वप्न देखा-`तीव्र प्यास के कारण वह कुएँ का पानी पीए जा रहा हैं, पानी पीते पीते कुआँ खाली हो गया, परंतु उसकी प्यास शांत नहीं हुई । आगे चलकर तालाब, नदी और द्रह का भी पानी पी गया, फिर भी प्यास नहीं बुझी ! आगे चलकर वह जंगल में गया । वहां गहरे कुएँ में थोडासा पानी था । उसने घास का पूंज इकट्ठाकर उसे बांधकर कुएं में उतारा-फिर उसे बाहर खींचने लगा । घास के पूले में रहा पानी कुएं में टपकने लगा ।

अंत में घास के पूले को बाहर निकालकर घास के तिनकों पर रहे जल बिंदुओं को चाटने लगा । नदी व तालाब के जल से जो तृप्त नहीं हुआ, वह घास के तिनके पर रहे जल बिंदुओं से कैसे तृप्त होगा ?

अंगारकारक की कहानी कहकर जंबूकुमार ने कहा, ``मैं उस अंगारकारक की तरह विषयसुखों की तृष्णावाला नहीं हूँ कि मुझे बाद में पछताना पड़े ।''

``हे प्रिये ! भूतकाल में अपनी आत्मा ने अनेक बार देवलोक के दिव्य सुखों का अनुभव किया है, फिर भी यह आत्मा उन सुखों से तृप्त नहीं बनी है तो मानव भव के क्षणिक व तुच्छ सुखों से यह आत्मा कैसे तृप्त बनेगी ? सागर को पीने से भी जो तृप्त नहीं हुआ वह तृण के अग्र भाग पर रहे जल-बिंदुओं से कैसे तृप्त होगा ? अतः इन तुच्छ सुखों में आसक्त बनकर अपने

अमूल्य जीवन को गँवाने के बजाय आत्मिक शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने में ही अपने जीवन को सफल मानता हूँ।''

3. पद्मसेना से वार्तालाप

जंबूकुमार को समझाते हुए पद्मसेना ने कहा, **`आप मोक्ष-मोक्ष करके इस लोक की संपत्ति का भी त्याग कर रहे हो, इससे आपकी हालत तो उस सियार की भांति होगी जो उभय भ्रष्ट बना।**

जंबूकुमार ने कहा, `कैसे ?'

पद्मसेना ने सियार की कहानी सुनाते हुए कहा, `किसी जंगल में एक सियार रहता था। एक बार अचानक कहीं से उसे मांस का टुकडा मिला। अपने मुंह में मांस के टुकडे को लेकर नदी के किनारे आया। अचानक उसने जल में रही एक बड़ी मछली को देखा। उस मछली को पकड़ने के लोभ से उस मांस के टुकडे को नदी तट पर रखकर उस मछली को पकड़ने की कोशिश करने लगा, परंतु उसी समय वह मछली पानी के भीतर चली गई।

इधर एक चील पक्षी ने उस मांस के टुकडे को देखा। तुरंत ही उसे उठाकर उड़कर भाग गयी।

वह सियार जब मांस के टुकड़े को वापस लेने आया तो वहां वह टुकड़ा गायब था। अतिलोभ के कारण उसके पास जो था, वह भी खो बैठा।'

पद्मसेना बोली, ''स्वामिन् ! पुरुषार्थ अपने अधीन है, परन्तु परिणाम तो कर्माधीन है न ! अतः पूर्व जन्म के पुण्योदय से प्राप्त शुभ संयोगों का हाल तो भोग करो, उसके बाद भी तो दीक्षा लेकर आत्मकल्याण कर सकते हैं न ! अभी इतनी क्या जल्दी है ?''

जंबूकुमार ने कहा, `मैं विद्युन्माली विद्याधर की तरह राग में आसक्त नहीं हूँ। अतः मुझे कोई नुकसान नहीं हैं-इतना कहकर विद्युन्माली की कहानी सुनाते हुए जंबूकुमार ने कहा,

`गगन वल्लभ नगर में **मेघरथ** और **विद्युन्माली** नाम के दो विद्याधर भाई थे।

एक बार उन्हे मातंगी विद्या सिद्ध करने की इच्छा हुई, उस विद्या को सिद्ध करने के लिए मातंग अर्थात् चांडाल के घर रहना पड़े, चंडाल कन्या के साथ पाणिग्रहण करना पड़े। शादी करने के बाद भी निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़े, तो ही वह विद्या सिद्ध हो सकती थी।

मातंगी विद्या साधने की भावना से वे दोनों किसी चांडाल के घर पहुँचे ।

चांडाल ने पूछा, `तुम कौन हो ? कहां से आए हो ?'

उन्होंने कहा, `साकेतपुर के म्लेच्छ राजा, जो हमारे पिता है, उन्होंने हमें घर से बाहर निकाल दिया है, अतः हम आपकी शरण में आए है ।'

उनकी बाते सुनकर चांडाल को दया आ गई-उसने उन दोनों को अपने घर रख लिया । योग्य जानकर अपनी दो कन्याओं के साथ उन दोनों का पाणिग्रहण करा दिया ।

उन दोनों में मेघरथ खूब संयमी था, अतः ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह मंत्रसाधना करने लगा । उसकी पत्नी भी उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगी, जिसके फल स्वरूप मात्र 1 वर्ष में ही उसे मातंगी विद्या सिद्ध हो गई । उसका छोटाभाई विद्युन्माली अपनी पत्नी में आसक्त हो गया । उसकी पत्नी गर्भवती बनी । एक वर्ष के बाद मेघरथ ने पूछा, क्या विद्या सिद्ध हो गई ?

उसने कहा, `नहीं !' उसने अपनी हकीकत कह दी ।

मेघरथ ने कहा, `अरे मूढ ! एक चांडालिनी स्त्री के संग से अपने देह को क्यों दूषित किया ?'

विद्युन्माली ने कहा, `मेरी भूल हो गई, मैं तुम्हारी तरह संयमी नहीं रहा । मेरे अपराध को तुम क्षमा कर दो ।'

मेघरथ ने उसे माफ कर दिया और उसे एक वर्ष का समय दिया ।

एक वर्ष बाद मेघरथ पुनः आया तो उसने पुनः उसकी स्त्री को गर्भवती देखा । विद्युन्माली ने अपना मुंह शर्म से नीचे झुका दिया ।

तीसरे वर्ष भी यही स्थिति रही । आखिर मेघरथ ने उसे छोड़ दिया ।

स्त्री की आसक्ति के कारण वह अपनी विद्या सिद्ध नहीं कर सका, आखिर चांडालिनी का दास बनकर ही उसने अपना जीवन पूरा किया । अंत में मरकर नरक में चला गया ।

पद्मसेना को समझाते हुए जंबूकुमार ने कहा, **``मैं उस जड़ बुद्धि वाले विद्युन्माली की तरह क्षणिक व तुच्छ सुखों में आसक्त नहीं हूँ कि जिस आसक्ति के कारण उसे दीर्घकाल तक इस भयंकर संसार में भटकना पड़ा । मुझे तो प्यास है उस मुक्तिसुख को पाने की, जिसकी प्राप्ति के बाद आत्मा को कहीं भटकना नहीं पड़े ।''**

4. कनकसेना से वार्तालाप

कनकसेना ने कहा, **'हे स्वामीनाथ ! आप शंख को फूंकनेवाले शंखवादक की तरह अतिलोभ न करे अन्यथा आपको पछताना पड़ेगा ।**

जंबूकुमार ने कहा, 'कैसे ?'

कनकसेना ने कहा, 'सुनो !'

शालिग्राम में कणकूट नाम का कणबी रहता था । वह मजदूरी करके अपना पेट भरता था । एक बार किसी किसान ने अपने खेत की रक्षा की जवाबदारी उसे सौंपी ।

खेत में अनाज खानेवाले पंखियों को उड़ाने के लिए वह रात में शंख बजाता था ।

एक बार कुछ चौर गायों की चोरी करके गायों को लेकर जा रहे थे, तभी कणकूट ने जोरों से शंख बजाया । उसके शंख की ध्वनि को सुनकर उन चोरों ने सोचा, **'पीछे कोई आ रहा है यह सोचकर गायों के झूंड को वहीं छोड़कर वे चोर अन्यत्र भाग गए ।'**

गायों को वहां देखकर वह कणकूट गायों को ले गया ।

वह कणकूट प्रतिदिन रात्रि में शंख बजाने लगा । एक बार गायों की चोरी कर कुछ चोर जा रहे थे । उन्होंने शंख की ध्वनि सुनी । उन्होंने सोचा, 'हर बार यह शंख कौन बजाता हैं ?' इस प्रकार सोचकर उन्होंने उस शंखवादक को देखा । चोरों ने उसे पकड़ लिया और उसकी खूब पिटाई की ।

कनकसेना बोली, ***''स्वामिन् ! आप मेरी भी कुछ मानो ! मैं आपको चारित्र लेने में बाधक बनना नहीं चाहती हूँ, परन्तु अभी इसके लिए आप अति जल्दबाजी मत करो । अति जल्दबाजी करने वाले को बाद में पछताना पड़ता है । कुछ हमारी भी तो सुनो ! आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कर कुछ वर्ष गृहस्थ जीवन में रहकर सांसारिक भोग-सुखों का आनंद लो, उसके बाद हम भी आपके साथ संयम ले लेगी ।''***

जंबूकुमार ने कहा, **'मैं उस बंदर की तरह मुर्ख नहीं हूँ कि मुझे बाद में पछताना पड़े । इतना कहकर उन्होंने एक बंदर की कहानी सुनाते हुए कहा,**

'विंध्याचल पर्वत पर एक बंदर, बंदरी के साथ आनंद-कल्लोल

करता था । एक बार कोई बलवान बंदर वहां आ गया । वह बंदरी उस बंदर से आकर्षित हो गई । उसने पहलेवाले बंदर को छोड़ दिया ।

'फल रहित वृक्ष को पक्षी छोड़ देते है ।
सुखे तालाब को सारस पक्षी छोड़ देता है ।
सुगंध रहित पुष्प को भ्रमर छोड़ देता है ।
निर्धन मनुष्य को वेश्या छोड़ देती है ।
राज भ्रष्ट बने राजा को सेवक छोड़ देते है ।
संसार में सभी स्वार्थ के साथी है ।

उस बंदरी ने वृद्ध बंदर को छोड़ दिया और वह युवा-बंदर से प्रेम करने लगी ।

वृद्ध बंदर युवा बंदर से लड़ा परंतु उसे हार ही खानी पड़ी । आखिर वह वृद्ध बंदर वहां से भाग गया ।

उसे तीव्र प्यास लगी । पानी की शोध में वह घूम रहा था । शिलारस को पानी समझकर जैसे ही उसने अपना मुंह लगाया, उसका मुंह चिपक गया । मुख को हटाने के लिए पांव डाले तो पांव भी चिपक गए । आखिर वह बेमौत मर गया ।

जंबूकुमार ने बंदर की कहानी सुनाकर कहा, ``एक मात्र रसनेन्द्रिय की आसक्ति में आकर वह बंदर शिलारस में चिपक गया तो फिर शिलारस के समान स्त्रियों के विषय में जो पाँचों इन्द्रियों में आसक्त बन जाय, उसकी तो कितनी बुरी हालत होगी ? अतः मैं वैसी मूर्खता करना नहीं चाहता हूँ । **विषयों का आकर्षण तो विष से भी अधिक खतरनाक है । विष तो एक ही जीवन का अंत लाता है, जबकि ये विषय तो अनेक भवों तक आत्मा को डुबोनेवाले हैं ।''**

5. नभसेना से वार्तालाप

तब नभसेना ने कहा, **'हे स्वामीनाथ ! ज्यादा लोभ करना अच्छा नहीं है, ज्यादा लोभ करने से आप उस 'बुद्धि' नाम की स्त्री की तरह अनर्थ प्राप्त करोगे ।**

जंबूकुमार ने कहा, `कैसे ?'

तब उस नभसेना ने कहा, `नंदी गांव में सिद्धि और बुद्धि नाम की दो स्त्रियाँ थी । उस गांव के बाहर एक यक्ष का मंदिर था ।'

वह **'सिद्धि'** उत्तम फूल लेकर उस यक्ष की पूजा करने लगी । उसकी भक्ति से यक्ष खुश हो गया । वह यक्ष उसे रोज दो सोना मोहर देने लगा ।

धीरे धीरे सिद्धि के पास काफी धन हो गया । वह सोने के भाजन में भोजन करने लगी । उसकी इस समृद्धि को देख **वृद्धि** को ईर्ष्या होने लगी ! उसने सिद्धि को पूछा, `तेरे पास इतनी संपत्ति कहां से आ गई ?'

उसने कहा, `यक्ष की कृपा से !'

बस, वह भी यक्ष की पूजा के लिए दौड़ पड़ी । उसने भी पूजा आदि कर यक्ष को खुश किया ।

यक्ष ने कहा, `तुम्हे क्या चाहिए ?'

उसने कहा, `सिद्धि से दुगुना !'

बस, अब उसे चार-चार सोना मोहर मिलने लगी ।

अपनी सखी को अपने से दुगुना प्राप्त देख अब सिद्धि ने भी उससे दुगुना अर्थात् आठ-आठ सोनामोहर मांगी । वह यक्ष सिद्धि को आठ आठ सोनामोहर देने लगा । तब बुद्धि को 16-16 सोनामहोर मिलने लगी ।

सिद्धि का मन ईर्ष्या से जलने लगा । अपनी सखी को नष्ट करने की भावना से उसने यक्ष के पास मांगा, **'मेरी एक आंख फोड़ दी जाए ।'**

अब बुद्धि की बारी आई उसने कहा, `सिद्धि को जो मिला, उससे दुगुना मुझे मिले ।'

बस तत्काल उसकी दोनों आंखे फूट गई और वह अंधी हो गई ।

नभसेना ने कहा, **''आप पुण्योदय से प्राप्त सुख की सामग्री में संतोष धारण करो, अधिक लोभ करना अच्छा नहीं है । अतिलोभ करने से हाथ में रहा हुआ भी चला जाता है । लालच बुरी बला है''** इस कहावत के अनुसार वर्तमान में जो सुख-सामग्री प्राप्त हुई है, उसका उपभोग करने में ही अपना हित है । अतः आप अधिक सुख पाने का विचार छोड़ दें ।''

नभसेना की बात सुनकर जंबूकुमार ने कहा, **'मैं किसी भी प्रकार के लोभ या प्रलोभन से सन्मार्ग से हटनेवाला नहीं हूँ, जातिवंत घोड़े की तरह मैं भी अपने मार्ग में सुदृढ हूँ ।**

नभसेना को समझाने के लिए जंबूकुमार ने जातिवंत घोड़े का दृष्टांत देते हुए कहा,

`वसंतपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था । एक बार राजा ने अपनी राजसभा में कहा, `घोडों की अच्छी तरह से परीक्षा कर सके, ऐसा अश्व-विद्या में चतुर पुरुष कौन है ? मुझे जातिवंत घोडा चाहिए ।'

राजा की आज्ञा होते ही अश्व-विद्या में निपूण व्यक्तियों ने घोड़ों की परीक्षा कर एक जातिवंत घोड़ा राजा को सौंपा ।

राजा ने उस घोड़े के रक्षण व पालन की जवाबदारी **जिनदास** श्रावक को सौंपी ।

जिनदास श्रावक उस घोड़े को अपने घर ले गया और उसका अच्छी तरह से पालन पोषण करने लगा । उसकी देखभाल करने लगा ।

ज्यों ज्यों घोड़ा बड़ा होने लगा, त्यों त्यों राजा की समृद्धि बढने लगी ।

जिनदास उस घोड़े पर बैठकर उसे पानी पिलाने के लिए तालाब के किनारे ले जाता, वहां से लौटते समय ऋषभदेव मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन कर वापस उस घोड़े को अपने घर ले आता ।

वह घोड़ा भी जिनदास के घर, तालाब और जिनमंदिर के सिवाय अन्य कहीं नहीं जाता था । राजा की उन्नति देखकर पड़ौसी राजा को ईर्ष्या होने लगी । किसी भी उपाय से उस घोड़े को चुराने के लिए उसने योजना बनाई । उस राजा ने घोषणा की, `जो उस घोड़े को यहां लाएगा, उसे पांच गांव इनाम में दूंगा ।'

इनाम के लोभ से एक व्यक्ति ने घोड़े को चुराने का संकल्प किया । वह कपटी श्रावक बनकर वसंतपुर गया । जिनदास के वहां जाकर धर्मचर्चा आदि करने लगा ।

जिनदास ने उसे अपने घर पर ही रख लिया । एक बार किसी प्रयोजन वश जिनदास नगर बाहर गया हुआ था, तब अवसर देख उस कपटी श्रावक ने उस जातिवंत घोड़े को लेकर अपने नगर की ओर चलने लगा-परंतु वह घोड़ा तो तालाब-मंदिर और घर की ओर ही जाने लगा । खूब प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता नहीं मिली । आखिर निराश होकर उस घोड़े को छोडकर वह चला गया ।

जंबूकुमार ने जातिवंत अश्व की कहानी सुनाकर कहा, ''हे प्रिये ! महान् पुण्योदय से मुझे शाश्वत सुख के मार्ग रूप 'सन्मार्ग' की प्राप्ति हुई है,

अतः जातिवंत अश्व की तरह मैं भी अपने मार्ग से भ्रष्ट होनेवाला नहीं हूँ। इस लोक के वर्तमान सुख तो आत्मा को ठगनेवाले हैं, अतः उन सुखों में कौन समझदार व्यक्ति लुब्ध बनने की कोशिश करेगा ? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि शाश्वत सुखों की उपेक्षा कर क्षणिक सुखों में आसक्त बनूँ।''

6. कनकश्री से वार्तालाप

जंबूकुमार के इस उपदेश को सुनकर कनकश्री ने कहा, **'हे स्वामीनाथ ! आप उस छोटे भाई की तरह मोक्ष की सामग्री का लोभ न करे, क्योंकि लोभ तो अति भयंकर है। ज्यों ज्यों लाभ बढता है, त्यों-त्यों लोभ बढता है।' अतः आप भी छोटे भाई की तरह ज्यादा लोभ न करे, क्योंकि लोभ तो महा अनर्थ का मूल है।**

जंबूकुमार ने पूछा, `कैसे ?'

कनकश्री ने दो भाइयों की कहानी सुनाते हुए कहा, `हेमपूर नगर से दो भाई धन कमाने के लिए अपने नगर से निकले ! आगे बढते हुए वे किसी वन में पहुँचे !'

वहां उन्होंने पांच बांबी देखी।

छोटे भाई ने एक बांबी को फोड़ा ! उसमें से पानी निकला। दोनों ने पानी पिया।

फिर छोटा भाई दूसरी बांबी को फोड़ने लगा, तब बड़े भाई ने उसे इन्कार किया। बडे भाई के इन्कार करने पर भी लोभ से छोटे भाई ने दूसरी बांबी को फोड़ा तो उसमें से तांबें के सिक्के निकले। वह खुश हो गया।

अब उसने तीसरी बांबी को फोड़ा-उसमें से चांदी के सिक्के निकले उसका लोभ और बढ गया। उसने चौथी बांबी फोड़ी, उसमें से सोने के सिक्के निकले।

बड़े भाई ने कहा, `अब ज्यादा लोभ न करो !'

लोभ तो विष वृक्ष का मूल है। क्रोध की आग को पैदा करनेवाला है। सुकृतों का नाश करनेवाला है। झगड़ों का मूल है।'

अतिलोभ के कारण छोटे भाई ने पांचवी बांबी को भी फोड़ दिया। उसमें से दृष्टि विष सर्प निकला, जिसकी दृष्टि से वह तत्काल भस्मीभूत हो गया।

कनकश्री ने कहा, ``हे स्वामिन् ! आप भी उस ग्रामीण पुत्र की तरह कदाग्रह का त्याग नहीं कर रहे हो, इसका परिणाम अच्छा नहीं आएगा । **कदाग्रह से ग्रस्त बने व्यक्ति का पतन ही होता है,** उसे लाभ कुछ नहीं होता है, अतः आप इस कदाग्रह का त्याग कर दें-इसी में आपका व हमारा हित रहा हुआ है ।''

जंबूकुमार ने कहा, **`मैं उस कछुए की तरह मुर्ख नहीं हूँ कि आए हुए अवसर को ऐसे ही खो दूं ।**

विंध्याचल पर्वत पर जल से भरे सरोवर में एक कछुआ रहता था । सरोवर के जल पर सेवाल जमी हुई थी, एक बार अचानक पवन का झोंका आ जाने से थोड़ीसी सेवाल दूर हो गई, उसमें से उसने आकाश में खिले पूनम के चांद को देखा । चांद को देखकर वह खुश हो गया । उसने सोचा, **`यह चांद अपने परिवारजनों को भी बताऊं'** इस भावना से वह जल के भीतर गया । थोड़ी देर में जल के प्रवाह में वह छिद्र बंद हो गया ।

उस छिद्र को ढुंढने के लिए उस कछुए ने खूब कोशिश की, परंतु उसे वह छिद्र वापस नहीं मिला ।

जंबूकुमार ने कहा, ``मैंने जो कुछ भी निर्णय लिया है वह खूब सोच-समझ कर लिया है, ***जो व्यक्ति आगे-पीछे सोच-समझकर किसी बात का निर्णय लेता है, उसे कभी पछताना नहीं पड़ता है, जो बिना सोचे ही किसी कार्य में हाथ डाल देता है, उसी को पछताना पड़ता है ।*** मैंने तो चार ज्ञान के धारक सुधर्मा स्वामी भगवंत की धर्मदेशना का अमृत पान कर अपने भावी हित को लक्ष्य में रखकर निर्णय लिया है, अतः बाद में पश्चात्ताप करने का प्रश्न ही नहीं होता है ।''

7. जयश्री से वार्तालाप

जंबूकुमार की बात सुनकर जयश्री ने कहा,

`हे स्वामीनाथ ! आप हमें नागश्री की भांति क्यों ठग रहे हो ?'

जंबूकुमार ने कहा `कैसे ?'

जयश्री ने कहा, `सुनो !'

पद्मपुर के राजा को रोज नई-नई कहानी सुनने का शौक था । लोग बारी बारी से राजा को नई-नई कहानी सुनाते ।

एक बार एक वृद्ध ब्राह्मण की बारी आई । वह सोचने लगा, `मुझे तो कोई नई कहानी आती नहीं हैं, मैं राजा को क्या सुनाऊंगा ? वह चिंतातुर हो गया । उसके ग्लान मुख को देख उसकी बेटी ने कहा, `पिताजी ! आप चिंतातुर क्यों हो ?'

पिता ने कहा, `आज राजा को नवीन कहानी सुनाने की मेरी बारी है, परंतु मुझे तो कोई नई कहानी आती नहीं हैं, अतः मुझे राजा की सजा का भय लग रहा है ।'

बेटी ने कहा, `आप चिंता न करे मैं आज राजा को कहानी सुनाने जाऊंगी ।'

वह राजा के पास चली गई । उसने राजा को कहा, `आज मेरे पिता की बारी है परंतु उनके स्थान पर मैं आपको कहानी सुनाऊंगी ।'

राजा ने कहा, `सुनाओ ।

उसने कहा, `इसी नगर में नागशर्मा ब्राह्मण रहता है । उसके नागश्री नामकी अत्यंत ही रूपवान और गुणवान पुत्री है ।

उसके पिता ने किसी वृद्ध ब्राह्मण के साथ उसकी सगाई कर दी ।

विवाह की तैयारी के लिए नागशर्मा कही बाहर गया था, तभी वह वृद्ध ब्राह्मण अपने ससुराल आ गया ।

उस कन्या ने अपने भावी पति को आदर पूर्वक भोजन कराया ।

रात्रि में पति को सोने के लिए पलंग दिया । **'पाणिग्रहण के पहले पति का कर स्पर्श भी उचित नहीं है ।'** सोचकर वह पति के पलंग के नीचे सो गई ।

वृद्ध ब्राह्मण पलंग पर सोया हुआ था, अचानक पलंग पर से नीचे गिर पड़ा और तत्क्षण उसके प्राण पखेरु उड़ गए ।

उस कन्या ने सोचा, `मेरे भावी पति की मृत्यु के समाचार मिलेंगे तो लोग मुझ पर ही आक्षेप लगाएंगे कि मैंने ही उसे खत्म किया है ।'

उस आक्षेप से बचने के लिए उसने अपने पति के शव के टुकड़े टुकड़े कर दिए और वहीं जमीन में खड्डा खोदकर उसे गाड़ दिया । ऊपर गोबर का लिपाई कर दिया और उस पर सुगंधी फूल बिखेर दिए ।

इसी बीच उस कन्या के माता-पिता विवाह की सामग्री लेकर वहां आ गए ।

इतना वृत्तांत कहकर नागश्री चुप हो गई । राजा ने कहा, `आगे क्या हुआ ?'

उसने कहा, `समय हो गया हैं, आगे की बात कल कहूंगी ।'

राजा ने कहा, `उस कन्या को मैं कैसे देख पाऊंगा ?' राजा उस कन्या को पाना चाहता था । नागश्री ने कहा, `संसार का नाटक भजनेवाली वह कन्या मैं स्वयं ही हूँ ।'

राजा ने कहा, `क्या यह सब तुमने सत्य कहा हैं ?'

उसने कहा, `हे राजन ! आज तक आपने जो कहानियां सुनी हैं, वे सब सत्य हो तो इसे भी सत्य समझना ।' इतना कहकर वह अपने घर चली गई ।

जयश्री ने नागश्री की कहानी पूरी की और बोली, ``हे स्वामिन् ! जो बातें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती हैं, उन बातों की कल्पना करके मन को बहलाने की तरह आप भी मोक्षसुख की विविध कल्पनाएँ करके हमारे मन को खुश करने का प्रयत्न कर रहे हो ।''

जयश्री की वार्ता सुनकर जंबूकुमार ने कहा, **`मैं उस ललितांग की तरह भोगों में आसक्त नहीं हूँ कि तुम्हारे जाल में फंस जाऊं'** इतना कहकर ललितांग की कहानी सुनाते हुए बोले, `कंदर्प नगर में शतायुध राजा राज्य करता था । उस राजा के कामदेव की पत्नी रति के समान ऐसी लीलावती नाम की पट्टरानी थी । एक बार वह गवाक्ष में बैठी हुई थी तभी उसने कामदेव के अवतार समान ललितांग नाम के श्रेष्ठी पुत्र को देखा ।

ललितांग को देख वह कामातुर हो गई । ललितांग को पाने के लिए वह तलपापड़ हो गई ।

लीलावती को अत्यंत आकुल-व्याकुल देखकर उसकी दासी ने उसका कारण पूछा । रानी ने अपने दिल की बात दासी को कही ।

दासी ने कहा, `रानीजी ! आप चिंता न करें, आपकी भावना को पूरी करने के लिए मैं पूरी पूरी कोशिश करुंगी ।'

इधर लीलावती के रूप-सौंदर्य को देख ललितांग भी कामातुर बन गया ।

एक दिन राजा कहीं बाहर गया था, तभी वह दासी ललितांग को राजमहल में ले आई ।

अचानक उसी समय राजा भी वहां आ गया । राजा को देख रानी घबरा गई । रानी ने तत्काल उस ललितांग को संड़ास की गटर में छिपा दिया ।

रानी के दिल में दया होने से ललितांग को खाने-पीने की सामग्री दी जाने लगी परंतु गटर की गंदगी के कारण वह खूब परेशान था । ललितांग को अपने घर की याद सताने लगी ।

वर्षा की ऋतु में ज्यादा पानी आने से वह गटर में से बहता हुआ नगर के बाहर आया । वहां वह गटर में से बाहर निकला । वह अपने घर पहुँचा । स्नान आदि द्वारा स्वच्छ बना ।

स्वजनों ने पूछा, `तू इतने दिन कहां गया था ?'

ललितांग मौन रहा । कुछ दिनों बाद वह पुनः स्वस्थ हो गया ।

एक बार रानी ने पुनः उसे राजमहल में आने के लिए आमंत्रण दिया ।

जंबूकुमार ने कहा, `क्या वह ललितांग दूसरी बार राजभवन में जाएगा ?

जयश्री ने कहा, `नहीं ।'

जयश्री के कथन को सुनकर सभी स्त्रियों को संबोधित करते हुए जंबूकुमार ने कहा, ``मैं उस ललितांग की तरह विषयों में लुब्ध नहीं हूँ । ***विषयसुख प्रारंभ में मधुर लगते हैं, परन्तु उनका परिणाम अत्यंत ही कटु होता है । इन विषयों की आसक्ति के कारण आत्मा इस संसार में भटकती है और गर्भावास की भयंकर पीड़ाएँ सहन करती हैं ।***

एक मानव जन्म को पाने के लिए इस जीवात्मा को नौ-नौ मास तक गर्भ की कितनी भयंकर कैद सहनी पड़ती है ।

जन्म के बाद रोग-शोक आधि-व्याधि और उपाधि के कितने-कितने दुःख सहन करने पड़ते हैं ? अतः उन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए मेरा मन तो संयम की साधना के लिए ही समुत्सुक बना है और मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरी बात को स्वीकार कर, संयम स्वीकार के लिए तैयार हो जाओं ।''

8. कमलवती से वार्तालाप

जंबूकुमार की इस बात को सुनकर कमलवती ने कहा, **`स्वामीनाथ ! आप उस मासाहस पक्षी तरह साहस मत करो, अन्यथा आपको पछताना ही पड़ेगा ।**

जंबूकुमार ने कहा, `कैसे ?'

कमलवती बोली, `किसी पर्वत की गुफा में एक सिंह रहता था । एक बार किसी बड़े प्राणी का शिकार कर उसका मांस खाकर वह सिंह अपना मुंह खुला रखकर आराम से सो रहा था ।

उसके दांत व दाढाओं में रहे मांस को देखकर उसे खाने की लालसा से एक पक्षी वहां आया और **'साहस मत करो'** ऐसा बोलते हुए सिंह के दांतों में रहे मांस को खाने लगा ।

उसी समय किसी ने आकर उसे समझाया, `तू बोल रहा है, **'साहस मत करो'** और तू खुद साहस कर रहा है । तू उस सिंह के मुंह में प्रवेश कर अपनी चोंच द्वारा मांस खा रहा है- यदि सिंह जग गया और अपना मुंह बंद कर दिया तो तेरी क्या हालत होगी ?'

उस पक्षी ने उस सलाह की ओर ध्यान नहीं दिया और आखिर उसे मरना पड़ा ।

जंबूकुमार की ऐसी दृढ़ता देखकर कमलवती ने एक पक्षी की कहानी सुनाकर कहा, ***''आप प्रत्यक्ष सुखों का त्याग कर परोक्ष सुख के लिए तप करना चाहते हो तो यह अनुचित है । इसके फलस्वरुप आपको बाद में पछताना पड़ेगा ।''***

जंबूकुमार ने कहा, `मैं कुसंग का त्यागकर सत्संगति का स्वीकार करुंगा । उसी समय उन्होंने सोमशर्मा की कहानी सुनाते हुए कहा, `क्षितिप्रतिष्ठित नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था, उसे सोमशर्मा नाम का पुरोहित था । उस पुरोहित के एक नित्यमित्र, दूसरा पर्वमित्र और तीसरा प्रणाममित्र नाम का मित्र था ।

सोमशर्मा नित्यमित्र को हमेशा मिलता रहता । पर्व मित्र को त्यौहार प्रसंग पर मिलता था और प्रणाम मित्र को तो कभी मार्ग पर मिलने पर प्रणाम कर लेता था ।

एक बार उस पुरोहित पर राजा कोपायमान हो गया । वह अपने प्राण बचाने के लिए नित्यमित्र के घर गया ।

नित्यमित्र ने कहा, `तुम राजा के गुन्हेगार हो, अतः राजा तुम पर नाराज है । तुम्हें रक्षण दूंगा तो राजा मुझ पर नाराज हो जाएगा, अतः बिना कारण मुझे सजा भुगतनी पड़ेगी, अतः तुम्हे यहां रहना उचित नहीं है ।'

सोमशर्मा निराश हो गया । वह पर्वमित्र के घर गया, परंतु उसने भी वो ही जवाब दिया । अंत में वह प्रणाममित्र के घर पहुँचा ।

प्रणाममित्र ने कहा, `तुम थोडी भी चिंता मत करो । तुम्हारा रक्षण

करना, मेरा कर्तव्य है। राजा को पता चलेगा तो हम दूसरे देश में चले जाएंगे। वह प्रणाममित्र के घर रहा, फिर अवसर देख उसके साथ अन्य देश में चला गया। वहां जाकर वह सुखी हो गया।

इस कथा का उपनय सुनाते हुए जंबूकुमार ने कहा, `कर्म–परिणाम राजा है। जीव पुरोहित हैं। नित्यमित्र शरीर हैं, पर्वमित्र बंधु आदि हैं, प्रणाममित्र धर्म है।

धर्म ही भवांतर में सच्चा सहयोग देनेवाला है।

जंबूकुमार ने कहा, **``इस संसार के भौतिक सुख तो अल्पजीवी हैं मृत्यु के साथ ही उन सुखों का अंत आ जानेवाला है। जिस शरीर को हृष्टपुष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के पापाचरण किए, वह शरीर भी अंत में साथ देने वाला नहीं है, अतः मैं शारीरिक सुखों के लोभ में आध्यात्मिक सुखों की उपेक्षा करने वाला नहीं हूँ।''**

इस प्रकार जंबूकुमार के दृढ़ मनोरथ और वैराग्य भाव को देखकर आठों पत्नियों के मन में भी वैराग्य की ज्योत पैदा हो गई और वे भी दीक्षा स्वीकार करने के लिए तैयार हो गईं।

◆ जयपुर नगर में **विंध्य** नाम का अत्यंत ही पराक्रमी राजा था। उसके दो पुत्र थे-**प्रभव** और **प्रभु !** प्रभव बड़ा बेटा होने पर भी किसी कारणवश विंध्य ने अपना राज्य छोटे पुत्र प्रभु को सौंप दिया, इससे प्रभव को बहुत बुरा लगा। परिणामस्वरूप उसने नगर छोड़ दिया। वह प्रभव विंध्य अटवी में आ गया। वहीं पर चोर लोगों के साथ उसकी दोस्ती हो गई। आगे बढ़कर वही प्रभव पाँच सौ चोरों का सरदार बन गया। जंबूकुमार के उपदेश को सुनकर चोरी के लिए आया प्रभव चोर भी अपने 500 साथियों के साथ दीक्षा के लिए तैयार हो गया !

प्रातःकाल होने पर जब जंबूकुमार और उन कन्याओं के माता-पिता को इस बात का पता चला कि जंबूकुमार और उसकी नवोढ़ा आठो स्त्रियों ने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया है। इस बात को जानकर उनका मन भी वैराग्य भाव से रंजित हो गया और उन्होंने भी दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।

99 करोड़ की संपत्ति का त्याग कर दीक्षा के लिए सुसज्ज जंबूकुमार को देखकर प्रभव ने भी अपने समस्त साथियों को दीक्षा लेने के लिए तैयार कर दिया।

एक दिन पहले राजगृही नगरी में जंबूकुमार के लग्न का भव्य वरघोड़ा निकला था और दूसरे ही दिन उसी नगरी में 527 पुण्यवंत आत्माओं की दीक्षा का भव्य वरघोड़ा !!

बीच में मात्र एक ही रात्रि में जंबूकुमार ने कमाल कर दिया ! भोग-रसिक बनी आठ-आठ कन्याओं को उसने वैराग्य रंग से रंजित कर दिया तो दूसरी ओर जीवन में धन को ही सर्वस्व मानने वाले प्रभव चोर को भी धन का त्याग कराकर आत्मा के अक्षय ज्ञान धन को पाने के लिए मजबूर कर दिया । मोह के जटिल बंधनों में फँसे अपने माता पिता को भी दीक्षा लेने के लिए तैयार कर दिया !

प्रातःकाल की मधुर वेला में राजगृही नगरी में चारों ओर मंगल वाद्य बज उठे । चारों ओर नगर की नारियाँ मंगल गीत गाने लगीं । जंबूकुमार भी रथारूढ़ बना । जंबूद्वीप का अधिपति देव जंबूकुमार की दीक्षा का महोत्सव कर रहा था ।

मगध का अधिपति कोणिक भी चतुरंगी सेना के साथ महोत्सव प्रसंग पर उपस्थित हुआ और बोला, ``मेरे योग्य कोई सेवा कार्य हो तो फरमाइए ।''

जंबूकुमार ने कहा, ``यह प्रभव चोर अपने समस्त साथियों के साथ मेरे साथ दीक्षा लेने के लिए तैयार हुआ है, अतः उसने जो कोई अपराध किए हों, उन सबको क्षमा कर दो ।''

कोणिक ने कहा, ``मैं उसके सभी अपराधों को क्षमा करता हूँ, वह खुशी से भागवती दीक्षा स्वीकार करें ।''

कोणिक की यह बात सुनकर जंबूकुमार प्रसन्न हो गए । वे क्रमशः आगे बढ़ते हुए गुणशील चैत्य में पधारें । वहाँ प्रभु महावीर स्वामी के पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी के वरद हस्तों से जंबूकुमार आदि 527 ने भागवती दीक्षा स्वीकार की । जंबूकुमार सुधर्मा स्वामी भगवंत के शिष्य बने । प्रभव को जंबूस्वामी के शिष्य के रूप में स्थापित किया गया ।

जंबूस्वामी के पास सूक्ष्म प्रज्ञा थी । अल्पकाल में ही वे समस्त द्वादशांगी के पूर्ण ज्ञाता बन गए ।

वीर निर्वाण संवत् 1 में जंबूस्वामी की 16 वर्ष की उम्र में भागवती दीक्षा हुई और 20 वर्ष बाद उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

44 वर्ष के केवली पर्याय द्वारा अनेक आत्माओं को प्रतिबोध कर 80 वर्ष की उम्र में निर्वाण पद प्राप्त किया ।

वि.सं. पूर्व 450 में 36 वर्ष की वय में जंबूस्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । वे प्रभु महावीर के शासन में अंतिम केवली हुए ।

जंबूस्वामी अपनी गृहस्थ पर्याय 16 वर्ष, मुनि पर्याय 64 वर्ष, युग प्रधान पर्याय 44 वर्ष और कुल आयुष्य 80 वर्ष पूर्ण कर; वि.सं. पूर्व 406 में निर्वाण पद को प्राप्त हुए ।

जंबूस्वामी के निर्वाण के बाद अर्थात् वीर निर्वाण 64वें वर्ष में प्रभवस्वामी, जंबूस्वामी के उत्तराधिकारी बने ।

जंबूस्वामी के निर्वाण के साथ ही भरतक्षेत्र में मनःपर्यव ज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाक लब्धि, आहारक लब्धि, क्षपक श्रेणि, उपशम श्रेणि, जिनकल्प आदि तीन चारित्र (परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र) केवलज्ञान और सिद्धिपद का विच्छेद हो गया !

स्तुति

आये थे साथ में पांच सौ, धन चोरने श्री जंबू का,
मधुबिन्धु के दृष्टांत से, जानी जगत् असारता;
श्री प्रभवस्वामी ले गए, रत्नत्रयी धन संपदा,
प्रभु वीर पाट परंपरा को, भाव से करूं वंदना ।।

विंध्याचल पर्वत की तलहटी में जयपूर नगर बसा हुआ था, जहां **विंध्य** नाम का राजा राज्य करता था ।

उस राजा के दो पुत्र थे । बड़े का नाम **प्रभव** तथा छोटे का नाम **प्रभु** था ।

यद्यपि प्रभव खूब बुद्धिशाली और पराक्रमी था, परंतु उसमें एक ही अवगुण था, अभिमान ! उसे अपनी शक्तियों का इतना अधिक गर्व था कि वह बात ही बात में दूसरों का अनादर-अपमान और तिरस्कार कर देता था ।

उसके इस कटु व्यवहार के कारण वह सभी का अप्रिय बन चूका था ।

बड़ों के हृदय में भी उसी का स्थान होता हैं, जो नम्र हो, विनीत हो !

प्रभु उम्र में छोटा था, परंतु उसमें खूब नम्रता थी । बड़ों के प्रति उसके हृदय में खूब आदर-सम्मान और सद्भाव था ।

अपने नम्र व्यवहार के द्वारा उसने अपने पिता के हृदय में अपना स्थान पा लिया था ।

विंध्य राजा अब वृद्ध हो चूके थे । वे अपने राज्य की जवाबदारी अपने उत्तराधिकारी को सौंपकर निवृत्त होना चाहते थे ।

एक दिन राजसभा खचाखच भरी हुई थी और उन्होंने अपने छोटे पुत्र प्रभु को अपना उत्तराधिकारी बनाने की घोषणा कर दी और निकट ही के दिनों में मंगल मुहूर्त में राज्याभिषेक का भी निर्णय कर दिया ।

प्रजाजनों के दिल में प्रभव और प्रभु दोनों का स्थान था, परंतु किसी ने यह कल्पना नहीं की थी कि महाराजा अपने राज्य की बागडौर छोटे पुत्र प्रभु को सौंप देंगे ।

प्रभु के नम्र व्यवहार को देखते हुए किसी के भी मन में विरोध का स्वर पैदा नहीं हुआ । सभी ने महाराजा की इस घोषणा का सहर्ष अनुमोदन भी किया !

उत्तराधिकारी की नियुक्ति से सभी को खुशी थी, परंतु प्रभव के दिल में गहरी चोंट थी । उसे यह घोषणा अत्यंत ही अप्रिय लगी । उसे अपना अपमान महसूस हुआ । उसके मन में पिता के प्रति नफरत पैदा हो गई ।

जिंदगी भर अपमान के कड़वे घूंट सहन करने के बजाय उसने राज्य की सीमा को लांघकर दूर-सुदूर प्रदेश में जाकर बसने का निर्णय कर लिया ।

पिता की अनुमति लिए बिना उसने एकांत देखकर रात्रि में ही राज्य को छोड़ दिया ।

प्रभु के राज्याभिषेक के पावन-प्रसंग में सभी की उपस्थिति थी परंतु एक मात्र प्रभव को छोड़कर ! पिता की आज्ञा व आशीर्वाद से प्रभु ने राजगद्दी स्वीकार की और खूब न्याय व नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा ।

राज्य त्याग के बाद प्रभव का मन खूब बेचैन था, उसे अपना भावी अंधकारमय प्रतीत हो रहा था, वह नगर के बजाय जंगल व पर्वत की घाटियों में घूमने लगा ।

पर्वत की घाटियों में घूमते हुए अचानक किसी योगी पुरुष के दर्शन हो गए ।

योगी के चेहरे पर खूब उदासीनता थी, वे किसी मंत्र की साधना करना चाहते थे, परंतु उन्हें उत्तर साधक नहीं मिल रहा था ।

प्रभव के तेजस्वी चेहरे को देखते ही योगी पुरुष का मन प्रसन्नता से भर आया ।

उन्होंने सोचा, `यदि यह व्यक्ति मेरा सहायक बन जाय तो मेरा कार्य आसानी से सिद्ध हो सकता है ।'

उस योगी ने प्रभव को अपना उत्तर साधक बनने के लिए निवेदन किया । प्रभव ने योगी की प्रार्थना स्वीकार की । प्रभव ने उत्तरसाधक संबंधी सारी जवाबदारी अच्छी तरह से वहन की, जिसके फल स्वरुप बहुत ही अल्प समय में उस योगी को अपनी सिद्धियाँ प्राप्त हो गई ।

उस योगी का कार्य पूर्ण हो गया । प्रसन्न होकर योगी ने कहा, `तेरे भाग्य में अभी कुछ समय तक जंगल में भटकना बाकी हैं, अतः मैं तुझे दो सिद्धियाँ प्रदान करता हूँ । **(1) अवस्वापिनी विद्या :–** इस विद्या के प्रयोग द्वारा तुम कहीं भी जाकर किसी को भी निद्राधीन बना सकोगे ।

(2) तालोद्घाटिनी :– तुम जिस घर में प्रवेश करोगे, वहां इस विद्या के प्रयोग से सभी ताले स्वतः खुल जाएंगें ।

इन दो विद्याओं के बल से तुम्हें अमाप धन-संपत्ति प्राप्त हो सकेगी ।

प्रभव शक्तिशाली तो था ही परंतु इन दो विद्याओं की प्राप्ति के बाद तो वह खूब शक्तिशाली हो गया । इन विद्याओं के बल से वह चोरी के धंधे में Master हो गया !

रात्रि में वह किसी के भवन में जाता और अपनी एक विद्या के बल से घर में जानेवाले सभी को सुला देता और दूसरी विद्या के बल से तिजोरी के ताले खोल देता !

देखते ही देखते वह खूब समृद्ध हो गया । जहां गुड़ होता हैं, वहां मक्खियां स्वतः आ जाती है, उसे अब मित्र बनाने नहीं पडे, उसके मित्र स्वयं बनने लगे ।

कुछ ही समय में विंध्याचल के जंगल में उसने अपनी छावनी बसा ली । वह 500 चोरों का सरदार बन गया ।

जंबूकुमार से चर्चा

आठ-आठ समृद्ध कन्याओं के साथ जंबूकुमार के लग्न की बात को सुनकर प्रभव के मुँह में पानी आ आया । वह सोचने लगा, ``जंगल में सामान्य

यात्रिकों को लूटने से क्या तो धन मिलता है, अतः क्यों न आज जंबूकुमार के यहीं डाका डालें ! उसे दहेज में ढेर सारा धन मिला है, एक को लूटने से ही अपना काम हो जाता हो तो चारों ओर दौड़धूप करने की क्या आवश्यकता है ?'' इस प्रकार विचार कर अपने 500 के परिवार के साथ प्रभव चोर जंबूकुमार के महल में आ पहुँचा । उसने दूर से ही सोलह शणगार सजी आठ कन्याओं के बीच बैठे जंबूकुमार को देखा ।

प्रभव चोर के पास दो विद्याएँ थीं । (1) **अवस्वापिनी विद्या-** जिस विद्या के प्रयोग से वह सभी को सुला देता था और

(2) तालोद्घाटिनी - जिस विद्या के प्रयोग के साथ ही तिजोरी के सभी ताले खुल जाते थे ।

इन दो विद्याओं के कारण प्रभव को कहीं भी चोरी करने में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं पड़ती थी, क्योंकि उसे पकड़े जाने का कोई भय नहीं था ।

जंबूकुमार के शयनगृह के पास आते ही उसने अपनी दोनों विद्याओं का प्रयोग किया । अवस्वापिनी विद्या के प्रभाव से जंबूकुमार व उसकी 8 स्त्रियों को छोड़कर शेष निद्राधीन हो गए और सभी तिजोरियों के ताले खुल गए !

तभी प्रभव चोर ने अपने साथियों को आदेश देते हुए कहा, ``जाओ, और यह सारा धन पोटली में बाँध लो ।''

प्रभव के आदेश से जैसे ही उसके चोर साथी आगे बढ़ने लगे, जंबूकुमार ने कहा, ``ठहरो ! मैं यहाँ जागता हुआ बैठा हूँ ।''

जंबूकुमार के इन शब्दों के साथ ही वे सभी चोर वहीं पर स्तंभित हो गए । वे आगे-पीछे भी हिल न सकें ।

यह दृश्य देख प्रभव सोचने लगा, ``जरूर इसके पास विद्याएँ होनी चाहिए ।''

इस प्रकार विचार कर प्रभव बोला, ``कुमार ! आपके पास जो स्तंभिनी और मोक्षणी विद्याएँ हैं, वे आप मुझे प्रदान कर दें और मेरे पास जो विद्याएँ हैं, वे मैं आपको प्रदान कर दूँ । बस, विद्याएँ मिलते ही मैं यहाँ से रवाना हो जाऊँगा ।''

जंबूकुमार ने कहा, ``प्रभव ! ये जो आठ पत्नियाँ और धन-संपत्ति हैं, उन सबको छोड़कर मैं प्रातःकाल होते ही दीक्षा ग्रहण करने वाला हूँ । अभी मैं

भाव साधु हूँ । मुझे न तो इस विशाल संपत्ति से लेना-देना है और न ही तुम्हारी विद्याओं से; न ही मैंने तुम्हारे ऊपर किसी विद्या का प्रयोग किया है ।''

जंबूकुमार की इन बातों को सुनकर अपनी अवस्वापिनी विद्या का संहरण कर हाथ जोड़कर प्रभव चोर बोला, ``हे मित्र ! अभी तुम नवयौवन वय को प्राप्त हुए हो, तुम्हारे पास इतना वैभव है । अतः नवपरिणीता स्त्रियों पर अनुकंपा कर विषयसुखों का अनुभव करो । यह सुख बाद में कहाँ मिलने वाला है ? अभी यौवन का आनंद लो, बाद में इच्छा हो तो दीक्षा ले लेना ।''

जंबूकुमार ने कहा, **``बंधुवर्य ! तुम्हें विषयभोग में सुख दिखाई देता है, परन्तु वहाँ सुख कहाँ है ? ज्ञानियों को तो वे सुख, दुःख रूप ही प्रतीत हो रहे हैं । संसार में मधुबिंदु तुल्य सुख अत्यल्प है और दुःख का कोई पार नहीं है ।** इस बात को समझाने के लिए मैं तुझे एक दृष्टांत सुनाता हूँ ।

मधुबिंदु

सूर्यपुर नाम का एक विशाल नगर था, जहाँ प्रेमदत्त नाम का धनाढ्य श्रेष्ठी रहता था । श्रेष्ठी के प्रियदत्त और महादत्त नाम के दो पुत्र थे । नवयौवन को प्राप्त दोनों भाइयों को धन कमाने की इच्छा हुई । पिता के आग्रह से महादत्त ने सूर्यपुर नगर में अपना व्यापार प्रारम्भ किया, परन्तु प्रियदत्त पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके भी धनार्जन के लिए विदेश जाने के लिए तैयार हो हुआ । पिता ने अनिच्छा से प्रियदत्त को सम्मति दी । एक दिन वह धन-सामग्री लेकर अपने नगर से निकल पड़ा ।

नगर की सीमा पार करने के बाद आगे बढ़ता हुआ वह एक भयंकर जंगल में आ पहुँचा । आगे चलते-चलते उसे दो लुटेरे मिले । उन लुटेरों ने उसको लूट लिया । वन के फलों का आहार करता हुआ धीरे-धीरे वह आगे बढ़ा । वन-मार्ग अत्यंत भयानक था, चारों ओर जंगली पशुओं की भयंकर गर्जनाएं सुनाई देती थी ।

अचानक ही एक हाथी ने प्रियदत्त को जाते हुए देखा लिया । प्रियदत्त को देखते ही वह हाथी उसकी ओर भागा । हाथी की भयंकर व रौद्र चिंघाड़ सुन प्रियदत्त घबरा गया । वह भी अपने प्राण बचाने के लिए वेग से भागा । इस भयंकर आपत्ति में उसे कोई शरण देने वाला नहीं था ।

आखिर उसे कुछ ही दूरी पर वट-वृक्ष दिखाई दिया । वह उस ओर भागा । वट-वृक्ष के नीचे एक कुआं था, कुएं की दीवार पर पैर रखकर उसने एक डाली पकड़ ली और दोनों हाथों से लटकने लगा । इधर हाथी भी दौड़ता हुआ वट-वृक्ष के पास आ पहुँचा, बीच में कुआँ होने से हाथी प्रियदत्त को पकड़ न सका । शिकार न मिलने से हाथी वट-वृक्ष को जड़ से ही उखाड़ने का प्रयत्न करने लगा ।

उस कुएँ में चार सर्प और एक अजगर था, जो तीव्र फूत्कार कर प्रियदत्त को डँसने के लिए सजग थे । वृक्ष के ऊपर मधु-मक्खियों का छत्ता था । हाथी जब वृक्ष को हिलाता, तब छत्ते की मक्खियाँ उड़कर प्रियदत्त को डंक देती थीं । जिन दो डालियों के आधार पर प्रियदत्त लटका हुआ था, उन दो शाखाओं पर सफेद व श्याम रंग के दो चूहे थे, जो उन डालियों को काट रहे थे । वृक्ष के हिलने पर मक्खियाँ उड़ती थीं, उस शहद के छत्ते में से नीचे गिरती हुई दो-चार शहद की बूंदें प्रियदत्त के मुख में गिर पड़ीं । उसे बड़ा आनंद आया ।

कुछ समय बाद एक देव, विमान में बैठकर उस मार्ग से निकला, प्रियदत्त की इस दुर्दशा को देखकर देव को दया आ गई ।

देव ने कहा, ``हे प्रियदत्त ! चल, मैं तुझे अपने स्थान पर पहुँचा देता हूँ !''

प्रियदत्त ने कहा-``तुम्हारी बात सच है, मगर अभी-अभी मैंने शहद की दो-चार बूंदे चखी है, शहद बहुत ही मधुर है, अतः दो-चार बूंदें मुझे और चखने दो, उसके बाद मैं आऊंगा ।''

प्रियदत्त की बात सुनकर देव वहाँ से चला गया । कुछ ही दिनों बाद देव पुनः आकर बोला, परन्तु प्रियदत्त ने पुनः वही जवाब दिया । देव समझ गया कि यह बेचारा मधु में लुब्ध हो गया है, अतः नहीं समझ सकता है । पुनः देव वहाँ से चल पड़ा ।

अंत में डालियों के कटने से प्रियदत्त कुएं में जा गिरा !

कथा का उपनय : इस दृष्टांत में **प्रियदत्त** संसारी जीव है । **भयंकर वन,** संसार है । **हाथी,** मृत्यु है । **कुआँ** दुर्गति का प्रतीक है । कुएँ में चार सर्प और अजगर काम-क्रोध-मद-लोभ और मोह के द्योतक हैं । सफेद व कृष्ण चूहे

दिन व रात अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के प्रतीक हैं । मक्खियों का छत्ता विषयो का प्रतीक है । मक्खियों के उड़ने से जो शहद की बूंदें गिरती हैं-वे संसार के सुख की प्रतीक हैं और मक्खियों के दंश दु:ख के प्रतीक हैं । दोनों शाखाएँ आयुष्य की प्रतीक हैं, जिसे दिन व रात रूपी चूहे काट रहे हैं ।

विमान में बैठा देव सद्गुरु का प्रतीक है और देव का वचन धर्मोपदेश का प्रतीक है । देव को प्रियदत्त का प्रत्युत्तर यह संसारी जीव की मूर्च्छा का प्रतीक है ।

स्पष्ट है कि क्षणिक व अल्प सुख में लुब्ध बना संसारी जीव अपने भावी का विचार नहीं करता है और विषयों में लुब्धता के कारण मरकर दुर्गति प्राप्त करता है ।

वास्तव में संसारी जीवों की यही स्थिति है । उन्हें आत्मा की बातें भ्रम रूप लगती हैं । वास्तविक सत्य को वे पहिचान नहीं पाते हैं । आत्मा का सुख शाश्वत, निरपेक्ष और अनंत है, जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मा की स्वभाव दशा को प्राप्त करना पड़ता है । आत्म-स्वभाव में रमणता के लिए सर्व प्रथम आत्मा में रहे दुर्गुणों को मूल से उखाड़ना चाहिए और गुण-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

मधुबिंदु का दृष्टांत देकर जंबूकुमार ने कहा, ``उस प्रियदत्त की भाँति हम भी इस संसार में फँसे हुए हैं, अत: यदि इस संसार से बाहर निकालनेवाला मिले तो उसकी बात को स्वीकार करें या नहीं ?''

प्रभव ने कहा, ``क्यों न स्वीकारे करें ?''

जंबूकुमार ने कहा, ***``यह संसार नाट्यशाला की भाँति है । नाटक की भाँति संसार के रंगमंच पर हर प्राणी नए-नए पात्र भजता रहता है । संसार के संबंध भी कैसे विचित्र हैं, गत जन्म की माँ इस जन्म में पत्नी व बहन बन जाती है और इस जन्म की पत्नी आगामी जन्म में माँ बन जाती है । अत: संसार के इन विचित्र संबंधों में क्या ममत्व रखना ?''***

संसार के विचित्र संबंधों को जानना हो तो कुबेरदत्त का दृष्टांत सुनो ।

इतना कहकर जंबूकुमार ने संसार में एक ही जन्म में विविध संबंधों को बतलाने वाला दृष्टांत कहना प्रारंभ किया ।

मथुरानगरी में **कुबेरसेना** नाम की एक वेश्या रहती थी । एक बार उस वेश्या ने पुत्र-पुत्री रूप युगल को जन्म दिया ।

वेश्या के मालिक ने सोचा-``यदि यह अपनी सन्तान का लालन-पालन करेगी तो मुझे इससे आय कम होगी ।''

अतः उसने कुबेरसेना को कहा-``तू अपनी दोनों सन्तानों को पेटी में बन्द कर उन्हें नदी में डाल दे ।''

वेश्या कुबेरसेना ने वह आज्ञा स्वीकार की और अपनी दोनों सन्तानों को दाहिने हाथ की अंगुली में अँगूठी पहना दी । पुत्र की अँगूठी पर नाम था **'कुबेरदत्त'** और पुत्री की अँगूठी पर नाम था **'कुबेरदत्ता'** । दोनों बच्चों को पेटी में बन्द कर वह पेटी नदी में बहा दी ।

श्रीपुर नगर की नदी के किनारे दो वणिक् घूमने के लिए आए हुए थे । अचानक उनकी नजर नदी में बहती हुई पेटी पर पड़ी । दोनों मिलकर उस पेटी को नदी किनारे लाए । पेटी को खोलकर देखा तो उसमें दो बच्चे निकलें ।

दोनों वणिक् व्यापारी थे । एक के तीन लड़कियाँ थीं और एक के चार लड़के । अतः लड़की वाले वणिक् ने लड़का ले लिया और लड़के वाले वणिक् ने लड़की ले ली । दोनों की इच्छाएँ पूर्ण हो गईं । दोनों खुश हो गए । दोनों ने उनका अपनी सन्तानवत् पालन किया ।

धीरे-धीरे कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता बड़े हुए । यौवनावस्था में आने के बाद कुबेरदत्ता के पिता को उसके वर की चिन्ता होने लगी । अन्त में उस वणिक् ने सोचा, `कुबेरदत्त के सिवाय इसके लिए सुयोग्य वर और कौन हो सकता है ?' उसने अपनी पुत्री का विवाह कुबेरदत्त से करा दिया ।

दोनों का दाम्पत्य जीवन आनन्द से बीत रहा था । एक दिन वे दोनों चौपट खेल रहे थे, अचानक कुबेरदत्त की अंगुली से वह अँगूठी निकल पड़ी । कुबेरदत्ता ने नाम पढ़ा-और अपनी अँगूठी से तुलना की, दोनों समान प्रतीत हुईं । दोनों की आकृति-प्रकृति समान थी । अतः कुबेरदत्ता को कुछ लज्जा आ गई । उसने पति से अपने वास्तविक माता-पिता को जानने का आग्रह किया ।

कुबेरदत्त ने अपने पिता से कहा-``पिताजी ! सत्य कहो, मेरे वास्तविक माता-पिता कौन हैं ?''

उस वणिक् ने कुबेरदत्त को सत्य बात कह दी ।

इस सत्य की जानकारी से कुबेरदत्ता को लज्जा आ गई, उसे बड़ा आघात लगा और अन्त में उसने दीक्षा अंगीकार कर ली ।

कुबेरदत्त घर पर ही रहा । व्यापारादि करने लगा । उसने बहुत धन कमाया । एक दिन वह मथुरा जा पहुँचा और अन्त में कुबेरसेना वेश्या के वहाँ ठहर गया । कुबेरदत्त के संग से वेश्या कुबेरसेना ने एक पुत्र को जन्म दिया ।

ज्ञान, ध्यान और तप की साधना से कुबेरदत्ता साध्वी को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसने कुबेरदत्त की हालत देखी और करुणा से उसका हृदय भर आया । माँ व भाई को प्रतिबोध देने के लिए वह मथुरा जा पहुँची और कुबेरसेना के घर ठहरी । उसी समय कुबेरसेना का पुत्र रोने लगा, तभी कुबेरदत्ता साध्वी संगीत के माध्यम से उस बच्चे को कहने लगी-``तू तो मेरा भाई है, मेरा पुत्र है, मेरा देवर है, मेरा भतीजा है, मेरा काका है और मेरा पौत्र है ।''

यह सुनकर कुबेरसेना को बड़ा आश्चर्य हुआ । साध्वीजी यह क्या बोल रही हैं ? उसने इसका रहस्य पूछा तब कुबेरदत्ता ने कहा-

(1) इसकी माता और मेरी माता एक है, अतः यह मेरा भाई है ।

(2) मेरे पति कुबेरदत्त का यह पुत्र है, अतः यह मेरा पुत्र है ।

(3) मेरे पति कुबेरदत्त का छोटा भाई है, अतः यह मेरा देवर है ।

(4) मेरे भाई कुबेरदत्त का यह पुत्र है, अतः यह मेरा भतीजा है ।

(5) कुबेरदत्त मेरी माँ का पति और उसका यह भाई, अतः मेरा काका है ।

(6) और कुबेरसेना मेरी शोक्य है । कुबेरसेना का पुत्र कुबेरदत्त और उसका यह पुत्र अतः मेरा पौत्र है ।

इसी प्रकार कुबेरदत्त को कहा-

(1) हम दोनों की माँ एक है, अतः तू मेरा भाई है ।

(2) मेरी माँ का पति है, अतः मेरा पिता है ।

(3) यह बालक मेरा काका और उसका तू पिता है, अतः तू मेरा दादा है ।

(4) हम दोनों का विवाह सम्बन्ध हुआ था, अतः तू मेरा पति है ।

(5) कुबेरसेना मेरी शोक्य है और उसका तू पुत्र है, अतः तू मेरा भी पुत्र है ।

(6) यह बच्चा मेरा देवर है और उसका तू पिता है अतः तू मेरा श्वसुर है ।

इसी प्रकार कुबेरसेना को कहा-

(1) मुझे जन्म दिया है, अतः तू मेरी माँ है ।

(2) कुबेरदत्त मेरा पिता, उसकी तू माँ होने से मेरी दादी है ।
(3) कुबेरदत्त मेरा भाई और उसकी तू पत्नी होने से मेरी भाभी है ।
(4) मेरी शोक्य के पुत्र कुबेरदत्त की पत्नी होने से तू मेरी पुत्रवधू है ।
(5) मेरे पति कुबेरदत्त की माता होने से तू मेरी सास है ।
(6) और मेरे पति कुबेरदत्त की अन्य स्त्री होने से तू मेरी शोक्य है ।

इस प्रकार के विचित्र किन्तु वास्तविक सम्बन्धों को सुनकर सबको पश्चात्ताप हुआ, संसार की असारता को समझ कर सभी ने दीक्षा अंगीकार की और अपना आत्मकल्याण किया !

जब एक ही भव में इस प्रकार के विभिन्न सम्बन्ध घट सकते हैं, तब इस अनन्त भव संसार में ये भिन्न-भिन्न सम्बन्ध घटित हो जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ज्ञानियों का वचन है कि इस अनन्त संसार में सभी जीवों के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध हमारी आत्मा ने किये हैं, अतः किसी सम्बन्ध विशेष पर राग करना, केवल मूर्खता ही है ।

जंबूकुमार के मुख से इस दृष्टांत को सुनकर प्रभव चोर ने कहा, ``हे कुमार ! तुम अपने आपको दुर्गति से बचाने के लिए पुत्र पैदा करो । **'जो पिता संतान रहित होते हैं, वे अवश्य नरक में जाते हैं',** ऐसा लौकिक शास्त्र में कहा गया है । अतः तुम्हें पुत्र प्राप्त नहीं हुआ, तो तुम पितृऋण से मुक्त कैसे हो सकोगे ?''

प्रभव की इस बात को सुनकर जंबूकुमार ने कहा, **``पुत्र पिता को तारता है, यह बात गलत है । इस संबंध में मैं तुझे महेश्वरदत्त का प्रसंग सुनाता हूँ ।''**

ताम्रलिप्ती नगरी में **समुद्रगुप्त** नाम का सार्थवाह था, उसकी पत्नी का नाम **बहुला** था । वे दोनों धन में अत्यंत लुब्ध थे । उनके महेश्वरदत्त नाम का पुत्र था । धन की तीव्र ममता के कारण समुद्रगुप्त मरकर उसी नगर में भैंसा (पाड़ा) बना और बहुला मरकर उसी नगरी में कुत्ती बनी ।

महेश्वरदत्त का विवाह गंगिला नाम की कन्या के साथ हुआ । धर्म के संस्कारों के अभाव के कारण वह गंगिला व्यभिचारिणी बन गई । उसका पति जब व्यवसाय के अन्य कार्यों में डूबा रहता, तब गंगिला पर-पुरुष के साथ भोग-सुख का आनंद लेती ।

एक बार अचानक महेश्वरदत्त अपने घर आया और उसने किसी पर-पुरुष को अपनी पत्नी के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा । यह दृश्य देखते ही

उसके मन में आग पैदा हो गई । उसने उस जार-पुरुष की जोरों से पिटाई की । भयंकर मार के कारण वह मृतप्रायः स्थिति में नीचे गिर पड़ा । अंतिम समय में उसे अपने पापों का पश्चात्ताप हो आया । वह मरकर उसी गंगिला की कुक्षि में पुत्र रूप में पैदा हुआ । समय आने पर गंगिला ने पुत्र को जन्म दिया । महेश्वरदत्त अपने पुत्र को खूब लाड़-प्यार करने लगा ।

एक दिन महेश्वरदत्त के पिता की वार्षिक तिथि आई, अतः उसने अपने पिता के जीव उस भैंसे को खरीदा और उसका वध किया । उसका मांस पकाकर वह खाने लगा । महेश्वरदत्त अपने पुत्र को गोद में लेकर बैठा था और उसे भी मांस खिला रहा था । उसी समय मांस में लुब्ध बनी वह कुत्ती वहाँ आ गई । महेश्वरदत्त ने मांस से युक्त हड्डी के टुकड़े उसके सामने फेंके । वह भी उन टुकड़ों को प्रेम से खाने लगी । उसी समय उस बालक ने पेशाब कर दिया । उसके छींटे महेश्वरदत्त के भोजन की थाली में गिरे । परन्तु पुत्र स्नेह के कारण महेश्वरदत्त को कुछ भी बुरा नहीं लगा ।

उसी समय मासक्षमण के तपस्वी महात्मा गोचरी बहोरने के लिए वहां पधारे । अपने ज्ञानबल से संसार की इस विचित्रता को देखकर महात्मा कुछ भी बहोरे बिना घर से बाहर निकल गए ।

महात्मा के ऐसे ही चले जाने पर महेश्वरदत्त को दुःख हुआ और वह उनके पीछे-पीछे गया । आगे जाकर वह बोला, ``मेरे घर से आपने कुछ भी आहार-पानी ग्रहण क्यों नहीं किया ?''

महात्मा बोले, ``हम मांसाहारी के घर से भिक्षा ग्रहण नहीं करते हैं तथा मैंने अपने ज्ञानबल से जो कुछ देखा, वह देख कर मुझे महावैराग्य उत्पन्न हुआ है ।''

महेश्वरदत्त ने आग्रह करके पूछा, ``प्रभो ! आपने क्या देखा ?''

महात्मा ने कहा, ``तेरे पिता मरकर भैंसे (पाड़ा) बने और तेरी माता मरकर कुत्ती बनी और तुम्हारी पत्नी का यार मरकर तुम्हारा पुत्र हुआ है । पिता के श्राद्ध के लिए तुमने पिता के जीव भैंसे का ही वध किया है और आज वही माता-कुत्ती अपने पति के मांस को खा रही है । पूर्व भव के तुम्हारे दुश्मन को तुम लाड़-प्यार कर रहे हो । यह दृश्य देखकर मुझे महावैराग्य उत्पन्न हुआ ।''

ज्ञानी गुरुदेव के मुख से पिता आदि के पूर्व भव सुनने के बाद उसकी सही प्रतीति के लिए उसने पूछा, ``क्या इसका कोई प्रमाण है ?''

गुरुदेव ने कहा, ``इस कुत्ती को अपने घर में प्रवेश करने दो, पूर्व भव के धन के लोभ के कारण वह जहाँ खोदे, वहीं पर गड़ा हुआ निधान समझ लेना।''

महेश्वरदत्त ने वैसा ही किया और उसे निधान मिला। संसार का यह सब नाटक देखकर उसका मन वैराग्य से भर आया और उसने भी संसार का त्याग कर दीक्षा अंगीकार कर ली।

जंबूकुमार के उपदेश को सुनकर प्रभव चोर का मन वैराग्य से भर आया।

उसने सोचा, **`अहो ! इस जंबूकुमार का वैराग्य भाव कितना प्रबल है ! जिस अर्थ और काम के पीछे पूरी दुनिया पागल हैं, वह अर्थ और काम जिनके चरणों में आलोट रहे है, फिर भी उनकी ओर लेश भी आकर्षण नहीं है। क्यों न मैं भी इस सत्य मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा का कल्याण करुं।' इस प्रकार मनोमन निर्णय कर प्रभव ने जंबूकुमार को कहा, 'मैं भी आपके मार्ग का अनुसरण करना चाहता हूँ।'**

जंबूकुमार ने कहा, `इस अच्छे कार्य में देरी किस बात की ? शीघ्र ही अपने माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर आ जाओ।'

दीक्षा के बाद अपने अन्तर्मन में किसी के प्रति वैर विरोध नहीं होना चाहिए, अतः अपने परिवारजनों से भी सच्ची क्षमापना कर लेना।

गत जन्म की आराधना-साधना के फल स्वरूप प्रभव को जंबूकुमार की बातें खूब अच्छी लगी।

उसने जंबूकुमार को प्रणाम कर अपने कुछ साथियों के साथ वो अपने नगर में आया।

भागवती दीक्षा

प्रभव का हृदय-परिवर्तन हो चूका था। आज तक धन-संपत्ति में ही वह अपना सर्वस्व मानता था, परंतु आज वह आकर्षण समाप्त हो चूका था।

नगरजनों ने जब प्रभव को राजमार्ग से राजमहल की ओर मंद गति से जाते हुए देखा तो सभी के आश्चर्य का पार नहीं रहा।

आज तक प्रभव के मन में अपने भाई के प्रति खूब तिरस्कार भाव था, परंतु अब वह दुर्भाव दूर हो चूका था ।

प्रभव राजमहल के द्वार पर पहुँचा । सैनिकों ने उसे रोक लिया और पूछा, `आप कौन है और कहां जाना चाहते हैं ?

प्रभव ने कहा, `मैं प्रभु राजा का बड़ा भाई प्रभव हूँ । मैं छोटे भाई व पिताजी से मिलना चाहता हूँ ।'

किसी सैनिक ने जाकर महाराजा प्रभु को समाचार दिए, `आपका बड़ा भाई आपसे व आपके पिताजी से मिलता चाहता है ।' उनके पांच साथी भी साथ में हैं परंतु किसी के पास किसी प्रकार का शस्त्र नहीं हैं ।

यह सब सुनते हुए प्रभु के आश्चर्य का पार नहीं रहा !

उसके दिमाग में कई विचार मंडराने लगे, `क्या राज्य हड़पने का कोई षड्यंत्र तो नहीं है ? आज तक कभी कोई समाचार संदेश नहीं अचानक आने का क्या प्रयोजन होगा ?'

संदेहशील बना प्रभु राजा हाथ में नंगी तलवार लेकर द्वार पर आ खड़ा हुआ ।

प्रभव के हाथ में कोई हथियार नहीं था । उसकी आंखों में क्रोध की कोई ज्वाला नहीं थी । उसकी आंखों में खूब सौम्यता थी ।

प्रभव ने अपने छोटे भाई को हाथ जोड़कर नमस्कार किया ।

प्रभु की आंखें भी डबडबा गई । प्रभु के हाथ में रही तलवार नीचे गिर पड़ी । प्रभु ने भी प्रभव को प्रणाम किया ।

प्रभव ने कहा, `जल्दी करो, मुझे पिताजी से मिलना है ।'

`क्यों ?'

`मुझे अपनी भूलों की क्षमा याचना करनी हैं ।'

यह कौन बोल रहा है ?' प्रभु ने पूछा ।

`यह प्रभव बोल रहा है ।'

`क्या एक राजकुमार डाकू बन सकता है तो क्या एक डाकू संत नहीं बन सकता हैं ?'

`आज तक मैं मार्ग भूला था । आज मुझे सत्य पथ का मार्ग मिल गया

है । मैं मोह–माया के बंधनों को छोड़कर वीतराग प्रभु के बताए त्याग-मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ ।

`भाई ! तुम यह कैसी बातें कर रहे हो ? तुम साधु बनने जा रहे हो ?

`नहीं, नहीं, यह मुझे मंजुर नहीं है । यह राज्य तुम्हारें चरणों में धरता हूँ ।'

`भाई ! अब इस राज्य से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है । मैं पिताजी के आशीर्वाद लेने के लिए आया हूँ ।

`मुझे पिताजी के पास ले चलों ।' प्रभव और प्रभु दोनों भाई पिताजी के कमरे में चले गए ।

लगभग 105 वर्ष की उम्र के विंध्यराज अपने बिस्तर पर लेटे हुए थे । उनकी सभी इन्द्रियाँ लगभग क्षीण हो चूकी थी । आंखों में नहींवत् रोशनी थी ।

प्रभव ने जैसे ही पिताजी के खंड में प्रवेश किया, उसने पिताजी के पांव पकड़ लिये । चरणों में नमस्कार कर बोला, `पिताजी ! मैं आपका बड़ा अपराधी हूँ !' आप मुझे माफ कीजिए !'

कानों की कमजोरी के कारण विंध्य राजा को कुछ सुनाई नहीं दे रहा था फिर भी प्रभु ने नजदीक जाकर उनके कानों में कहा, `पिताजी ! जरा ध्यान से देखो, कौन हैं ?'

विंध्यराजा ने अपने दोनों हाथ प्रभव के सिर पर रख दिए फिर अपना हाथ घुमाते हुए बोले, `कौन ?'

प्रभव ने कहा, `मैं आपका बेटा प्रभव !'

`कौन ? प्रभव !'

`हाँ ! पिताजी !'

विंध्यराज ने अपने दोनों हाथ घुमाते हुए कहा, `बेटा ! तू आ गया ?'

हाँ ! पिताजी ! आपके आशीर्वाद लेने आया हूँ, मैं शीघ्र ही प्रभु महावीर के मार्ग पर चलना चाहता हूँ । आज तक मैंने आपके दिल को खूब दुःखाया है, आप मुझे क्षमा करें ।'

प्रभव की आंखें सजल हो गई । उसका गला भर आया ।

`वत्स ! मैं भी सरल हृदय से तुझे क्षमा देता हूँ और तुम से क्षमा मांगता हूँ ।' राग-द्वेष के वशीभूत होकर मैंने भी जो भूलें की हो उसे तुम माफ कर देना ।

`पिताजी ! आपका कोई अपराध नहीं है । प्रभु को राज्य देकर आपने योग्य निर्णय लिया है । ईर्ष्या व अहंकार के कारण मैंने जो भी गलत व्यवहार किया है, उसके लिए मैं क्षमा मांगता हूँ ।'

`वत्स ! मेरी इच्छा है कि तुम दोनों भाई खूब प्रेम से रहो !'

'पिताजी ! अब मैं सिर्फ भाई के साथ ही नहीं समस्त प्राणी सृष्टि के साथ स्नेह से रहना चाहता हूँ, इसके लिए आप मुझे अनुज्ञा व आशीर्वाद प्रदान करें ।'

पिताजी ! अब मैं जंबूकुमार के साथ सुधर्मास्वामी के चरणों में अपना जीवन समर्पित करना चाहता हूँ ।

कौन जंबूकुमार ?

`पिताजी ! राजगृही के नगरशेठ-ऋषभदत्त का वह इकलौता बेटा है और अपनी नवोढा आठ कन्याओं के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार कर रहा है । उसके संपर्क से मेरा भी मन संसार से ऊब चूका है, मैं भी उसी के पथ का पथिक बनना चाहता हूँ ।'

इतना कहकर प्रभव ने गत रात्रि में बनी सब घटना अपने परिवारजनों को सुना दी ।

यह सब सुनकर प्रभु ने भी हाथ जोड़कर कहा, `भाई ! तू दीक्षा न ले । यह मेरा राज्य तुम्हारे चरणों में है ।'

`प्रभु ! महावीर प्रभु के त्यागमय सत्यमार्ग को समझने के बाद इस राज्य व दुन्यवी सुखों से मेरा रस उड़ गया है । मुझे तो शाश्वत सुख की प्यास है और उसकी प्राप्ति संयम धर्म के स्वीकार बिना शक्य नहीं है ।

जीवन में किए भयंकर पापों का प्रायश्चित्त संयम धर्म के बिना शक्य नहीं है, अतः दीक्षा हेतु मेरा तीव्र संकल्प है ।'

प्रभव की इस वैराग्य भावना को देख सभी के आश्चर्य का पार न रहा ।

अनिच्छा से भी समस्त परिवारजनों ने प्रभव को दीक्षा के लिए अपनी सहर्ष सम्मति दी और मंगल कामना की कि तुम्हारा यह संयम मार्ग निष्कंटक बने ।

अपने परिवारजनों की आशिष प्राप्त कर प्रभव अपनी पल्ली में आया और उसने अपने 500 साथियों से बात की ।

प्रभव के इस संकल्प को जान उसके साथी भी बोल उठे, **'जो आपकी राह होगी, वह हमारी राह होगी। आप त्याग के पथ पर चलोगे तो हमें भी वही मार्ग मंजूर है।'**

राजगृही नगरी में गुणशील चैत्य में सुधर्मास्वामी के वरद हस्तों से आर्य जंबूकुमार ने अपने माता-पिता, अपनी आठ पत्नियाँ तथा उन आठ पत्नियों के माता-पिता अर्थात् कुल 27 के साथ तथा प्रभव भी अपने 499 साथियों के साथ गुणशील चैत्य में उपस्थित हो गया। उसने भी सुधर्मास्वामी के वरद हस्तों से भागवती-दीक्षा अंगीकार की प्रभव ने जंबूस्वामी का शिष्यत्व स्वीकार किया।

रत्नत्रयी की साधना में मस्त बने प्रभवस्वामी समग्र द्वादशांगी के ज्ञाता बने।

प्रभवस्वामी ने 30 वर्ष की उम्र में दीक्षा अंगीकार की। 64 वर्ष का श्रमण पर्याय और 11 वर्ष का युगप्रधान पर्याय पूर्ण कर वीर संवत् 75 में 105 वर्ष की उम्र में काल धर्म हुए।

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 236 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	36.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	37.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	38.	जीव विचार विवेचन	100/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	39.	गणधर-संवाद	80/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	40.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
6.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	41.	नवपद आराधना	80/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	42.	पहला कर्मग्रंथ	100/-
8.	विविध-तपमाला	100/-	43.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
9.	विवेकी बनो	90/-	44.	संस्मरण	50/-
10.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-	44.	भव आलोचना	10/-
11.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-	46.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
12.	प्रवचन-वर्षा	60/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
13.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-	48.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
14.	आओ श्रावक बनें !	25/-	49.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
15.	व्यसन-मुक्ति	100/-	50.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
16.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	51.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	52.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
18.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	53.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
19.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
20.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	55.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
21.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	56.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
22.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	57.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
23.	समाधि मृत्यु	80/-	58.	वैराग्य-वाणी	140/-
24.	The Way of Metaphysical Life	60/-	59.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
25.	Pearls of Preaching	60/-	60.	लघु संग्रहणी	140/-
26.	New Message for a New Day	600/-	61.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
27.	Celibacy	70/-	62.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
28.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	63.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
29.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-	64.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
30.	अमृत रस का प्याला	300/-	65.	जीवन झांकी	अमूल्य
31.	ध्यान साधना	40/-	66.	मन के जीते जीत है	80/-
32.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	67.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-
33.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	68.	नमस्कार मीमांसा	150/-
34.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	69.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
35.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	70.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299